भारतीय संस्कृति

(महाकाव्यों के आलोक में)



डा० देवराज

भारतीय संस्कृति

डॉ० देवराज

भारतीय संस्कृति

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला--४२

भारतीय संस्कृति

(महाकाव्यों के आलोक में)

लेखक

डा० देवराज

एम० ए०, डी० फिल०, डी० लिट्०

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण, १९६०
द्वितीय संस्करण, १९६१

मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

यह पुस्तक हिन्दी समिति ग्रन्थमाला का ४२वाँ पुष्प है। इसके रचयिता डा० देवराज हैं जो लखनऊ विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक हैं। इसे लिखते समय आपका मुख्य लक्ष्य रहा है "भारतीय संस्कृति के मूल्यों की जीवन्त अवगति या चेतना उत्पन्न करना।" इसकी आवश्यकता इसलिए है कि इस समय हम विदेशों से आर्थिक सहायता ही नहीं ले रहे हैं, वरन् जनतन्त्र एवं समाजवाद की विचारधाराएँ और अधिकांश ज्ञान-विज्ञान भी ग्रहण कर रहे हैं। यह स्थिति हमारी प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं। हम केवल अनुकरण के बल पर आगे नहीं बढ़ सकते। आवश्यकता है अपने विस्मृत को फिर से सामने लाने की, राष्ट्रीय चेतना को प्रबुद्ध करने की तथा राष्ट्रीय चरित्र एवं व्यक्तित्व को उच्च एवं उज्ज्वल बनाने की। तदनुसार इसमें यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि भारतीय संस्कृति की दृष्टि से वे कौन-कौन-से जीवन-मूल्य थे जो व्यक्ति की या जाति की महत्ता बढ़ाने में सहायक थे।

किसी जाति की संस्कृति को केवल उसके दर्शन तथा धर्मग्रन्थों में ही खोजना पर्याप्त नहीं है। काव्यसाहित्य के आधार पर उसका विवेचन और अच्छे ढंग से किया जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी का प्रयत्न किया गया है। यदि कहीं-कहीं साहित्यिक व्याख्या ही प्रधान-विषय-सी प्रतीत होने लगती हो तथा सांस्कृतिक विवेचन गौण सा जान पड़े तो इसका समाधान लेखक के इस कथन से होता है कि "किसी साहित्यिक कृति की सांस्कृतिक समीक्षा, उसके साहित्यिक मूल्यांकन का ही एक अंग है।"

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण १९६० में प्रकाशित हुआ था। अब उसका पुनर्मुद्रण किया जा रहा है। इतनी अल्प अवधि में प्रथम संस्करण की समाप्ति से भी पुस्तक की उपयोगिता प्रकट होती है। आशा है, इस संस्करण का भी प्रथम संस्करण की ही भाँति समुचित स्वागत होगा और पुस्तक भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशिष्टताओं का परिज्ञान कराने में सहायक सिद्ध होगी।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

सचिव, हिन्दी समिति

समर्पण

तेजस्वी लेखक एवं विचारक

डा० सम्पूर्णानन्द को

जिन्हें विद्या और विद्यावानों के प्रति सहज आसक्ति है

विषय-क्रम

द्वितीय खण्ड

भारतीय संस्कृति––उत्कर्ष काल

तृतीय खण्ड

भारतीय संस्कृति का मध्य युग

प्रस्तावना

इस पुस्तक में भारतीय संस्कृति को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया गया है। यह दृष्टिकोण जीवन-मूल्यों के अन्वेषण व उद्घाटन का दृष्टिकोण है। लेखक के मन में जो प्रश्न रहा है, और जो इस पुस्तक की मूल प्रेरणा है, वह यह है—हमारा नव-स्वतंत्र राष्ट्र अथवा उसके निवासी किन मूल्यों को लेकर आगे बढ़ सकते हैं? यहाँ आगे बढ़ने से तात्पर्य है—विश्व के राष्ट्रों के बीच अपने ऐतिहासिक गौरव के अनुरूप ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित होना। इस समय हमारा देश सभ्य विदेशी राष्ट्रों से तरह-तरह के ऋण ले रहा है; उद्योगीकरण के लिए जरूरी मशीनें आदि सामान और पंचवर्षीय योजनाओं के लिए डालर, पौंड व रूबल का ऋण ही नहीं, जनतन्त्र की शासन-प्रणाली और समाजवाद आदि की विचारधाराएँ ही नहीं, अपितु भारतीय विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों को वितरित किया जानेवाला अधिकांश ज्ञान-विज्ञान भी आज बाहर से लिया जा रहा है। यह आदान बुरी बात नहीं है; विश्व-समाज की व्यवस्था राष्ट्रों के आदान-प्रदान पर ही आधारित है। खेद की बात यही है कि आज हम इस स्थिति में नहीं हैं कि सांस्कृतिक भेंट के रूप में दूसरे देशों को कुछ दे भी सकें। स्पष्ट ही यह स्थिति वांछनीय नहीं है; वह हमारे सांस्कृतिक पिछड़ेपन का अप्रिय प्रमाण है।

यह काफी नहीं है कि हम यान्त्रिक आविष्कारों तथा ज्ञान-विज्ञान के अन्वेषणों को लगातार बाहर से अनुकरण द्वारा लेते रहें। यह प्रक्रिया किसी आत्मगौरव-संपन्न राष्ट्र को शोभा नहीं देती; वह पिछड़ेपन का उचित इलाज भी नहीं है। वैसा इलाज एक ही है, अर्थात् राष्ट्र की चेतना को प्रबुद्ध और उसके चरित्र व व्यक्तित्व को परिपक्व एवं प्रभविष्णु बनाना। प्रश्न उठता है; किन गुणों के आकलन से कोई राष्ट्र या जाति वैसे व्यक्तित्व से

संपन्न होती है? इस प्रश्न का भारतीय इतिहास द्वारा प्रमाणित उत्तर खोजना इस पुस्तक का मूल्य उद्देश्य है। यह मानते हुए कि प्राचीन भारतीय एक सप्राण, प्रभावशाली एवं महत्त्वपूर्ण जाति थे, जिन्होंने सभ्यता व संस्कृति के क्षेत्रों में अर्थपूर्ण उपलब्धियाँ कीं, हमने यह खोजने का प्रयत्न किया है कि उनकी दृष्टि में वे कौन से जीवन-मूल्य थे जो व्यक्तिगत एवं जातीय महत्ता का उपादान समझे जाते थे।

इस पुस्तक में उत्कर्षकालीन भारतीय संस्कृति के जीवन-मूल्यों को समग्रता में समझने का प्रयत्न हुआ है। इस प्रयत्न की सफलता के लिए अध्ययन का आधार भारतीय वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण महाकाव्यों को बनाया गया है। प्रस्तुत लेखक दर्शन का विद्यार्थी है और भारतीय दर्शन का अध्यापन भी करता रहा है, उसके लिए अपेक्षाकृत यह सहल था कि वह भारतीय संस्कृति की व्याख्या यहाँ के दर्शनों के आधार पर करे। इसके विपरीत पाठक पायेंगे कि इस पुस्तक में दर्शनों की चर्चा बहुत ही कम हुई है। इसका कारण लेखक का यह न समझना नहीं है कि किसी जाति का दर्शन उसके जीवन-दर्शन व संस्कृति का आधार होता है। यहाँ दर्शनों पर कम ध्यान दिये जाने के दो कारण हैं; एक यह कि आधुनिक भारत के अनेक लेखकों ने यहाँ के दर्शनों के आलोक में हमारी संस्कृति को समझने-समझाने का प्रयत्न किया है, जिसके फलस्वरूप दर्शनों की, विशेषतः वेदान्त की, बहुत-सी मान्यताएँ खूब प्रचलित हो गयी हैं। इस दिशा में स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन आदि ने उल्लेखनीय कार्य किया है। प्रस्तुत लेखक ने सोचा कि दर्शनों का लम्बा-चौड़ा उल्लेख एक तरह का पिष्टपेषण ही होगा। दूसरे, प्रस्तुत लेखक के मत में, इन व्याख्याताओं ने भारतीय संस्कृति के एक पक्ष का ज्यादा गौरव दिखाया है, अर्थात् उस पक्ष का, जिसका संबंध मोक्ष-साधन से है। उन्होंने हमारी संस्कृति के उन पक्षों की न्यूनाधिक उपेक्षा की है, जिनका संबंध लौकिक जीवन के सौन्दर्य एवं संरक्षण से है। अनेक विदेशी विद्वानों ने भी यह दिखाने का विशेष प्रयत्न किया है कि भारतीय संस्कृति मूलतः निवृत्तिमूलक तथा

परलोकपरायण है। इस प्रकार के परीक्षक व व्याख्याता यह भूल जाते हैं कि भारतीय राष्ट्र तथा संस्कृति का ऐतिहासिक महत्त्व भी रहा है और उसने विश्व की संस्कृति तथा सभ्यता की अग्रगति में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस वेदान्त दर्शन के आलोक में भारतीय संस्कृति की निवृत्तिमूलक व्याख्या की जाती है उसका प्रतिपादन और विकास भारतीय एवं हिन्दू संस्कृति के उत्कर्षकाल के बाद में हुआ।

इस पुस्तक के प्रारम्भ में, आलोच्य विषय की समग्र दृष्टि के लिए, वेदों, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों की थोड़ी-सी चर्चा आयी है। इसके बाद रामायण-महाभारत में निहित सांस्कृतिक चेतना को लक्षित करने का प्रयत्न किया गया है। इसके पश्चात कालिदास, भारवि और माघ, श्रीहर्ष तथा तुलसीदास के काव्यों में निबद्ध मूल्य-दृष्टियों का उद्घाटन हुआ है। पुस्तक के कलेवर में महाकवि अश्वघोष के 'बुद्ध-चरित' का विशेष उपयोग नहीं हो सका है, यद्यपि उसकी चर्चा जगह-जगह आयी है। वस्तुतः लेखक उस काव्य को इस पुस्तक की योजना में ठीक से बैठा नहीं सका। यों अश्वघोष की कृति, वाल्मीकि की 'रामायण' तथा कालिदास के 'रघुवंश' के बीच एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है; संस्कृत काव्य-शैली के विकास में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस स्थान को दर्शित करने के लिए ही परिशिष्ट में उसकी कथावस्तु का भी निर्देश कर दिया गया है।

संस्कृत ग्रन्थों के उद्धरणों का समावेश करने में यहाँ विशेष नीति बरती गयी है। इस पुस्तक का उद्देश्य पाठकों तक सिर्फ सूचनाएँ पहुँचाना नहीं है; उन्हें कुछ व्याख्या-सूत्रों से परिचित करा देना भर भी उद्दिष्ट नहीं रहा है। इस पुस्तक के लिखने में लेखक का लक्ष्य रहा है 'पाठकों में भारतीय संस्कृति के मूल्यों की जीवन्त अवगति या चेतना उत्पन्न करना।' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो तरह के उद्धरणों का समावेश ज़रूरी समझा गया है—वे जो वक्तव्य की प्रामाणिकता तथा प्रभावशीलता को बढ़ाते हैं, और वे जो अपने में सुन्दर अथवा संग्राह्य हैं। प्रामाणिकता के लिए प्रायः

सर्वत्र मूल वक्तव्यों के अनुवाद ही दिये गये हैं—यह जानते–महसूस करते हुए भी कि सही अनुवाद करना श्रमसाध्य है। फिर भी लोग जो थोड़ी-बहुत संस्कृत जानते हैं, मूल उद्धरणों को देखकर प्रामाणिकता के प्रभाव को ज्यादा गहरे रूप में महसूस कर सकेंगे।

एक बात और है, इस पुस्तक में भारतीय संस्कृति की जो व्याख्या दी गयी है वह बहुत दूर तक प्रचलित व्याख्याओं से भिन्न और नयी है; विशेषतः उस व्याख्या में निहित गौरव लेखक का अपना है। रूढ़िवादी पंडितों तथा पाठकों को वह जहाँ-तहाँ आपत्तिपूर्ण या खलनेवाला जान पड़ सकता है। किसी भी पाठक के लिए यह संभव नहीं होता कि पुस्तक पढ़ते समय वह मूल ग्रन्थों को पलटे और उद्धृत स्थलों की ठीक से जाँच करे। ऐसी स्थिति में यदि उद्धरण सामने हो तो लेखक के अभिप्राय को समझने व ग्रहण करने में आसानी होती है। आज देश में संस्कृत का प्रचार कम ही है, और ऐसे संस्कृत प्रेमी और भी कम हैं जिनके घरों में संस्कृत के सौ-पचास ग्रन्थ रहते हों। अतः लेखक का अनुमान है कि इस पुस्तक में सन्नि-विष्ट उद्धरण संस्कृतज्ञों के लिए भी उपादेय सिद्ध होंगे। वे रूढ़िवादी पंडितों के लिए शिक्षाप्रद भी साबित होंगे, ऐसा विश्वास है। यों बहुत-से लम्बे वक्तव्यों के संकेत-मात्र फुटनोटों में दे दिये गये हैं।

महाभारत एक बहुत ही विशाल ग्रन्थ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन ही समय-साध्य है, उसका समुचित उपयोग तो और भी कठिन है। इस पुस्तक में प्रारंभ से उद्योगपर्व तक और फिर शान्तिपर्व के विश्लेषण में मूल ग्रन्थ का उपयोग किया गया है; लेखक ने पाया कि उसके विशिष्ट उद्देश्य के लिए ये अंश विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। शेष भाग के लिए श्री चिन्तामणि विनायक द्वारा संपादित 'संक्षिप्त महाभारत' (प्रकाशक, रामचन्द्र गोविन्द एण्ड सन, बम्बई १९१२) का उपयोग किया गया है। हमारी दृष्टि में यह संक्षिप्त संस्करण महाभारत की विषय-वस्तु से परिचित होने के लिए बड़ा उपयोगी है। मूल ग्रन्थ के लिए हमने गीता प्रेस से प्रकाशित महाभारत का उपयोग किया है। वाल्मीकि की रामायण के निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

से प्रकाशित राम-कृत तिलक टीका सहित संस्करण का उपयोग किया गया है।

प्रस्तुत लेखक का साहित्य और साहित्य-समीक्षा से निकट का सम्बन्ध रहा है, अतः इस पुस्तक में पाठकों को जहाँ-तहाँ एक साहित्य के प्रेमी तथा अध्येता का हाथ दिखाई दे तो आश्चर्य नहीं। यह पुस्तक लिखते हुए लेखक को प्रतीत हुआ कि महाकाव्यों की सांस्कृतिक परीक्षा को उनकी साहित्यिक परीक्षा से अलग नहीं किया जा सकता। सच पूछिए तो किसी साहित्यिक कृति की सांस्कृतिक समीक्षा उसके साहित्यिक मूल्यांकन का ही एक अंग है। यह भी कहा जा सकता है कि किसी साहित्यिक कृति की उच्चतम धरातल पर की हुई समीक्षा उस सांस्कृतिक समीक्षा का रूप धारण कर लेती है, जिसके दो महत्त्वपूर्ण रूप कृति-विशेष के सौन्दर्य-बोध तथा नीति-बोध की परीक्षा हैं।

ऐतिहासिक परिप्रेक्षित में देखने पर कृति-विशेष के ये दो तत्त्व ही विशेष महत्त्वपूर्ण दिखाई देते हैं। साहित्यिक कृति का तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है कलात्मक सौष्ठव; इतिहास की पृष्ठभूमि में यह तत्त्व भी सौन्दर्य-बोध के अंग के रूप में दिखाई देता है। अवश्य ही समसामयिक पाठकों तथा लेखकों के लिए कृति-विशेष के शिल्प तथा शैली का दूसरा अर्थ व महत्त्व भी रहता है। आलोचना शास्त्र का काम है कि वह इन तत्त्वों में उन्हें छाँटकर अलग कर ले जो स्थायी महत्त्व रखते हैं। इस दृष्टि से संस्कृत काव्य-शैली के कुछ तत्त्व, जैसे श्लेष तथा तरह-तरह की चित्र-विचित्र अक्षर व चरण-योजनाएँ, बाद के इतिहास द्वारा महत्त्व-शून्य घोषित हो गयी हैं। इसी तरह मनु आदि की स्मृतियों के असंख्य विधि-निषेध आज बहुत दूर तक व्यर्थ दिखाई देते हैं। तात्पर्य यह कि प्राचीन भारतीयों के सौन्दर्य-बोध तथा नीति बोध में ऐसे भी अनेक तत्त्व हैं जो आज महत्त्वपूर्ण नहीं रह गये हैं। प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे तत्त्वों का लम्बा-चौड़ा उल्लेख करने का प्रयत्न नहीं मिलेगा। यहाँ हमने भारतीय मूल्य-दृष्टि के उन अंगों पर ही प्रकाश डालने की कोशिश की है जो

आज हमारी राष्ट्रीय चेतना तथा जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं।

प्रस्तुत लेखक को समय-समय पर डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, भूतपूर्व वाइस चान्सलर, सागर विश्वविद्यालय से प्रोत्साहन और उपयोगी सुझाव मिलते रहे, इसके लिए वह उनका आभारी है।

—देवराज

लखनऊ

भूमिका

'संस्कृति' एवं 'भारतीय संस्कृति' ये दोनों ही व्यंजनाएँ सुनिश्चित अर्थों की वाहक नहीं हैं। यहाँ हम इन प्रत्ययों के विभिन्न प्रचलित अर्थों का परिचय देने और उनके आपेक्षिक महत्त्व को विमर्श द्वारा आँकने का प्रयत्न नहीं करेंगे। वैसे प्रयत्न के लिए हमारे पास स्थान नहीं है, और शायद वह प्रासंगिक भी नहीं होगा। जिसे 'संस्कृत में 'लोक' कहते हैं उसकी चेतना में उक्त प्रत्ययों के उल्लेख से जो प्रतिध्वनियाँ उठती हैं, वे वैज्ञानिक दृष्टि से सुनिर्दिष्ट न होते हुए भी, उपेक्षणीय नहीं हैं। हमारी इस पुस्तक के उद्देश्य के लिए वे काफ़ी दूर तक उपादेय हैं। यों संस्कृति शब्द का विशद एवं वैज्ञानिक विवेचन हम अन्यत्र कर चुके हैं। यहाँ हम अपनी संस्कृति-सम्बन्धी धारणा को बहुत ही सरल एवं सुबोध रूप में पाठकों के सामने रखकर आगे बढ़ने का प्रयत्न करेंगे।

भारतीय संस्कृति का अर्थ

'संस्कृति' से पहले हम 'भारतीय संस्कृति' व्यंजना का स्पष्टीकरण आवश्यक समझते हैं। हमारे देश के विभिन्न भागों और विभिन्न ऐतिहासिक युगों में अनेक धर्मों तथा संस्कृतियों ने जन्म एवं प्रसार पाया। यहाँ अनेक धर्म-प्रवर्त्तक उत्पन्न हुए और इस देश में धर्म और संस्कृति का गहरा सम्बन्ध रहा। फलतः धर्म-शिक्षकों ने भारतीय संस्कृति अथवा उसके विभिन्न रूपों को विशेष प्रभावित किया। इस देश में कम से कम दो महत्त्वपूर्ण धर्म पैदा हुए और फैले, अर्थात् वेदों-उपनिषदों पर आधारित हिन्दू धर्म तथा वेद-विरोधी अथवा अवैदिक बौद्ध धर्म। बाद में ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म भी यहाँ की भूमि में प्रविष्ट हुए। यहाँ बहुत-सी विदेशी जातियाँ भी आयीं—यूनानी लोग कुशान, शक और हूण, पठान और मुग़ल, पुर्तगाली, फ्रांसीसी, अंग्रेज़ इत्यादि। यहाँ हम उन जातियों का उल्लेख कर रहे हैं जिन्होंने यहाँ

बसने का प्रयत्न किया। इनमें से कुछ जातियाँ हमारे देश में सचमुच ही बस गयीं और हमारी जनता का अंग बन गयीं। कुछ ने, जो यहाँ खुद नहीं बसीं, हमारी आबादी के गठन पर दूसरे चिह्न छोड़ दिये; जैसे अंग्रेज़ों ने यहाँ एक लम्बी संख्या ईसाइयों की उत्पन्न की और ऐंग्लो-इण्डियन जाति को जन्म दिया।

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत उक्त सभी जातियों तथा उनके विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित सांस्कृतिक धाराओं का समावेश हो सकता है। स्पष्ट ही एक साधारण कलेवर की पुस्तक में इतनी सांस्कृतिक धाराओं तथा उपधाराओं के प्रति न्याय नहीं किया जा सकता। इसलिए हम यहाँ इस घोषणा के साथ आगे बढ़ना चाहते हैं कि इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः हिन्दू संस्कृति है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दू संस्कृति इस देश की सबसे अधिक व्यापक एवं समृद्ध संस्कृति है, वह सबसे बड़ी और चौड़ी सांस्कृतिक धारा है जिसे अनेक उपधाराओं ने पुष्ट एवं सम्पन्न किया है। यद्यपि बौद्ध धर्म भारतवर्ष के बाहर भी फैला, और इस प्रकार कुछ दृष्टियों से हिन्दू धर्म से ज्यादा महत्त्वपूर्ण बन गया, फिर भी यह दावा ग़लत नहीं कि उसकी प्रधान विशेषताओं को हिन्दू धर्म ने आत्मसात् कर लिया। बौद्धों के अहिंसावाद को जिस हद तक वैष्णवों ने अपनाया, उस हद तक उस धर्म के विदेशी अनुयायियों ने नहीं। तिब्बत, चीन आदि देशों के बौद्ध निरामिष-भोजी नहीं हैं; वस्तुतः मांसाहार से परहेज़ भारतीय बौद्धों तथा कतिपय हिन्दू सम्प्रदायों की निजी विशेषता है। बौद्धों ने जो कर्मकाण्ड तथा हिंसात्मक यज्ञों का विरोध किया, वह भी हमारे देश के इतिहास में बहुत नयी चीज़ नहीं थी। कर्मकाण्ड का विरोध उपनिषदों में ही शुरू हो गया था। बौद्धों के निर्वाण और हिन्दुओं की मुक्ति में विशेष अन्तर नहीं है। वस्तुतः इस देश के सभी प्रमुख धर्मों में मुक्ति तथा उसके उपायों के बहुत-कुछ समान वर्णन मिलते हैं। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म हिन्दू धर्म से वैसे ही भिन्नता नहीं रखते जैसे बाद के अनेक सम्प्रदाय। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हमारे देश में मुक्ति-साधना के लिए इस लोक तथा परलोक के भोगै-

श्वर्य के प्रति अनासक्ति को नितान्त आवश्यक समझा गया। विभिन्न धर्म-प्रवर्त्तकों की शिक्षाओं का यह सामान्य अंश है।

देखने की बात यह है कि जहाँ कालान्तर में बौद्ध धर्म इस देश से लुप्त-सा हो गया, वहाँ इस्लाम के आने से पहले, दूसरा कोई धर्म हिन्दू धर्म के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्रतिष्ठा न पा सका। सच यह है कि इस देश की धरती पर किसी दूसरे धर्म ने जीवन के सम्बन्ध में उतना पूर्ण एवं व्यवस्थित चिन्तन नहीं किया, जैसा कि हिन्दू धर्म ने; किसी दूसरे धर्म में जीवन की, हिन्दू धर्म से होड़ लेने लायक व्यापक व्यवस्था एवं अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकी। बौद्ध तथा जैन धर्मों ने जहाँ निर्वाण या मुक्ति और उसकी साधना के सम्बन्ध में नया चिन्तन किया, वहाँ सामाजिक गृहस्थ जनों के लिए किसी नयी क्रान्तिकारी व्यवस्था का निर्माण नहीं किया। अपनी-अपनी धरती से दूर होकर इस्लाम तथा ईसाई धर्मों ने भी यहाँ संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में व्यापक सर्जनात्मक कार्य नहीं किया। इस्लाम ने जहाँ हमारी कला और कुछ हद तक साहित्य को प्रभावित किया, वहाँ दर्शन के क्षेत्र में विशेष उपलब्धियाँ नहीं कीं। अवश्य ही मुसलमान शासकों ने हमारी राजनीतिक तथा शासन-सम्बन्धी संस्थाओं पर अपना प्रभाव डाला। किन्तु इसमें सन्देह किया जा सकता है कि इस्लाम ने हमारी मोक्ष-साधना एवं गृहस्थ-जीवन-सम्बन्धी आदर्शों को बहुत ज्यादा प्रभावित किया। इन दृष्टियों से यहाँ के ईसाइयों का प्रभाव और भी कम रहा है। यूरोप से जो कुछ प्रभाव आया है और आ रहा है, वह हिन्दू चेतना एवं संस्कृति का अंग बनकर ही हमें प्रभावित करता रहा है।

हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि भारतीय संस्कृति को समग्रता में हिन्दू संस्कृति से समीकृत किया जा सकता है; हमारा आग्रह सिर्फ यह है कि हिन्दू संस्कृति इस देश की सबसे प्रधान और व्यापक संस्कृति है। संस्कृति शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए आगे यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। इस पुस्तक में हम सिर्फ हिन्दू संस्कृति के ही विकासमान या परिवर्तमान रूप का अध्ययन करेंगें।

संस्कृति का अर्थ, जातीय संस्कृति

जैसा कि हमने शुरू में कहा था, संस्कृति शब्द का अर्थ बड़ा अनिश्चित है। नृ-विज्ञान में संस्कृति का अर्थ "समस्त सीखा हुआ व्यवहार" होता है, अर्थात् वे सब बातें जो हम समाज के सदस्य होने के नाते सीखते हैं। इस अर्थ में संस्कृति शब्द परम्परा का पर्याय है। स्पष्ट ही सब प्रकार की भारतीय परम्पराओं का पूरा विवरण देना किसी लेखक के लिए साध्य नहीं है, और न ऐसा विवरण एक ही ग्रन्थ में दिया जा सकता है। भारतीय वाङमय स्वयं में इतना विस्तृत है कि उसके विवरण से अनेक पोथे भरे जा सकते हैं। ऋग्वेद आदि संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि वैदिक साहित्य ही बहुत विस्तृत है। उसके बाद तरह-तरह के सूत्र-ग्रन्थ हैं, रामायण और महाभारत हैं, विविध काव्य, नाटक, पुराण और दर्शन-ग्रन्थ हैं। इनके वर्णनों से हजार-दो-हजार पृष्ठ रँगकर कोई भी लेखक पाठकों पर अपनी जानकारी एवं विद्वत्ता का सिक्का जमा सकता है। किन्तु इस प्रकार के निरुद्देश्य विवरणों से सामान्य पाठकों का तथा जातीय चेतना का विशेष हित नहीं होता।

श्री मैक्समूलर ने ठीक ही लिखा है —

Knowledge which has no object beyond itself is, in most cases, but a pretext for vanity. It is so easy, even for the most superficial scholar, to bring together a vast mass of information, bearing morc or less remotely on questions of no importance whatsover.[१]

अर्थात् वह ज्ञान जिसका अपने से परे कोई प्रयोजन नहीं है, अधिकांश व्यर्थ के अभिमान के लिए बहाना मात्र होता है। एक साधारण पण्डित के

१. मैक्समूलर, ए हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट संस्कृत लिट्रेचर, पाणिनि आफिस, भुवनेश्वरी आफिस, प्रयाग (१९१२), पृ० ४।

लिए भी यह बहुत आसान है कि वह बहुत-सी ऐसी सूचना-राशि, जिसका महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से दूर का सम्बन्ध भी नहीं है, इकट्ठी करके रख दे।

संस्कृति के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण हम पाठकों को बहुत संक्षेप में समझाने का प्रयत्न करेंगे। चूँकि 'संस्कृति' शब्द और उससे मिलनेवाला विशेषण 'संस्कृत' प्रशंसावाचक पद हैं, इसलिए कहना चाहिए कि संस्कृति मानवीय व्यक्तित्व की वह विशेषता या विशेषताओं का समूह है जो इस व्यक्तित्व को एक खास अर्थ में महत्त्वपूर्ण बनाता है। यहाँ 'खास अर्थ' में व्यंजना आवश्यक है। किसी पुरुष या स्त्री का कुछ महत्त्व उन गुणों के कारण भी हो सकता है जो मुख्यतः प्रकृति की देन हैं, जैसे स्वास्थ्य और शारीरिक सौन्दर्य। किन्तु ये गुण विशिष्ट रूप में सांस्कृतिक गुण नहीं हैं; सुन्दर एवं स्वस्थ स्त्री-पुरुष नितान्त असंस्कृत भी हो सकते हैं। वस्तुतः संस्कृति उन गुणों का समुदाय है जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है। संस्कृति का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव, मनोवृत्तियों (एटीट्यूड्स) से है। संक्षेप में, सांस्कृतिक विशेषताएँ मनुष्य की बुद्धि एवं स्वभाव की विशेषताएँ होती हैं, इन विशेषताओं का अनिवार्य सम्बन्ध जीवन के मूल्यों से होता है। ये विशेषताएँ या तो स्वयं में मूल्यवान् (और इस प्रकार व्यक्तित्व को सुन्दर अथवा उच्च बनानेवाली) होती हैं, अथवा मूल्यों के उत्पादन का साधन। प्रायः व्यक्तित्व में विशेषताएँ साध्य एवं साधन दोनों ही रूपों में अर्थपूर्ण समझी जाती हैं।

प्रश्न है, ऐसी स्थिति में जातीय संस्कृति का क्या अर्थ होगा? कोई भी जाति व्यक्तित्व-संपन्न सत्ता नहीं होती, इसलिए ऊपर की परिभाषा के अनुसार, वह संस्कृति नामक विशेषता की वाहक नहीं हो सकती। यदि संस्कृति व्यक्तित्व का धर्म है तो वह किसी जाति का धर्म कैसे हो सकती है?

हमारा उत्तर इस प्रकार है—जहाँ यह ठीक है कि सांस्कृतिक विशेषताएँ व्यक्तित्व में आश्रित होकर रहती हैं, वहाँ यह मानना पड़ेगा कि सांस्कृतिक उत्कर्ष के प्रतिमान या पैमाने एक विशेष ढंग से जातीय चेतना में रहते

और उसकी संपत्ति होते हैं। यहाँ विचारशील पाठक पूछ सकते हैं कि व्यक्तियों की चेतना से भिन्न, यह जातीय चेतना क्या चीज़ है? उत्तर में निवेदन है कि जातीय चेतना की स्वतन्त्र स्थिति के लिए किसी समाज, समुदाय या जाति नाम के स्वतंत्र शरीरी (आर्गनिज़्म) या प्राणी का अस्तित्व स्वीकार करना जरूरी नहीं है। सच यह है कि मनुष्य अपने भौतिक व्यक्तित्व से भिन्न एक ऐसे आत्म (सेल्फ) की सृष्टि करता है जिसकी ज़िन्दगी उसके भौतिक शरीर पर निर्भर नहीं रहती, और जिसका इतिहास विभिन्न भौतिक शरीरों के इतिहासों से अलग रहकर विकसित होता है। इस प्रतीक-निर्मित आत्म को हम जातीय चेतना का नाम दे सकते हैं। इस चेतना के अन्तर्गत वे सब चीज़ें आती हैं जिनका समावेश काव्य-शास्त्र, धर्म, दर्शन आदि में होता है।

जातीय चेतना किसी खास व्यक्ति की चेतना नहीं होती, यद्यपि यह ठीक है कि इस चेतना को निश्चित रूपाकार देनेवाले व्यक्ति ही होते हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में, शकुंतला के चित्रण के रूप में जिस सौन्दर्य-भावना को अंकित किया गया है, उसे उस समय की भारतीय सौन्दर्य-चेतना का अंग कहा जा सकता है, यद्यपि वह अंकन एक व्यक्ति अर्थात् कालिदास द्वारा सम्पन्न हुआ। इस मान्यता के पक्ष में कई युक्तियाँ दी जा सकती हैं। कालिदास की काव्यरचना सौन्दर्य-बोध के जिन प्रतिमानों से नियंत्रित हुई, उनका उस पूरी शिक्षा से सम्बन्ध था जिसने कवि की इस संवेदना को गठित किया। जीवन-मूल्यों का उत्पादन करनेवाले सांस्कृतिक प्रयत्न विकसित रुचि की अपेक्षा रखते हैं, और रुचि का विकास समाज द्वारा प्राप्त शिक्षा से होता है। इसका यह मतलब नहीं कि संस्कृति के निर्माता नयी उद्भावनाएँ नहीं करते और सामाजिक चेतना को नयी दृष्टि एवं बोध से सम्पन्न नहीं करते। बात यह है कि यह दृष्टि और बोध ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि जातीय चेतना के विरुद्ध न पड़े। नये कलाकार द्वारा दिया गया नवीन सौन्दर्य-बोध जातीय चेतना को तभी प्रिय लगता है जब वह उसका सहज विस्तार अथवा पूरक रूप जान पड़ता है। यहाँ

हम व्यक्तिगत निर्माण एवं जातीय चेतना के बीच दूसरा लगाव देखते हैं। एक सभ्य जाति जिस कला अथवा विचारात्मक कृति को सँभालकर रखती या रखना चाहती है, उसका जातीय संवेदना एवं चिन्तन से विशेष सम्बन्ध होता है। ऐसी कृति या तो जातीय मस्तिष्क एवं संवेदना को विशद रूपाकार तथा अभिव्यक्ति देती है, या उनके वांछनीय विस्तार का साधन बन जाती है। इन्हीं दृष्टियों से कहा जा सकता है कि कला तथा चिन्तन की वे कृतियाँ, जो समय के निर्णय के सामने टिक पाती हैं, अपने रचयिताओं से सम्बन्धित जातीय चेतना की सम्पत्ति होती हैं।

प्रश्न है, महनीय कृतियों में निबद्ध जातीय चेतना का किसी जाति या राष्ट्र के ऐतिहासिक जीवन से, उस जीवन के विभिन्न युगों से, क्या सम्बन्ध होता है? क्या उस जीवन और उन कृतियों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध होता है? क्या साहित्य आदि सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ समाज का दर्पण होती हैं? एक दूसरा प्रश्न भी उठता है; क्या किसी जाति के विभिन्न जीवन-कालों में वैसा ही अविच्छिन्नता का सम्बन्ध होता है जैसा कि उसकी कला, चिन्तन आदि में? अथवा इन दो क्षेत्रों की अविच्छिन्नताओं में अन्तर रहता या रह सकता है?

यह कहना कि साहित्य समाज का दर्पण है, एक अर्ध-सत्य से भी कम है। मनुष्य का कोई सांस्कृतिक प्रयत्न समूचे समाज के सम्पूर्ण जीवन को प्रतिफलित नहीं करता। एक दर्शन-पद्धति समाज के सब सदस्यों के चिन्तन को प्रकट नहीं करती, वह कुछ चुने हुए लोगों के चिन्तन को ही अभिव्यक्ति देती है। इन चुने हुए लोगों का भी सिर्फ वही चिन्तन अभिव्यक्ति पाता है जो जीवन और जगत् की खास समस्याओं से सम्बन्धित है। एक दर्शन-पद्धति जहाँ अपने निर्माता की चेतना के एक विशिष्ट पहलू को प्रकाशित करती है, वहाँ वह उस चेतना को भी सम्पूर्णता में व्यक्त नहीं करती। श्रीहर्ष के "खंडन खंड खाद्य" को पढ़कर कोई भी पाठक यह अनुमान नहीं लगा सकता कि उस विचारक की लेखनी से "नैषधीय चरित" जैसे काव्य-ग्रन्थ का उद्भव भी हो सकता है।

जातीय संस्कृति और शिष्ट लोग

मतलब यह कि एक दर्शन-पद्धति किसी ऐतिहासिक समाज के चिन्तन को प्रकट नहीं करती; वह उन विचारकों के आंशिक चिन्तन को व्यक्त करती है जो उस समाज में प्रतिष्ठित समझे जाते हैं। सांस्कृतिक प्रयत्न सदा से एक छोटे वर्ग तक सीमित रहे हैं; संस्कृत में ऐसे वर्ग के लोगों को 'शिष्ट' कहकर पुकारा गया है। संस्कृति नाम की क्रियाएँ शिष्ट लोगों के जीवन का अंग होती हैं, दूसरे लोग उन क्रियाओं में अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार कम-बढ़ भाग लेते हैं। कालिदास ने अपनी कृतियों में जिस सौन्दर्य-बोध को प्रतिष्ठित किया है वह उन शिक्षित शिष्ट लोगों के जीवन का अंग था जो उस प्रकार के काव्य को स्वीकृति एवं प्रोत्साहन देते थे, और शिक्षा द्वारा उसे उत्पन्न करने तथा सराहने की योग्यता वितरित करते थे। कालिदास का सौन्दर्य-बोध उनके समय के सब भारतीयों का सौन्दर्य-बोध नहीं था, वह तत्कालीन शिष्टों के वर्ग का सौन्दर्य-बोध था।

इसका मतलब यह नहीं है कि शिष्टों तथा समाज के दूसरे सदस्यों की सांस्कृतिक चेतनाओं में कोई सामंजस्य या लगाव होता ही नहीं। इस लगाव के कई पहलू होते हैं। जीवन की जिन अभिव्यक्तियों को शिष्ट लोग सुन्दर एवं शुभ कहकर स्वीकृति देते हैं, वे अभिव्यक्तियाँ बहुत-कुछ सामाजिक जीवन में अनुस्यूत होती हैं। भारतीय माता-पिता लड़की को बिदा करते समय बड़ी खिन्नता महसूस करते हैं; 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के रचयिता ने इस जीवन-रूप की सार्थकता अथवा महत्ता की घोषणा की है। यही बात नारी के अस्तित्व के आदर्श के बारे में कही जा सकती है। सुख-दुःख तथा नैतिकता के विविध अवसरों के संबंध में शिष्टों तथा जन-साधारण की चेतनाओं में सामंजस्य होता है। इसी प्रकार साहस, धीरज, उदारता, त्याग आदि गुणों के प्रति प्रशंसाभाव सांस्कृतिक चेतना का अंग होने से पहले जातीय जीवन का स्वभाव होता है। किन्तु यहाँ एक भेद पर ध्यान देना जरूरी है। कृष्ण जैसे बालक का खेलना या चतुराई की बातें करना और

किसी युवती का विशेष अवसरों पर लजाना और मुस्कराना सांस्कृतिक चेतना का अंग नहीं है। वे प्राकृतिक जीवन के भाग हैं। इन क्रियाओं को सुन्दर एवं रोचक कहकर वर्णित करना उस सौन्दर्य-बोध को जन्म देता है जो सांस्कृतिक चेतना का आवश्यक और बहुमूल्य तत्त्व है। इस चेतना के रूप में संस्कृति शिष्टों के आश्रित रहती है, यद्यपि यह ठीक है कि इस चेतना के प्रारम्भिक मूल रूप समाज के सभी सदस्यों में मौजूद होते हैं, और इस कथन का, अन्तिम विश्लेषण में, यही अर्थ हो सकता है कि शिष्टों के सौन्दर्य-बोध का मूल आधार मानवीय प्रकृति है जो समाज के सभी सदस्यों के गठन में विद्यमान है। किन्तु इस स्वीकृति का भी यह अर्थ नहीं है कि शिष्टों की चेतना तथा साधारण जन-चेतना में अन्तर या दूरी नहीं होती। एक, दो आदि संख्याओं की वाच्य विशेषताओं की चेतना सभी सामान्य मनुष्यों में होती है, फिर भी एक गणितज्ञ और साधारण मनुष्य की संख्याओं तथा उनके पारस्परिक संबंधों से लगाव रखनेवाली चेतनाओं में महान् अन्तर होता है; और जब हम किसी देश या जाति के गणितशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान की चर्चा करते हैं तो हमारा ध्यान उसके शिष्टों की तत्-सम्बन्धी उपलब्धियों पर केन्द्रित होता है, न कि उसके साधारण सदस्यों के बोध पर। यही बात जाति-विशेष की सौन्दर्य-चेतना, नीति-चेतना, धर्म-चेतना आदि पर लागू होती है। वस्तुतः संस्कृति जीवन के महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक रूपों की आत्म-चेतना है। स्पष्ट ही उन रूपों की स्थिति उक्त चेतना से पहले है। इसलिए कहा जा सकता है कि आदिम मनुष्य संस्कृत नहीं था। उसके जीवन में सार्थकता-सम्पन्न, अर्थात् निरुपयोगी सौन्दर्य या अर्थ-सम्पन्न क्षण अवश्य आते होंगे, पर अभी उसने उन क्षणों को सचेत रूप में घटिया क्षणों से भिन्न करना नहीं सीखा था। प्रारंभ में मूल्यांकन का एकमात्र प्रतिमान उपयोगिता रही होगी। उस उपयोगिता के दायरे से बाहर निकल कर मनुष्य ने धीरे-धीरे कम-बढ़ सार्थकता के दूसरे पैमानों की अवगति पायी या विकसित की होगी। धीरे-धीरे मनुष्य ने यह देखा होगा कि उसे उपयोगी पदार्थों से भिन्न वस्तुएँ भी आकृष्ट करतीं एवं आनन्द

देती हैं, जैसे शिशुओं की तोतली बोली, प्रेयसी की मुस्कराहट और कुछ लोगों का वह कंठ-स्वर जिससे गीत फटते हैं। बहुत धीरे-धीरे कुछ ऐसे लोग प्रकट हुए होंगे जिन्होंने इन निरुपयोगी सार्थकताओं को अपने अवधान और चर्चा का विषय बनाया। सभ्य समाजों में इस प्रकार के लोग ही क्रमशः शिष्ट कहलाने लगे होंगे।

शिष्टों की बातचीत तथा मान्यताओं में साधारण नागरिक अक्सर अपनी निरुपयोगी प्रतिक्रियाओं को अधिक विशद एवं विकसित रूपों में पल्लवित होते देखता या पाता है। किन्तु ऐसे समाजों में जहाँ प्रतीकों की भाषा बहुत समृद्ध बन गयी है, शिष्टों के अभिप्राय को समझने के लिए अक्सर लम्बी तैयारी की जरूरत होती है। इस तैयारी का प्रचलित नाम शिक्षा है।

प्रतीकमूलक कृतियाँ

हम कह रहे हैं कि किसी जाति या राष्ट्र की संस्कृति समझने के लिए हमें प्रायः उसके शिष्टों द्वारा निर्मित प्रतीक-मूलक कृतियों का अध्ययन करना चाहिए। ये कृतियाँ जिन पैमानों द्वारा आँकी जाती हैं वे जातीय इतिहास में एक पीढ़ी से दूसरी में पहुँचते रहते हैं। इन पैमानों का संक्रमण भी शिष्टों के द्वारा सम्पन्न होता है। किसी जाति या राष्ट्र के सामाजिक राजनीतिक इतिहास में कभी-कभी विदेशियों के हमलों, अथवा दूसरे कारणों से, अवांछित अवरोध तथा संकट उपस्थित हो जाता है। यदि यह संकट कुछ दिनों ही रहे तो यह आवश्यक नहीं कि उससे जातीय सांस्कृतिक चेतना के प्रवाह में विशेष बाधा पड़े। एक-दो पीढ़ियों के व्यतिक्रम के बावजूद आगे आनेवाले शिष्ट लोग अपना सम्बन्ध पिछले शिष्टों की चेतना से जोड़ सकते हैं। भारत जैसे विशाल देश में यह भी संभव रहा है कि संकट एक खास नगर या क्षेत्र तक सीमित रहे और उसका दूसरे नगरों या राज्यों की सांस्कृतिक प्रगति पर विशेष प्रभाव न पड़े। प्राचीन भारत में यह संभव था कि देश के कुछ भागों में संस्कृति की प्रगति के मंद पड़ जाने पर भी

उसका विकास दूसरे भागों में होता रहा। किन्तु जब संकट बहुकालव्यापी और सारे देश या जाति को आक्रान्त करनेवाला हो तो वह सांस्कृतिक प्रगति के इतिहास को निश्चय ही प्रभावित करता है। बात यह है कि देश के संकट-ग्रस्त वातावरण में तथाकथित शिष्ट लोग तटस्थता और लगन से वह साधना नहीं कर पाते, जो सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए आवश्यक है।

यहाँ एक दूसरी परिस्थिति का उल्लेख भी आवश्यक है। हमने अब तक कहा कि सांस्कृतिक चेतना मुख्यत: कला तथा चिन्तन की प्रतीक-मूलक कृतियों में प्रकाश पाती है। किन्तु संस्कृति का आंशिक प्रतिफलन विविध सामाजिक संस्थाओं में भी होता है। विवाह, शासन, शिक्षा आदि की प्रणालियाँ वे संस्थाएँ हैं जो जातीय संस्कृति को प्रतिफलित करती हैं। इन संस्थाओं का क्रमबद्ध इतिहास संस्कृति के अध्ययन में निश्चय ही सहायक होता है। किन्तु देखने की बात यह है कि यह इतिहास भी प्राय: किसी जाति या देश के वाङमय में ही उपलब्ध होता है। उपलब्ध अर्थात् सुरक्षित जातीय वाङमय में विभिन्न संस्थाओं के प्राय: उन्हीं रूपों का उल्लेख रहता है जो जातीय जीवन में लम्बे परीक्षण एवं प्रयोग द्वारा सुप्रतिष्ठित हो सके थे।

हिन्दू संस्कृति का अध्ययन क्यों ?

अब हम फिर इस प्रश्न की ओर लौटते हैं कि भारतीय संस्कृति के नाम पर हमें क्यों हिन्दू संस्कृति का विशेष अध्ययन करना चाहिए। बात यह है कि मानव-जीवन के अनेक पहलुओं का जितना विविध व व्यापक चित्र हिन्दुओं के साहित्य में मिल सकता है, वैसा किसी दूसरी जाति या धर्म के साहित्य में नहीं। यदि हम ईसाई संस्कृति का अध्ययन करना चाहें तो हमारे लिए यह उचित होगा कि हम ईसाई जाति के उस समृद्ध साहित्य का अध्ययन करें जो यूरोप के उन्नत देशों में रचा गया, सिर्फ भारतीय ईसाइयों के जीवन और साहित्य को देखकर ईसाई संस्कृति के बारे में किसी निर्णय

पर पहुँचना उस संस्कृति के प्रति न्याय नहीं होगा। इसी प्रकार मुसलमानों की संस्कृति का समुचित अध्ययन करने के लिए हमें उन देशों के इतिहास में जाना होगा, जहाँ वह संस्कृति उद्‌भूत तथा विकसित हुई थी। बात यह है कि इन संस्कृतियों की उच्चतम अभिव्यक्तियाँ हमारे देश की धरती पर नहीं हुईं। अवश्य ही बौद्ध तथा जैन धर्मों से संबंधित संस्कृतियाँ हमारे देश में जनमीं और पनपीं, किन्तु जैसा कि हमने संकेत किया, वे उतनी सर्वांगीण नहीं बन सकीं जितनी कि हिन्दू संस्कृति। वे हिन्दू संस्कृति से कम-बढ़ आक्रान्त होती ही रहीं। अवश्य ही दर्शन के क्षेत्र में बौद्धों तथा जैनों की, विशेषतः बौद्धों की देन हिन्दुओं की उपलब्धि से बहुत कम नहीं रही; किन्तु दूसरे क्षेत्रों में या तो हिन्दुओं की उपलब्धि उच्चतर रही, या फिर उनके प्रयत्न तथा बौद्धों आदि के प्रयत्नों में भेदक रेखा का अभाव रहा। उदाहरण के लिए जहाँ हिन्दुओं के काव्य तथा नाट्य-साहित्य ने अपनी श्रेष्ठता से बौद्धों आदि के तत्संबंधी प्रयत्नों को पृष्ठभूमि में डाल दिया, वहाँ व्याकरण, कोश-रचना, गणित आदि क्षेत्रों में हिन्दू तथा अहिन्दू कृतियों में भेद करना कठिन जान पड़ता है। बात यह है कि संस्कृति के कुछ क्षेत्रों में धर्मगत भेद महत्त्वपूर्ण नहीं होते।

संक्षेप में, हिन्दू संस्कृति को भारत की प्रतिनिधि संस्कृति मानने के लिए नीचे लिखे कारण दिये जा सकते हैं—(१) हिन्दू संस्कृति ने, कम से कम प्राचीन काल में, बौद्धों आदि के मूल्यवान् विचारों एवं शिक्षाओं को बहुत कुछ आत्मसात् कर लिया। हिन्दू संस्कृति की इस सफलता के दो कारण थे, एक उसकी विविधता और दूसरे उसकी समन्वय-वृत्ति। (२) इस देश में हिन्दू संस्कृति का जैसा सर्वांगीण विकास हुआ, वैसा किसी दूसरी संस्कृति का नहीं हो सका। 'रामायण' व 'महाभारत' जैसे जातीय महा-काव्य तथा कालिदास, भारवि, माघ, भास, भवभूति आदि की कक्षा के महाकवि एवं नाटककार तथा अन्य साहित्य-प्रणेता किसी दूसरी जाति या धर्म ने उत्पन्न नहीं किये।

इसलिए हम सिर्फ हिन्दू संस्कृति का अध्ययन करके उन सब गुणों या

विशेषताओं की चेतना प्राप्त कर सकते हैं, जो भारतीय संस्कृति के अनुसार, मानव व्यक्तित्व को विभिन्न कोटियों का उत्कर्ष देती हैं। केवल बौद्ध अथवा जैन ग्रंथों का अध्ययन करके संभवतः हम यह जान सकते हैं कि एक मोक्षकामी जिज्ञासु एवं साधक का जीवन कैसा होना चाहिए। किन्तु दूसरे वर्गों के नर-नारियों के चरित्रगत उत्कर्ष और उसके पैमानों को समझने के लिए हमारा सबसे बढ़िया स्रोत हिन्दुओं का तथाकथित लौकिक या लोक-सम्बन्धी (सिकुलर) साहित्य ही होगा। लोकजीवन से संबद्ध सौन्दर्य-बोध तथा नैतिक आदर्शों के मामले में दूसरे धर्म तथा जातियाँ बहुत कुछ हिन्दू संस्कृति से ही प्रभावित रहीं।

अब तक हमने संस्कृति, जातीय संस्कृति एवं भारतीय संस्कृति व्यंजनाओं का अर्थ निश्चित करने का प्रयत्न किया। अब हम अपने इस अध्ययन के **प्रयोजन** का संकेत करेंगे। प्रयोजन के निश्चित हो जाने पर यह देखना आसान हो जायगा कि हम भारतीय संस्कृति को समझने के लिए किस तरह अग्रसर हों।

किसी जातीय संस्कृति का अध्ययन अनेक दृष्टियों तथा उद्देश्यों से किया जा सकता है। मनुष्य से सम्बन्धित प्रत्येक घटना या संस्था का अनुशीलन, मोटे तौर पर, दो प्रकार का हो सकता है; एक कारण-मूलक और दूसरा मूल्यांकन रूप। वैज्ञानिक दृष्टि प्रायः घटनाओं तथा स्थितियों के कारणों की खोज करती है। मानव-जीवन तथा संस्कृति के अध्ययन में इतिहासकार का यही दृष्टिकोण होता है। बौद्ध धर्म की भारत से भिन्न देशों में सफलता क्यों हुई और वह भारत से क्यों तिरोहित हो गया? ये प्रश्न इतिहास के हैं और उनके उत्तर विविध कारणों के संकेत-रूप होंगे। हमें यहाँ भारतीय संस्कृति का अध्ययन इस ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं करना है।

मूल्यांकन का दृष्टिकोण

दूसरा दृष्टिकोण मूल्यांकन का होता है। यह मूल्यांकन तुलनामूलक भी हो सकता है और तुलना-निरपेक्ष भी। यह संभव है कि भारतीय

संस्कृति के किसी अंग की तुलना चीनी, यूनानी, अरब, पारसी, आधुनिक यूरोपीय आदि संस्कृतियों के उसी अंग से की जाय, और यह निर्णय करने की कोशिश की जाय कि उनमें से इस या उसकी अपेक्षा भारतीय संस्कृति के उस विशिष्ट अंग की क्या स्थिति है। उदाहरण के लिए यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि महाकाव्य, नाट्य-रचना, गणित, दर्शन आदि क्षेत्रों में प्राचीन भारत की उपलब्धियाँ यूनान आदि की तुलना में कैसी थीं। इस पुस्तक में इस तरह के प्रश्न उठाना भी हमें इष्ट नहीं है।

इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि हम सांस्कृतिक मूल्यांकन की समस्या से विमुख हैं, अथवा उसमें दिलचस्पी नहीं रखते। वस्तुतः प्रस्तुत अध्ययन का दृष्टिकोण गहरे अर्थ में मूल्यांकन से संबंधित है; उसका प्रधान लक्ष्य पाठकों में संस्कृति-तत्त्व के उदात्त रूपों तथा पैमानों की चेतना जगाना है। किन्तु इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए हमने यह आवश्यक नहीं समझा कि भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूपों की तुलना दूसरी संस्कृति के वैसे रूपों से की जाय। यह भी नहीं कि हमने तुलनाएँ बिल्कुल की ही नहीं हैं। किन्तु हमारे द्वारा की गयी तुलनाएँ भारतीय संस्कृति के स्वयं अपने दायरे तथा क्षेत्रफल तक सीमित रखी गयी हैं। वस्तुतः यह समूचा अध्ययन एक पूर्व-मान्यता (एज़म्शन) या विश्वास पर आधारित है; वह मान्यता यह है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति एक ऊँची एवं महत्त्वपूर्ण संस्कृति थी, जिसका स्थान विश्व-इतिहास की चार-छः उन्नत एवं महत्त्वपूर्ण संस्कृतियों में है। हम मानते हैं, और हमारा अनुमान है कि विश्व के बहुत-से समझदार इतिहास-वेत्ता तथा मनीषी इस मान्यता में हमारे साथ हैं कि प्राचीन आर्य अथवा हिन्दू जाति एक विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न जाति थी, जिसने उच्च संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों—साहित्य, दर्शन, व्याकरण, तर्कशास्त्र, गणित आदि—में विशेष उल्लेख योग्य प्रगति की। लम्बी-चौड़ी तुलनाओं में न पड़ते हुए हम कह सकते हैं कि सांस्कृतिक उपलब्धि की दृष्टि से प्राचीन आर्य या हिन्दू विश्व की किसी दूसरी सभ्य जाति से हीन नहीं थे। इसका यह मतलब नहीं लगाना चाहिए कि हम भारतीय आर्यों या हिन्दुओं को प्राचीन चीनियों

अथवा यूनानियों एवं आधुनिक यूरोपीयों से श्रेष्ठ समझते हैं। इसके विपरीत हम मानते हैं कि वे जातियाँ भी सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ी गौरवशालिनी थीं और उन्होंने विश्व-संस्कृति को अपने अंशदानों से समृद्ध किया है। हम सिर्फ यह दावा करना चाहते हैं कि भारतीय आर्यों या हिन्दुओं का अंशदान भी प्रायः उतना ही महत्त्वपूर्ण है और इस पुस्तक में हम जिस प्रश्न का उत्तर खोज रहे हैं वह यह है—प्राचीन भारत में रहनेवाले लोगों की वे कौन-सी जातीय विशेषताएँ थीं जिन्होंने उन्हें वैसी ऊँची संस्कृति के निर्माण के योग्य बनाया? एक ऐसी जाति में जो संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में इतनी सर्जनशील होती है और जो स्वतंत्र एवं प्रभावपूर्ण जीवन व्यतीत करती है, क्या-क्या विशेषताएँ पायी जाती हैं; उसके सदस्यों का आचार-विचार किस प्रकार का होता है और जीवन के विभिन्न रूपों व संभावनाओं के प्रति उनके मनोभाव क्या होते हैं? अपनी विभिन्न संस्थाओं के माध्यम से वे किन प्रयोजनों की पूर्ति करते हैं और किन लक्ष्यों की ओर अग्रसर होते हैं? जीवन की विभिन्न माँगों, ध्येयों या पुरुषार्थों के प्रति उनका क्या रुख रहता है, और वे उनके बीच उठनेवाले द्वन्द्वों अथवा संघर्षों का किस तरह निपटारा करते हैं?

संक्षेप में, हम प्राचीन भारतीयों की उन चरित्रगत तथा विचारगत विशेषताओं की चेतना प्राप्त करना चाहते हैं जिन्होंने उन्हें विश्व की महान् जातियों में से एक बनाया था। स्पष्ट ही ऐसी चेतना हमारे नव-स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिकों के लिए उपादेय सिद्ध होगी। वह उन्हें यह प्रेरणा देगी कि वे अपने को उन गुणों से सम्पन्न करें जो किसी जाति को गौरवशालिनी बनाते हैं और उसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों की योग्यता देते हैं। वैसी योग्यता सम्पादित करके ही आज हमारा देश और हम सचमुच आगे बढ़ सकते हैं।

कुछ हद तक हमें यह लाभ यूनानी आदि जातियों के प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास के अनुशीलन से भी हो सकता है। किन्तु हमारे लिए प्राचीन भारतीयों को ठीक से समझना जितना सुकर है, उतना दूसरी जातियों को समझना नहीं। बात यह है कि अपने देश की संस्कृति के अनुशीलन में हम

जितनी सहानुभूति का संबल जुटा सकते हैं, वैसा दूसरी संस्कृतियों के अध्ययन में नहीं। दूसरे, **एक उन्नत जाति––प्राचीन भारतीयों––की विशेषताओं को समझ लेने पर हमारे लिए यह सरल होगा कि दूसरी उन्नत जातियों के चरित्र को सहानुभूति से समझ सकें।** संभावना यह है कि प्राचीन भारतीयों और प्राचीन यूनानियों एवं आधुनिक यूरोपीयों में उससे **अधिक** समानता पायी जाय जो आधुनिक भारतीयों तथा उल्लिखित जातियों के बीच पायी जा सकती है। **किन्हीं भी दो उन्नत जातियों के बीच समानता होनी चाहिए, कोई भी अवनत जाति या राष्ट्र किसी उन्नत जाति या राष्ट्र से विषम होगा।** इसलिए हमारा विचार है कि प्राचीन यूनानियों, प्राचीन चीनियों, मध्ययुगीन अरबों तथा आधुनिक यूरोपीयों को अपेक्षित सहानुभूति से और उचित परिप्रेक्षित (perspective) में समझने के लिए यह जरूरी है कि हम प्राचीन काल की उन्नत भारतीय जाति की चारित्रिक-सांस्कृतिक विशेषताओं से ठीक-ठीक परिचित हों।

ऊपर के वक्तव्य में दो ध्वनियाँ निहित हैं––एक यह कि प्राचीन भारतीयों तथा प्राचीन यूनानियों आदि में कुछ समानताएँ थीं, और दूसरी यह कि आधुनिक भारतीय प्राचीन भारतीयों से भिन्न हो गये हैं। पहली मान्यता का यह अर्थ नहीं है कि पुराने भारतीयों तथा यूनानियों आदि में कोई चारित्रिक व सांस्कृतिक भेद नहीं था। कुछ भेद अवश्य थे, किन्तु जहाँ तक उन जातियों ने ऐसे मूल्यों की सृष्टि की जिनका महत्त्व सार्वभौम व सार्वकालिक है, उनमें अवश्य ही कुछ समानताएँ रही होंगी। यदि दो जातियाँ लगभग समान महत्त्व के साहित्य एवं दर्शन की सृष्टि करती हैं तो उनकी संवेदना एवं मानसिक गठन में अवश्य ही कुछ समान तत्त्व होने चाहिए। यह हम इसलिए कह रहे हैं कि कुछ परीक्षकों ने यह दिखाने की कोशिश की है कि पुराने भारतीय दूसरी सभ्य जातियों से एकदम ही भिन्न थे। उदाहरण के लिए भारतीय संस्कृति के अत्यन्त सहानुभूतिशील अध्येता श्री मैक्समूलर ने लिखा है––

A people of this peculiar stamp of mind was never destined to act a prominent part in what is called the history of the world. This exhausting atmosphere of transcendental ideas could not but exercise a detrimental influence on the active and moral character of the Indians.[१]

अर्थात् वह जाति जिसकी मनोवृत्ति इस प्रकार की थी, विश्व के इतिहास में उल्लेखनीय पार्ट खेलने के लिए नहीं बनी थी। यह अनिवार्य था कि अगोचर-अतीन्द्रिय-सम्बन्धी विचारों का थकानेवाला वातावरण भारतीयों की क्रियाशीलता तथा नैतिक चरित्र पर खराब प्रभाव डाले। हम इस सम्मति को नितान्त भ्रामक समझते हैं। यह कथन अजीब जान पड़ता है कि भारतीयों ने विश्व के इतिहास पर कोई प्रभाव नहीं डाला। मनुष्य का महत्त्वपूर्ण इतिहास उसकी सभ्यता और संस्कृति का इतिहास है; कौन कहेगा कि प्राचीन भारतीयों ने इस इतिहास को प्रभावित नहीं किया? भारतीय साहित्य ने समय-समय पर दूसरी सभ्य जातियों को प्रभावित किया है; भारतीय कहानियों तथा शाकुन्तल आदि नाटकों की ख्याति व प्रभाव भारत तक ही सीमित नहीं रहा; भारतीय उपनिषदों तथा दर्शन ने कतिपय इस्लामी तथा यूरोपीय विचारकों को प्रेरित या प्रभावित किया; अंकों के लिखने की भारतीय पद्धति आधुनिक गणितशास्त्र की प्रगति का आधार बनी; और भारत में उत्पन्न हुए बौद्ध धर्म तथा दर्शन ने अनेक देशों की संस्कृति पर अपनी छाप डाली। यह भी नहीं कहा जा सकता कि भारतीयों ने राजनीतिक क्षेत्र में विश्व-इतिहास को अछूता छोड़ दिया; उत्तर पश्चिम में अफगानिस्तान, दक्षिण में लंका तथा पूर्व में बर्मा, हिन्दचीन, जावा आदि पर भारत का प्रभाव रहा था। उद्योग-क्षेत्र में यह प्रसिद्ध ही

१. ए हिस्ट्री ऑव एंशेण्ट संस्कृत लिट्रेचर, भूमिका, पृ० १५।

है कि प्राचीन भारत के व्यापारी रोम तक के बाजारों में अपना सामान बेचते थे।

वस्तुतः प्राचीन भारतीयों का वह चित्र, जिसमें उन्हें सिर्फ दार्शनिक, परलोक-परायण एवं इस लोक से विमुख दिखाया जाता है, अतिरंजित व एकांगी ही नहीं, झूठा एवं भ्रामक भी है। आगे के पृष्ठ हमारे इस वक्तव्य को प्रमाणित करेंगे। भारतीयों का इस प्रकार का चित्र न तो वैदिक काल के आर्यों पर ही ठीक घटता है, और न उस हिन्दू जाति पर, जिसने अनेक महाकाव्यों, नाटकों तथा बहुत-से व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, छंदःशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनय, गणित आदि से सम्बन्धित विचार-ग्रंथों का प्रणयन किया।

हमारा यह कथन कि आधुनिक भारतीय प्राचीन आर्यों तथा हिन्दुओं से विशेष भिन्न हैं, कुछ लोगों को चकित कर सकता है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि हमारी प्राचीनों के प्रति भक्ति, हमारी रूढ़िवादिता व परम्परा-प्रियता इसका लेश मात्र भी प्रमाण नहीं है कि हम अपने चरित्र एवं स्वभाव से उन लोगों के समान हैं। वस्तुतः परम्परा के प्रति हमारा मोह व आदरभाव भी इस बात के सूचक हैं कि हमारी दृष्टि में प्राचीन लोग हमसे कहीं अधिक श्रेष्ठ थे।

अब हम दूसरा प्रश्न उठाते हैं। भारतीय संस्कृति का अध्ययन किस प्रकार किया जाय? ऊपर हमने इस संस्कृति के सम्बन्ध में, अथवा भारतीयों के संबंध में, मैक्समूलर की सम्मति उद्धृत की। उस सम्मति का आधार इस देश का विशिष्ट साहित्य है। प्रश्न है, किसी जाति की संस्कृति किस कोटि के साहित्य में समग्र अभिव्यक्ति पाती है? अधिकांश पश्चिमी पंडितों ने भारत के दार्शनिक साहित्य में यहाँ की संस्कृति के मर्म को खोजने की कोशिश की है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे देश में दार्शनिक जिज्ञासा तथा चिन्तन का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यह भी माना जा सकता है कि दार्शनिक आस्थाएं किसी संस्कृति की नींव का निर्माण करती हैं। विशेषतः हमारे देश में धर्म अर्थात् आध्यात्मिक साधना तथा दर्शन का खास स्थान रहा है।

यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति की एकता मुख्यतः आध्यात्मिक दृष्टि तथा साधना की एकता है। तत्त्वचिन्ता की दृष्टि से यद्यपि बौद्धों, जैनों तथा हिन्दू विचारकों में मतभेद है, फिर भी सब में मुक्ति या निर्वाण की प्राप्ति के लिए प्रायः एक-सी साधना का निर्देश है। इस साधना में इस लोक तथा परलोक के भोगों के प्रति अनासक्ति, इन्द्रियों तथा मन पर नियंत्रण, राग-द्वेष आदि विकारों पर विजय आदि का समावेश है।

फिर भी हमारा विश्वास है कि भारतीय धर्म और दर्शन यहाँ की संस्कृति का पूरा प्रतिफलन नहीं करते। जहाँ उस तरह के साहित्य का अध्येता यह जान सकता है कि मोक्ष या निर्वाण-पथ के पथिक की संवेदना एवं जीवन कैसा होता है, वहाँ वह देश के निन्यानबे प्रतिशत मनुष्यों के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं कर सकता। हमारे यहाँ गृहस्थ आश्रम को बाकी सब आश्रमों का आश्रय या आधार कहा गया है; दर्शन तथा अध्यात्म-सम्बन्धी ग्रंथ इस आश्रम से सम्बद्ध जीवन तथा समस्याओं के बारे में कोई संकेत नहीं देते। इसलिए हमारा विचार है कि किसी जाति की संस्कृति को समझने के लिए उसके दर्शन तथा धर्म-ग्रन्थों को जानना काफी नहीं है।

भारतीय इतिहास पर दृष्टि डालने से कुछ और बातें दिखाई देती हैं। अनेक परीक्षकों की सम्मति में हिन्दू संस्कृति का स्वर्णयुग महाकवि कालिदास के निकट की कुछ शताब्दियाँ हैं। इस समय तक हिन्दुओं के प्रमुख समझे जानेवाले दर्शन अद्वैत वेदांत का ठीक से प्रतिपादन भी नहीं हुआ था, उसकी प्रधानता का तो कहना ही क्या। जिन शंकराचार्य ने अद्वैत मत को ठीक से प्रतिष्ठित किया, उनका आविर्भाव हिन्दू संस्कृति के स्वर्ण-युग के बाद हुआ। शंकर से पहले के काव्य-साहित्य में, और भगवद्गीता में भी, सांख्य दर्शन का विशेष महत्त्व दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में वे परीक्षक, जो हिन्दू चिन्तन को वेदान्त से समीकृत करते हैं और वेदान्त दर्शन को भारतीय संस्कृति को समझने की कुंजी मानते हैं, अपने को हिन्दू संस्कृति के स्वर्णयुग को समझने के अयोग्य बना लेते हैं।

महाकाव्यों का आधार

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दू अथवा भारतीय संस्कृति का अध्ययन यहाँ के महाकाव्यों के आधार पर किया गया है। इसके दो कारण हैं। पहला यह कि भारतीय साहित्य इतना विशाल है कि समग्रता में उसका विशिष्ट अध्ययन किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं हो सकता है। अकेले वैदिक साहित्य का ही विस्तार इतना है कि उसके अनुशीलन के लिए एक पूरा जीवन चाहिए। यही बात यहाँ के दर्शनशास्त्र पर लागू होती है। यहाँ का काव्य-साहित्य भी बड़ा विस्तृत है, केवल संस्कृत साहित्य का ही बड़ा विस्तार है, आधुनिक भाषाओं का तो कहना ही क्या। दूसरे, संस्कृति-तत्त्व की हमने जो व्याख्या की है उसके अनुसार किसी जाति की संस्कृति को समझने का सबसे बढ़िया आधार एवं उपकरण वहाँ का काव्य-साहित्य ही ठहरता है। बात यह है कि जाति-विशेष के काव्य-साहित्य में उसके दूसरे मूल्यों के साथ आध्यात्मिक मूल्य भी प्रतिफलित हो ही जाते हैं। इसके विपरीत केवल दार्शनिक एवं आध्यात्मिक साहित्य के अनुशीलन से जीवन की विविधता व उसके मूल्यों का व्यापक परिचय हो ही नहीं सकता।

भारतीय साहित्य में महाकाव्यों का विशेष स्थान है। इस देश में जितने महाकाव्य लिखे गये उतने कम देशों में मिल सकते हैं। संस्कृत साहित्य में रामायण-महाभारत के अतिरिक्त पाँच-छः महाकाव्य विशेष प्रसिद्ध हैं। महाभारत अपने में हिन्दू संस्कृति का विश्वकोश ही है, उसमें भगवद्-गीता जैसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक-आध्यात्मिक ग्रन्थ का भी समावेश है। किन्तु यहाँ हमने गीता का विशेष उपयोग नहीं किया है। बौद्धों के महाकाव्य 'बुद्ध-चरित' का उपयोग किया गया है, पर कम। ललित साहित्य के दूसरे अंगों, जैसे नाटकों का उपयोग भी कम हुआ है; कारण यह कि महाकाव्यों में प्रायः वह सब सामग्री उपलब्ध है जो नाटकों में मिलती है। वस्तुतः अपने अनुशीलन को मुख्यतः महाकाव्यों तक सीमित रखने में एक लाभ यह है कि उनकी विषय-वस्तु से हमारा विस्तृत व पूर्ण परिचय हो जाय।

कालविभाग

भारतीय संस्कृति के नितान्त लम्बे इतिहास को विभाजनकर्ता की रुचि के अनुसार कितने ही युगों में विभाजित किया जा सकता है। अपने विशिष्ट प्रयोजनों की पूर्ति के लिए हम यहाँ की संस्कृति के विकास की परम्परा को चार कालों या युगों में विभक्त कर सकते हैं। पहले युग का प्रसार वैदिक काल से लेकर रामायण-महाभारत के निर्माण तक माना जा सकता है। इस लम्बी अवधि में, जिसका विस्तार १,५०० अथवा (कुछ, परीक्षकों के अनुसार) ३००० ई० पू० से लगभग ५०० ई० पू० तक है विविध एवं जटिल भारतीय संस्कृति की विभिन्न प्रवृत्तियों का उदय हुआ। दूसरा काल भारतीय संस्कृति का स्वर्ण-युग है, जिसके प्रतिनिधि गायक व प्रवक्ता महाकवि कालिदास, भारवि तथा माघ हैं। पहले और दूसरे युगों के बीच के समय को हम उक्त स्वर्णयुग की भूमिका के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इस बीच के समय की सबसे बड़ी घटना बौद्ध धर्म का उदय तथा बौद्ध दर्शनों का विस्तार है। यह कहना भ्रामक एवं अन्यायपूर्ण होगा कि बौद्ध दर्शनों का एक मात्र कार्य हिन्दू दर्शनों के तर्कपूर्ण संग्रथन के लिए भूमि प्रस्तुत करना था। वस्तुतः दर्शन के क्षेत्र में बौद्धों की देन हिन्दुओं की उपलब्धि से कम नहीं है। फिर भी यह ठीक है कि बौद्ध दर्शन के अभाव में हिन्दू दर्शन वह प्रौढ़ रूप प्राप्त न कर पाते जो उन्होंने सूत्र-ग्रन्थों तथा उनके भाष्यकारों की कृतियों में पाया। हिन्दू दर्शनों का यह संग्रथन ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में हुआ, ऐसा माना जाता है। स्वर्णयुग में भारत की दार्शनिक चेतना बहुत-कुछ व्यवस्थित रूप ले चुकी थी। इस युग में सांख्य से अनुप्राणित वेदान्त का प्राधान्य था—उस वेदान्त का जिसका प्रतिपादन भगवद्गीता में पाया जाता है। अभी शंकर के मायावाद का जन्म नहीं हुआ था, यदि हुआ भी था तो वह शिष्टों की साधारण चेतना का अंग नहीं बना था। स्वर्णयुगीन महाकाव्यों के प्रणेता मायावादी सिद्धान्त से परिचित व प्रभावित नहीं दिखाई देते। कालिदास का समय सम्भवतः

गुप्त-साम्राज्य का उत्कर्ष-काल है, अर्थात् ईसा की चौथी और पाँचवीं शताब्दियाँ। इस अवधि में गुप्त वंश में चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, चन्द्र-गुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम तथा स्कन्दगुप्त नाम के महत्त्वशाली सम्राट् हुए। कालिदास इन्हीं में से किसी सम्राट् की सभा के आभूषण थे। चन्द्र-गुप्त द्वितीय ने 'विक्रमादित्य' का अभिधान धारण किया था, ऐसा कहा जाता है। कीथ के अनुसार भारवि का समय ईसा की छठी शताब्दी है और माघ का लगभग सातवीं शताब्दी।

भारतीय संस्कृति का तीसरा काल हमारे इतिहास का मध्ययुग है, जिसका प्रारम्भ मुसलमानों के आक्रमण के साथ मानना चाहिए और जिसका प्रसार अंग्रेजों के आगमन तक रहा। इस युग का पहला महत्त्वपूर्ण महाकाव्य श्रीहर्ष का 'नैषधीय चरित' है और अन्तिम तुलसीदास का 'राम-चरितमानस'। श्रीहर्ष का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है और तुलसीदास का सोलहवीं शताब्दीय। मध्ययुग में हिन्दू जाति पराधीन रही। यह युग उसकी संस्कृति के उतार का समय है, यद्यपि भक्त विचारकों तथा कवियों के आन्दोलन ने उस संस्कृति में कतिपय प्रगतिशील तत्त्वों का समावेश भी किया। भारतीय संस्कृति का अन्तिम युग आधुनिक काल है जिसका प्रारम्भ अंग्रेजी राज्य की स्थापना के आस-पास से माना जा सकता है। इस युग में कोई महत्त्वपूर्ण महाकाव्य नहीं लिखा गया। कारण यह है कि इस कालावधि में भारतीय संस्कृति पर पश्चिमी देशों का विशेष प्रभाव पड़ने लगा, जिससे उसकी आत्मा विघटित होने लगी। इस युग के अन्तर्गत उन्नीसवीं शताब्दी में एक प्रकार का सांस्कृतिक पुनर्जागरण भी हुआ। इस जागरण का रूप मुख्यतः धार्मिक रहा; उसने देश के स्वतंत्रता-आन्दोलन के लिए भूमि तैयार की।

जैसा कि हमने कहा, प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य जातीय चेतना या संस्कृति की उन विशेषताओं को प्रकाश में लाना है जो जातीय जीवन को सर्जनोन्मुख अथवा प्रगतिशील एवं प्रभविष्णु बनाती हैं। इसलिए यहाँ सबसे विस्तृत अध्ययन दूसरे युग का किया गया है। पहले युग का अध्ययन दूसरे युग के

अनुशीलन के लिए तैयारी-रूप है, और तीसरे युग का सांस्कृतिक विश्लेषण यह दिखाने के लिए किया गया है कि वह युग हमारी संस्कृति के स्वर्णयुग से किन बातों में भिन्न एवं हीनतर था।

ऊपर कहा जा चुका है कि इस पुस्तक का उद्देश्य भारतीय संस्कृति तथा दूसरी उन्नत संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं है। सिर्फ 'उपसंहार' में, भारतीय संस्कृति के भावी विकास की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए, चीनी, यूनानी तथा वर्त्तमान यूरोपीय संस्कृतियों का थोड़ा-बहुत जिक्र किया गया है। वहाँ देश की वर्तमान सांस्कृतिक स्थिति को उत्कर्ष कालीन संस्कृति के आलोक में देखने का प्रयत्न भी हुआ है।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

प्रथम खंड

बीज और अंकुर

पहला अध्याय

वैदिक काल और रामायण-महाभारत-युग

विषय-प्रवेश

भारतीय संस्कृति एक विस्तृत व जटिल वस्तु है। उसके विस्तार तथा जटिलता के अनेक कारण हैं। यह संस्कृति, जिसका उत्थान उत्तर भारत के कुछ भागों में हुआ, क्रमशः इस देश की समूची लम्बाई-चौड़ाई में फैल गयी। अनेक प्रकार की जरूरतों तथा स्वभावोंवाले लोगों के बीच उसका प्रचार-प्रसार हुआ, और अनेक-विध जन-समुदाय के बीच वह शताब्दियों तक वर्धित व विकसित होती रही। इन कारणों से यह अनिवार्य था कि भारतीय संस्कृति का रूप नितान्त विविध, वैचित्र्यपूर्ण एवं जटिल बन जाय। मूल्य-भावना की दृष्टि से यह जटिलता अपने को अनेक रूपों में प्रकट करती है; आदर्श नरनारियों की विविध कल्पनाओं में, जीवनध्येयों की अनेक रूपता में, अनेक पंथों, सम्प्रदायों तथा मार्गों के उदय और प्रचलन में।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि आर्य एवं हिन्दू संस्कृति की इस विविधता में कतिपय जीवन-मूल्यों अथवा मूल्य-दृष्टियों को विशेष गौरव दिया गया है। गौरव देने की इन विशिष्ट प्रवृत्तियों का आरम्भ उस लम्बी कालावधि में देखा जा सकता है जिसे वैदिक युग कहते हैं। कहा जा सकता है कि भारतीय जीवन-दृष्टि की प्रायः सभी विशेषताओं का उद्गम इस युग में हुआ। अवश्य ही वैदिक काल मनुष्य की अपेक्षाकृत सरल मनोवृत्तियों का युग था। उस समय भारतीय संवेदना को उन विरोधाभासों की चेतना न थी जो बाद में, अनेकविध प्रवृत्तियों के विस्तार तथा विकास से, उनके बीच दिखलाई देने लगे। वैदिक युग की प्रवृत्तियाँ जब क्रमशः जटिल होते हुए सामाजिक-राजनीतिक जीवन में अभिव्यक्ति पाकर तीक्ष्ण एवं परस्पर

विरोधी रूप धारण करने लगीं, तब उनके आपेक्षिक महत्त्व व सीमाओं के निर्धारण का प्रश्न जोर-शोर से उठने लगा। प्रत्येक प्रवृत्ति का सम्बन्ध जीवन-दर्शन से जोड़ा जाने लगा, और विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करनेवाले नर-नारियों अथवा नायक-नायिकाओं की कल्पनाएँ एवं प्रशस्तियाँ उल्लिखित होने लगीं।

वैदिक युग में मूल्य-दृष्टि अथवा जीवन-दर्शन की जो प्रवृत्तियाँ बीज-रूप में दिखाई देती हैं, वे रामायण तथा महाभारत के युगों में स्पष्ट रूप में अंकुरित दीख पड़ती हैं। इन प्रवृत्तियों को एकांगी गौरव एवं संघर्ष की भूमिका से निकाल कर अधिक समञ्जस एवं सुन्दर रूप में ग्रथित करने का कार्य हमारी संस्कृति के उत्कर्ष-काल में संपन्न हुआ।

प्रश्न है, वैदिक युग की भारतीय अथवा आर्य-संस्कृति में वे कौन-सी प्रवृत्तियाँ हैं जो उस संस्कृति के उत्तरकालीन विकास को नियंत्रित या निर्धारित करती हैं?

जिसे हम वैदिक साहित्य कहते हैं उसके तीन मुख्य विभाग हैं, जो आर्य-मस्तिष्क की तीन मौलिक प्रवृत्तियों अथवा पक्षपातों को विशद रूप में प्रकट करते हैं। वेद अथवा वैदिक वाङमय के ये तीन विभाग निम्नलिखित हैं—संहिता अथवा मंत्र भाग, ब्राह्मण और उपनिषद्।

मन्त्रों या संहिताओं का युग

ऋग्वेद की ऋचाओं में आर्य जाति की जिस मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है उसकी दो प्रमुख विशेषताएँ हैं; जीवन में सहज उल्लास की भावना, और विश्व के नैतिक दृष्टि से नियंत्रित होने का विश्वास।

वैदिक काल के आर्यों के मस्तिष्क में किसी प्रकार की उलझन नहीं है। जीवन का प्रयोजन क्या है, इस संबंध में वे पूर्णतया स्पष्ट हैं; विश्व का नियंत्रण करने वाली शक्तियों के बारे में भी उनके निश्चित विश्वास हैं। वे यह भी मानते हैं कि उन शक्तियों को प्रसन्न करके जीवन के उपभोग के लिए आवश्यक वस्तुओं को पाया जा सकता है। वैदिक काल के आर्य-

जीवन की आवश्यकताएँ व प्रयोजन पूर्णतया स्पष्ट हैं--धन-संपत्ति, संतान, विशेषत: वीर पुत्र, स्वास्थ्य व दीर्घायु, शत्रुओं पर विजय आदि। इन चीजों की प्राप्ति देवताओं की कृपा के बिना नहीं हो सकती, इसलिए देवताओं का अनुग्रह, कम से कम उनकी अप्रसन्नता का अभाव भी प्रयोजनीय वस्तु बन जाती है।

शक्ति, ऐश्वर्य और जीवन-संभोग

ऋग्वेद के अधिकांश मंत्रों का विषय देवताओं की स्तुति है। आराध्य अथवा उपास्य देवों की प्रशंसा करते हुए वैदिक कवि उन गुणों का निर्देश कर देते हैं जिन्हें वे वांछनीय समझते हैं। ऋग्वेद का सबसे महत्त्वपूर्ण देवता इन्द्र है कम-से-कम चौथाई मंत्रों में इन्द्र का ही स्तवन है। इन्द्र शक्तिमान् है, उसने दस्यु, दानु, रोहिण तथा वृत्र का हनन किया है वज्र या बिजली उसका शक्तिशाली अस्त्र है, जिससे उसने वृत्र का वध किया। वज्र का निर्माण त्वष्टा ने लोहे से किया। इसी से इन्द्र का नाम वज्रबाहु पड़ा। इन्द्र को सोमपान का बड़ा चाव है; सोमपान करके वह युद्ध में जाता है। वह अपने उपासकों को युद्ध में विजय देता है। जब इन्द्र वृत्र से लड़ता है तो पृथ्वी और आकाश काँपते हैं। वृत्र अथवा अहि का वध करके इन्द्र बरसने के लिए जल का मोचन कर देता है। 'जिसके नियंत्रण में घोड़े, गौएँ, ग्राम और रथ हैं, जो उषा तथा सूर्य का स्रष्टा है, जो जलों का नेता है, हे मनुष्यो, वह इन्द्र है। जिसकी सहायता के बिना मनुष्य विजयी नहीं होते, युद्ध करते समय जिसे मदद के लिए पुकारते हैं, जो सबसे अधिक बलवान् है, जो अचल चीजों को भी चला देता है; हे मनुष्यो, वह इन्द्र है'[1] 'इन्द्र के लिए जो सोमरस निचोड़ता है और जो पकाता है उसे भयंकर इन्द्र ऐश्वर्य देता है। हे इन्द्र! हम तुम्हें सदैव प्यारे हों और बलवान् पुत्रों के साथ सदैव तुम्हारी स्तुति-उपासना करें।[2]'

१. ऋग्वेद २, २२, ७ और २, १२, ९ २. ऋ० २, १२, १५

इन्द्र की उक्त स्तुतियों से इसका अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक काल के आर्य क्या चाहते थे और किन गुणों का आदर करते थे। उनकी प्रार्थना थी —'हम सौ वर्षों तक देखें, सौ वर्षों तक जीयें, सौ वर्षों तक सुनें, बोलें और सक्षम बनें रहें; और यदि सौ वर्ष के बाद जीवित रहें तो भी इसी तरह बने रहें।'[३]

आर्यों की दृष्टि में खान-पान तथा ऐश्वर्य-संपादन के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण काम शत्रुओं को नीचा दिखाना, विजयी व यशस्वी होना था—

'अग्नि के द्वारा हम प्रतिदिन धन और संपत्ति को पायें, यश प्राप्त करें और बहुत से वीरों (वीर पुत्रों) वाले हों।'[४]

वैदिक आर्यों में अनुकम्पा, क्षमा तथा अहिंसा की भावनाएँ कम मिलती हैं। इस समय तक वे इन कोमल भावनाओं से सुपरिचित नहीं हो सके थे। कारण यह था कि अब तक वे जो कुछ पा सके थे वह भौतिक शक्ति तथा युद्ध से। रुद्र की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—'रथ में बैठे उस प्रसिद्ध रुद्र की स्तुति करो जो शक्तिशाली है और भयंकर पशु की तरह मारता है।'[५]

यों ऋग्वेद में तरह-तरह के नैतिक विचार पाये जाते हैं। आज्ञाकारी पुत्र प्रशंसनीय होता है। 'जिस प्रकार पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करता है, उसी प्रकार यजमान लोग अग्नि का आदेश मानते हैं (१, ६८, ५)।' एक जगह अग्नि की 'संसार के हितैषी' पुरुष से तुलना की गयी है, जिसके माने हैं कि विश्व का हितैषी होना श्लाघनीय बात है (१, ६९, २)। एक मंत्र में अग्नि से ऐसे पुत्र की याचना की गयी है जो सत्य का पालन करनेवाला

३. पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्।

यजुर्वेद ३६, २४

४. ऋ० १, १, ३।

५. स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहन्तु मुग्रम्।

ऋ० २, ३३, ११

हो, शत्रुओं को जीतनेवाला और बाप-दादा के यश को बढ़ानेवाला हो (४, २५, ५–६)। वरुण के लिए कहा गया है कि वे असत्य के विघातक हैं (७, ८४. ४)। एक मंत्र में अनेक पापों का उल्लेख है—ब्रह्महत्या, शराबखोरी, चोरी, गुरुपत्नी-गमन, पुनः-पुनः पापाचरण, पाप करके न कहना (१०, ५, ६)।

ऋग्वेद में आपद्धर्म का भी उल्लेख है। स्तुतिकर्त्ता अपनी सफाई देते हुए कहता है—'हमने जीवनोपाय के अभाव में कुत्ते की अँतड़ी को पकाकर खाया था (४, १८, १३)।' मतलब यह था कि जीवन की रक्षा के लिए अभक्ष्य पदार्थ को भी खाया जा सकता है। आगे यही विचार विश्वामित्र और चांडाल की कथा में मिलता है। एक स्थल में कहा गया है कि कर्महीन मनुष्य गर्हित होता है—'हे इन्द्र, तुम कर्महीन मनुष्यों को गर्हित बनाते हो (४, २८, ४)।' तात्पर्य यह है कि कर्महीन मानव निन्दनीय होता है। यह विचार भी महाभारत में मिलता है।

वरुण और नैतिक चेतना

ऐश्वर्य, विजय तथा यश के इच्छुक होते हुए भी वैदिक आर्य नैतिकता के प्रति विमुख नहीं थे। वे मानते थे कि विश्व में तथा मानव-जीवन में नैतिक नियमों का शासन है। उनकी यह आस्था 'ऋत' की धारणा में संन्निहित है। वैदिक ऋत शब्द व्यवस्था या नियमशीलता का वाचक है। वैदिक आर्यों की दृष्टि में वरुण नामक देवता ऋत अर्थात् नैतिक व्यवस्था का रक्षण करनेवाला है; उनकी मान्यता में उस देवता को नाराज करना संकट को निमंत्रण देना था।

वैदिक देवताओं में वरुण का विशेष स्थान है। वरुण शांतिप्रिय देवता है। वह विश्व का नियन्ता और शासक है। अपने स्थान में गुप्तचरों से घिरे हुए बैठकर वरुण जगत् का शासन करता है। वरुण का एक विशेषण धृतव्रत है। वह प्राकृतिक और नैतिक नियमों का संरक्षक है। धर्म के विरुद्ध चलनेवालों को वरुण द्वारा दंड मिलता है। प्रकृति और नैतिक

जीवन दोनों पर अखंड नियमों का शासन है। नियमों की इस व्यापकता को ऋग्वेद में 'ऋत' नाम से संकेतित किया गया है। 'ऋत से ही सारा संसार उत्पन्न होता है। वरुण ऋत का रक्षक है (गोपा ऋतस्य)। मनुष्यों के अच्छे-बुरे कर्म वरुण से छिपे नहीं रहते; वह सर्वज्ञ है जो आकाश में उड़नेवाले पक्षियों का मार्ग जानता है, और समुद्र में चलनेवाली नावों को जानता है। वरुण बारह मासों को जानता है और जो तेरहवाँ (लौंद का) महीना पैदा हो जाता है उसे भी जानता है।'[६] स्पष्ट ही वरुण से किये हुए पापों को नही छिपाया जा सकता। जाने या अनजाने दुष्कर्म हो जाने पर एक ही रास्ता रह जाता है; वरुण से क्षमा माँगना।

'हे वरुण, यह मेरा संकल्प (संकल्पित पाप) नहीं था; यह बहकावा था; यह मदिरा, क्रोध, जुआ, विचारहीनता थी; बड़े की प्रेरणा से छोटे द्वारा अपराध हुआ है; नींद भी पाप (की स्मृति) को दूर नहीं कर पाती।'[७]

'हमें पितरों के पाप से मुक्ति दो और उनसे, जो हमने स्वयं किये हैं।'[८]

हमने वैदिक आर्यों की मनोवृत्ति के दो पहलुओं का वर्णन किया। उनका यह विश्वास था कि मानव-जगत् का देवताओं के संसार से घना संबंध है। ऋग्वेद के अधिकांश देवता प्राकृतिक शक्तियों में चेतना के आरोप द्वारा उद्भूत हुए दिखाई देते हैं। वे बाद के ब्रह्म की भाँति अतीन्द्रिय व अशरीरी नहीं हैं। फिर भी वे प्राचीन आर्यों को रहस्यमय प्रतीत होते ही रहे होंगे। बाद के सांस्कृतिक इतिहास में इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के महत्त्व में अंतर पड़ता गया। किन्तु यह विश्वास कि मनुष्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसी चेतन शक्तियाँ भी हैं जो मनुष्य पर क्रोध व अनुग्रह कर सकती हैं, उसे सुख-दुःख पहुँचा सकती हैं और उसके प्रयत्नों में हस्तक्षेप कर सकती हैं; लगातार हिन्दू जाति के साथ रहा। इस विश्वास ने हिन्दुओं के धर्म व साहित्य को गहरे तथा विस्तृत रूप में प्रभावित किया।

६. ऋ० २, २५, ७–८। ७. ऋ० ७, ८६, ६

८. ऋ० ७, ८६, ५

प्रकृतिप्रेम

ऋग्वेद के सूक्तों में भारतीय संवेदना की एक और विशेषता लक्षित की जा सकती है—उसका प्रकृतिप्रेम। जैसा कि हमने संकेत किया, वैदिक देवता प्रायः प्राकृतिक शक्तियों के ही अधिष्ठाता हैं। फलतः इन देवताओं के वर्णन में अक्सर कवित्वपूर्ण चित्रों का समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से कुछ देवता विशेष उल्लेखनीय हैं, जैसे उषस्, सूर्य, द्यौ, मरुत तथा पर्जन्य। उदय होते हुए सूर्य के वर्णन में वैदिक कवियों ने स्वर्ण के रंग का संकेत देनेवाले विशेषणों का प्रचुर प्रयोग किया है। 'स्वर्ण के रथ में आता हुआ सूर्य समस्त भुवनों को देखता है।'[९] सूर्य हिरण्यपाणि अथवा हिरण्यहस्त (सुवर्ण के हाथोंवाला) है। उसकी उपमा पक्षी से भी दी गयी है जो अंतरिक्ष का पर्यवेक्षण करता है। सूर्य बुरे सपनों को भी हटाता है, वह भूत-प्रेत की बाधा को दूर करता है और मनुष्यों को पापों से निवृत्ति देता है।

ऋग्वेद में उषस् के वर्णन भी बड़े काव्यमय हैं। नर्तकी के समान सुन्दर वस्त्रों से सजी हुई उषा प्राची में प्रकट होकर अपने सौन्दर्य का प्रकाशन करती है। प्राचीन होने पर भी उषा सदैव नवयौवना है, वह बार बार नया जन्म लेती है। उषा का सूर्य से घनिष्ठ संबंध है; वह सूर्य की प्रिया या प्रेयसी है। चूँकि उषा आकाश में जन्म लेती है, इसलिए उसे 'दिव की दुहिता' कहा जाता है। एक सूक्त के कुछ पद्य इस प्रकार हैं[१०] —

हे उषे बहु - अन्नवाली धीमती प्राज्ञी,
हे विभव-शालिनि हमारा हो स्तवन स्वीकार।
अहह प्राचीने तुम्हारा है अचल यौवन,
विश्व - कमनीया नियम से कर रहीं पद - चार।

९. हिरण्येन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्। ऋ० १।३५।२

१०. ऋग्वेद ३, ६१, १–५

स्वर्णमय रथ पर उदित होतीं अमर देवी,
मुक्त तुम करतीं विहंगों का सुरीला गान।
आशु - गति ओजस्विनी रवि की कनक-वर्णे,
रश्मियाँ करतीं वहन सुन्दर तुम्हारा यान।
विश्व के संमुख अमरता की पताका - सी,
ऊर्ध्व - नभ में नित्य तुम होतीं उषे शोभित।
अयि सदा - नवयौवने! इस एक ही पथ में,
चक्र - सी घूमो निरंतर कर भुवन मोहित।
तिमिर का अंचल हटाती रवि - प्रिया सुन्दर,
भूमि - नभ के बीच जब करती चरण - निक्षेप,
सुभग अंगों की प्रभा से विमल देवी के,
जगत हो उठता प्रकाशित निमिष भर में एक।
सामने आभामयी के सब प्रणति के साथ,
ला धरो यज्ञान्न का, हवि का मधुर उपहार।
रोचना, रमणीय - रूपा की मनोहर कांति,
ढालती आकाश में आलोक की मधु - धार।

उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में जहाँ-तहाँ प्रकृति के बड़े अलंकृत वर्णन मिलते हैं, किन्तु स्वतः स्फूर्त भावुकता एवं स्वाभाविक चित्रमयता में वे वर्णन वैदिक वर्णनों से होड़ ले सकते हैं; इसमें सन्देह है।

ब्राह्मण-युग

अब हम ब्राह्मण-युग की पर्यालोचना करेंगे। ब्राह्मण ग्रंथों का उद्देश्य वैदिक संहिताओं की, एक विशिष्ट दृष्टि से, व्याख्या करना है। किन्तु उनकी भावना वैदिक सूक्तों से एकदम भिन्न, लगभग विपरीत है। वैदिक आर्य स्वाभाविक भक्तिभावना के साथ अपने इष्ट देवों की उपासना करते थे। स्तुतियों के अवसर पर वे हवन आदि क्रियाएँ भी करते थे, किन्तु ये क्रियाएँ गौण ही थीं। देवताओं तथा उनके बीच स्थापित होनेवाले संबंध

में भावना की ही प्रधानता थी। किन्तु ब्राह्मण-युग में वह संबंध यांत्रिक देन-लेन का रूप धारण करने लगा; उसमें स्वार्थपूर्ण हिसाब करने की प्रवृत्ति का समावेश हो गया और उसकी सहजता नष्ट हो गयी। यह ठीक है कि ऋग्वेद के आर्य भी ऐहिक सुख-भोग एवं सफलता के प्रार्थी थे, किन्तु उनकी ये वृत्तियाँ भावनाहीन, कठोर व्यावहारिकता का रूप नहीं ले पायी थीं। ब्राह्मण-युग के आते-आते आर्य मनोवृत्ति संकीर्ण रूप में व्यावहारिक तथा उपयोगितावादी बन गयी।

ब्राह्मण-युग में पुरोहितों का अलग वर्ग बन चुका था। ये पुरोहित वेद-मंत्रों के अभिप्राय को बिलकुल ही गलत ढंग से समझते-समझाते थे। उनका विचार था कि वे मंत्र यज्ञ-विधानों के सहकारी साधन मात्र हैं। मंत्रों का संबंध याज्ञिक क्रियाओं से होना चाहिए। जिन मंत्रों का इस तरह संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता था, वे उन्हें निरर्थक जान पड़ते थे। चार तरह के पुरोहित होते थे——होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता और ब्रह्मा। पहले तीन वर्गों के पुरोहित यज्ञ के समय क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के मंत्रों का पाठ करते थे। अध्वर्यु का काम मुख्यतः यज्ञ से संबंधित भौतिक क्रियाओं को ठीक से अनुष्ठित कराना था। ब्रह्मा नाम का पुरोहित इस बात का ध्यान रखता था कि होता आदि पुरोहित अपना कार्य ठीक-ठीक करें, उनसे कहीं भूल न हो। यह समझा जाता था कि यज्ञ के अनुष्ठान को एक विशेष क्रम से ठीक से करना चाहिए; इस प्रकार किया अनुष्ठान ही उचित रूप में फल देता है।

यों ब्राह्मण-युग में जीवन के लक्ष्य तथा प्रयोजन के बारे में कोई ऐसी धारणा नहीं बनायी गयी जो वैदिक युग से भिन्न हो। अब भी आर्य लोग तेज की, ब्रह्मवर्चस् की, स्वर्ग की तथा यश की कामना करते थे; अब भी वे सांसारिक ऐश्वर्य, सुखभोग, पुत्रों आदि के लिए प्रार्थी रहते थे।[११] किन्तु

११. तुलना कीजिए——तेजस्वी ब्रम्हवर्चस्वी भवति य एवं विद्वान् गायत्र्यौ कुरुते। अनुष्टुभौ स्वर्गकामः कुर्वीत। बृहत्यौ श्रीकामो यश-

अब उन्हें कुछ यह आभास होने लगा था कि इन चीज़ों की प्राप्ति उतनी देवताओं की कृपा पर निर्भर नहीं है, पुरोहितों के द्वारा ठीक से यज्ञों के अनुष्ठान कराकर वे अभिलषित वस्तुओं को प्राप्त कर सकते थे। इस विश्वास के उत्पन्न करने में, स्पष्ट ही, पुरोहित ब्राह्मणों का विशेष हाथ था। उन्हें उससे लाभ की संभावना भी थी।

इस प्रकार की आस्था का एक खास पहलू है जिस पर हमें ध्यान देना चाहिए। मनुष्य में शक्ति के संपादन की बलवती आकांक्षा है। आधुनिक युग में मनुष्य ने वैज्ञानिक बोध द्वारा प्रकृति की शक्तियों पर नियंत्रण स्थापित किया है। वैज्ञानिक लोग शक्ति की प्राप्ति के लिए भक्ति-विह्वल होकर किसी देवता का स्तुति-गान नहीं करते। ब्राह्मण-युग के पुरोहितों के अनुसार भी इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के लिए देवताओं की भक्ति आवश्यक नहीं थी। भक्ति के स्थान पर मंत्र थे, ठीक अवसरों पर मंत्रों के ठीक उच्चारण द्वारा देवताओं को वश में किया जा सकता था और उन्हें मजबूर किया जा सकता था कि वे यज्ञकर्ता को अभीष्ट फल दें। यह समझा गया कि यज्ञ-विधानों तथा विशिष्ट फलों की प्राप्ति में यांत्रिक कार्य-कारण जैसा संबंध था। इस मान्यता का एक व्यावहारिक निष्कर्ष पुरोहितों के महत्त्व का विश्वास था। जैसा कि बाद में कहा गया—

दैवाधीनं जगत्सर्वं मंत्राधीनाश्च देवताः।
ते मंत्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदैवतम्॥

अर्थात् संसार देवताओं के अधीन है, देवता मंत्रों के और मंत्र ब्राह्मणों के; इसलिए मानना चाहिए कि ब्राह्मण देवता हैं। ब्राह्मण-काल के पुरोहितों की दृष्टि में वेदमंत्रों का कुछ वैसा ही महत्त्व था, जैसा कि वैज्ञानिकों

स्कामः कुर्वीत। त्रिष्टुभौ वीर्यकामः कुर्वीत। जगत्यौ पशुकामः कुर्वीत॥

मैक्समूलर कृत 'ए हिस्ट्री ऑव एंशियण्ट संस्कृत लिट्रेचर' में ऐतरेय ब्राह्मण से उद्धृत, पृ० २०६–२०७।

तथा इंजीनियरों द्वारा निर्मित वर्तमान सभ्यता में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक गणित के सूत्रों का।

तात्पर्य यह कि आर्यों के यज्ञ-विधान, जिनका ब्राह्मण-युग में प्रचार हुआ, उनकी वैज्ञानिक मनोवृत्ति का प्रकाशन थे, न कि धार्मिक भावना का। वैज्ञानिक मनोवृत्ति का लक्ष्य ज्ञान के साथ-साथ शक्ति का संपादन भी होता है। वस्तुतः साइंस या विज्ञान का बोध इस प्रकार का होता है कि उसके द्वारा तथ्य-जगत् पर प्रभुत्व या नियंत्रण स्थापित कर लिया जाय। ब्राह्मण-युग के पुरोहितों ने अपनी वैज्ञानिक वृत्तियों का उपयोग या दुरुपयोग मंत्रपाठ के जटिल रूपों की सृष्टि और उन पर अधिकार प्राप्त करने में किया, प्रकृति के वस्तुनिष्ठ निरीक्षण व अध्ययन में नहीं।

ब्राह्मण-युग की यह प्रवृत्ति बाद में मीमांसा-दर्शन तथा उसकी व्याख्याओं के रूप में पल्लवित हुई। इतना ही नहीं, उसने आर्य मस्तिष्क को गलत ढंग से कल्पनाशील भी बनाया। कहा गया है कि संस्कृत काव्यों में पाये जानेवाले युद्धों के वर्णन बहुत हद तक काल्पनिक हैं। उनका उन वास्तविक युद्धों से, जो यहाँ लड़े जाते रहे, दूर का लगाव भी नहीं है। भीष्म तथा द्रोण, अर्जुन और कर्ण, लक्ष्मण और मेघनाद, राम और रावण, सब अपने बाणों तथा दूसरे अस्त्रों को अभिमंत्रित करके, मंत्रों द्वारा क्षमता-संपन्न बनाकर प्रयुक्त करते हैं। इस अभिमंत्रण से उन शस्त्रास्त्रों की कल्पित शक्ति बेहद बढ़ जाती है, जिससे कवि तथा उसके पाठक लगातार चकित होते रहते हैं। संभवतः मंत्र-शक्ति के इस कल्पना-मूलक विश्वास ने हमारे देश में निरीक्षण व प्रयोग पर आधारित विज्ञान का उदय होने में बाधा दी।

उपनिषद्-काल

वैदिक वाङमय का तीसरा महत्त्वपूर्ण भाग उपनिषद् हैं। ब्राह्मण-ग्रंथों के कुछ अंश आरण्यक नाम से ख्यात हुए और आरण्यकों के कुछ अंश उपनिषद् कहलाने लगे। इस प्रकार उपनिषद् ब्राह्मणों से संबंधित

हैं, किन्तु वास्तव में दोनों की भावना में आकाश-पाताल का भेद है। ब्राह्मण-ग्रंथों की कर्मकांड में रुचि है, तो उपनिषदों की ज्ञान में। ब्राह्मणों के यज्ञ-विधान इस लोक में संतान, ऐश्वर्य, राज्य आदि तथा परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति के लिए थे, इसके विपरीत उपनिषदें इन चीजों के प्रति वैराग्य का प्रदर्शन तथा उपदेश करती हैं। उपनिषदों का परम ज्ञेय आत्मा या ब्रह्म है, और परम ध्येय मुक्ति या अमृतत्व। उनमें ब्राह्मणों के कर्मकांड के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया है। मुंडकोपनिषद् कहती है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युन्ते पुनरेवापि यान्ति॥ १, २,७

अर्थात् यज्ञरूप कर्म, जिनमें सोलह ऋत्विक्, यजमान और उसकी पत्नी ये अठारह भाग लेते हैं, पुरानी अर्थात् कमजोर नौकाओं के समान हैं। जो मूढ़ लोग श्रेय समझकर उनका अभिनंदन करते हैं वे बार-बार वृद्धावस्था तथा मृत्यु को प्राप्त करते हैं। मतलब यह कि यज्ञों के अनुष्ठान परम श्रेय के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

चूँकि यज्ञ-विधान पुरोहितवर्ग के आर्थिक लाभ से संबंधित थे, इसलिए कुछ विद्वानों का विचार है कि कर्मकांड-विरोधी यह प्रतिक्रिया, जो उपनिषदों में पायी जाती है, विचारशील क्षत्रियों के बीच शुरू हुई। उपनिषदों के अनेक शिक्षक क्षत्रिय हैं, जैसे जनक और अजातशत्रु। गीता में कर्मयोग के विषय में श्रीकृष्ण कहते हैं—'हे अर्जुन, इस अविनाशी योग को मैंने (शुरू में) विवस्वान् से कहा था, विवस्वान् ने मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु से। इस प्रकार परंपरा से प्राप्त हुए इस योग को राजर्षियों ने जाना। किन्तु हे अर्जुन, यह योग बहुत काल से यहाँ लुप्त हो गया था।'[१२]

१२. गीता, अध्याय ४, श्लोक १, २

'बुद्धचरित' में भी लिखा है कि 'योगविधि' में द्विजों का आचार्य होने का जो पद दूसरों को प्राप्त नहीं हुआ, उसे जनक ने पाया 'आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।' सर्ग १, श्लोक ४५।

इस कथन से जान पड़ता है कि गीतोक्त योग की शिक्षा का प्रारंभ क्षत्रिय राजाओं के बीच हुआ, और अर्जुन से पहले भी वह राजर्षियों की ही संपत्ति था। इस स्थापना में कुछ सचाई हो सकती है। किन्तु यह जरूरी नहीं कि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति विद्रोह की भावना सिर्फ क्षत्रियों में ही उत्पन्न हुई हो। वैसी प्रतिक्रिया दूसरे वर्णों के संवेदनशील सदस्यों में भी उभर सकती थी। उपनिषदों के अनेक शिक्षक ब्राह्मण भी हैं। यों यह उल्लेखनीय बात है कि कर्मकाण्ड अथवा हिंसापूर्ण यज्ञों के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया बौद्ध धर्म में हुई, जिसके प्रवर्तक बुद्धदेव क्षत्रिय थे।

देखने की बात यह है कि भारतवर्ष के संवेदनशील विचारकों ने उस जीवन तथा उन जीवन-मूल्यों के प्रति, जिनका संबंध भौतिक-शारीरिक संपत्ति तथा सुखभोग से है, विरक्ति का अनुभव किया। सांसारिक भोगैश्वर्य के प्रति यह वैराग्य-भावना, भौतिक सुखों की सीमाओं तथा नश्वरता की यह तीखी अवगति, भारतीय सांस्कृतिक चेतना की एक स्थायी प्रवृत्ति है। हम देखेंगे कि यह भावना उन शासकों तथा विजेताओं में भी, जिनका प्रमुख कार्य भौतिक शक्ति तथा ऐश्वर्य का संपादन है, अक्सर उभर आती है। उपनिषद् में कहा है—'जो भूमा है अर्थात् बृहत् या विशाल अथवा असीम है, उसी में सुख है; अल्प में, सीमित में, सुख नहीं है।' तात्पर्य यह कि भारतीय संवेदना भौतिक सुखभोग तथा ऐश्वर्य में निहित ससीम तृप्तियों से संतुष्ट नहीं होती। याज्ञवल्क्य के यह कहने पर कि 'आओ, मैं तुम्हारे और दूसरी पत्नी के बीच संपत्ति का बँटवारा कर दूँ', मैत्रेयी ने उत्तर में पूछा—'क्या संपत्ति पाकर मैं अमर हो जाऊँगी?' यदि संपत्ति से अमरता नहीं मिलती तो संपत्ति व्यर्थ है। इसी प्रकार यम के प्रलोभन देने पर नचिकेता ने कहा—'राज्य, ऐश्वर्य, स्त्रियाँ और यौवन सब नाशवान् हैं; मुझे ये सब नहीं चाहिए, मुझे आप ज्ञान का उपदेश कीजिए।'

संक्षेप में, वैदिक-काल के विभिन्न युगों में भारतीय मनोवृत्ति की उपर्युक्त विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। आगे के युगों में इन विशेषताओं का बड़े जटिल रूपों में विकास व विस्तार हुआ।

रामायण-महाभारत में सांस्कृतिक चेतना

भूमिका में हमने संस्कृति को मानवीय व्यक्तित्व की विशेषता के रूप में लक्षित किया था। संस्कृति से तात्पर्य है व्यक्तित्व की वे विशेषताएँ, जिनका उपयोग वाञ्छित मूल्यों के उत्पादन में होता है। प्रश्न है, किसी संस्कृति के विकास या परिवर्तन के पीछे कौन-से कारण या स्थितियाँ रहती हैं? इसका उत्तर कुछ इस प्रकार होगा। जीवन के लक्ष्य की जो धारणा लेकर हम चलते हैं वह निरंतर विकसित व परिवर्द्धित होती रहती है। एक जाति यह मानकर अपना ऐतिहासिक जीवन शुरू कर सकती है कि उसका लक्ष्य सुख-भोग है, किन्तु जीवन के बढ़ते हुए अनुभव, संपत्ति के बदलते-विकसित होते रूपों और उनसे संबंधित बदलते-बढ़ते सुखभोग के साधनों के साथ उक्त धारणा भी सरल से जटिलतर बन जाती है। सुखभोग का एक ही रूप नहीं है, और उसके अनेक रूप एक-दूसरे से विषम तथा परस्पर-विरोधी भी हो सकते हैं। यदि कोई जाति सुखभोग के अतिरिक्त दूसरे मूल्यों को भी स्वीकार करती है, तो उसके लिए, कालांतर में यह निर्णय करना भी जरूरी हो सकता है कि दो या अनेक मूल्यों के बीच किसकी कितनी मुख्यता है। इसी प्रकार विभिन्न मूल्यों के उत्पादन अथवा लाभ के लिए अपेक्षित साधनों में भी असामंजस्य उपस्थित हो सकता है, यह असामंजस्य व्यक्तित्व के उन गुणों के बीच भी प्रतीत हो सकता है जो व्यक्ति को मूल्योत्पादन के लिए सक्षम बनाते हैं। उदाहरण के लिए यह प्रश्न उठ सकता है कि राज्य तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए तेजस्विता अथवा उपयुक्त क्रोध व दृढ़ता अधिक उपादेय गुण है, या मृदुता और क्षमाशीलता? किसी जाति के सामने ऐसे प्रश्न तब उठते हैं जब उसके जीवन और इतिहास की परिस्थितियाँ जटिल हो जाती हैं। वैसी स्थिति में उस जाति को विभिन्न जीवन-मूल्यों के आपेक्षिक महत्त्व और उनका लाभ करानेवाले साधनों की आपेक्षिक उपादेयता के संबंध में लंबा एवं गहरा चिन्तन करना पड़ जाता है। इस प्रकार का चिंतन करते हुए कोई

जाति किसी सामंजस्य अथवा समन्वय तक पहुँच ही जाय, यह आवश्यक नहीं है। वह बहुत काल तक असामंजस्य, अंतर्विरोध एवं अंतर्द्वन्द्व की स्थिति में पड़ी रह सकती है। यह भी संभव है कि वह अपने विचारकों के साहसपूर्ण, मौलिक एवं दूरगामी चिंतन में किसी ऐसे समन्वय को प्राप्त कर ले जो बहुत काल तक मनुष्यों को प्रेरणा देता रहे।

जिस युग तथा जीवन का चित्र महाभारत में है वह अनेक प्रकार के अंतर्विरोधों तथा बाहरी-भीतरी द्वन्द्वों से पूर्ण है। महाभारत में इन विरोधों तथा संघर्षों की तीखी चेतना पायी जाती है। महाभारत में जिस युग तथा समाज का चित्रण हुआ है वह नितांत जटिल एवं संघर्षपूर्ण है। वैदिक काल के आर्य सब आपस में एक होकर तथाकथित दस्युओं से लोहा लेते थे, किन्तु महाभारत-काल में युद्ध तथा वैमनस्य का क्षेत्र स्वयं आर्यों का अपना जीवन था। वहाँ संघर्ष दो सभ्यताओं या संस्कृतियों के बीच नहीं था, उसका रंगमंच स्वयं आर्यों का भीतरी तथा बाहरी जीवन-प्रवाह था।

इसके विपरीत रामायण में चित्रित संघर्ष बहुत हद तक दो भिन्न संस्कृतियों या सभ्यताओं का संघर्ष है। जहाँ युधिष्ठिर तथा दुर्योधन दो भिन्न जीवनादर्शों को लेकर अग्रसर होते हैं, वहाँ राम और भरत के बीच वैसी कोई भिन्नता नहीं है। दशरथ से कैकेयी द्वारा वरदान माँगने की घटना में, अवश्य ही आपसी संघर्ष के बीज हैं, किन्तु रामायण में ये बीज अंकुरित होकर कोई खराब फल नहीं देते। वहाँ संघर्ष का मुख्य क्षेत्र लंका है, अयोध्या नहीं; और संघर्ष दो भिन्न संस्कृतियों के बीच होता है। आदिकवि की दृष्टि में ये संस्कृतियाँ नितान्त भिन्न जीवन-मूल्यों की प्रतीक हैं।

महाभारत में कर्म व संघर्ष की प्रधानता है, इसीलिए हमारी परंपरा में महाभारत को काव्य की संज्ञा नहीं दी गयी है। विशुद्ध काव्य में सौन्दर्य-दृष्टि की प्रधानता होती है, वहाँ कर्म का वर्णन प्रधान नहीं होता। इसके विपरीत हमारे यहाँ रामायण को काव्य और आदिकाव्य का गौरवपूर्ण

नाम दिया गया है। निश्चय ही महाभारतकार की अपेक्षा आदि-कवि की दृष्टि सौन्दर्य की ओर अधिक उन्मुख है, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें कर्म अर्थात् युद्धों तथा दूसरे संघर्षों का वर्णन काफी प्रधानता लिये हुए नहीं है।

अब हम रामायण-महाभारत में निहित सांस्कृतिक चेतना के विभिन्न पहलुओं पर अलग-अलग दृष्टिपात करेंगे।

सौन्दर्य-चेतना

मानव-जीवन के दो प्रधान पहलू हैं, जिनका संबंध उसकी दो प्रकार की जरूरतों से रहता है। प्रायः सभी प्रकार के समाजों में जीवित रहने के साधनों अथवा उपकरणों को जुटाने की समस्या उपस्थित रहती है। इस संबंध में मानव-समाज में एक विचित्र स्थिति देखी जाती है; तथाकथित बड़े या महत्त्वपूर्ण लोग अस्तित्व की जरूरतों से संबंधित घटिया काम दूसरों से करा लेते हैं। प्राचीन आर्य जाति के सदस्य यहाँ अपना उस प्रकार का काम शूद्रों से कराते थे। बहुत हद तक यह स्थिति आज तक बनी हुई है। इस प्रकार की सेवा-प्राप्ति इस पर निर्भर करती है कि एक वर्ग के सदस्यों का दूसरे वर्ग के सदस्यों पर किसी न किसी प्रकार का आधिपत्य हो। यह आधिपत्य प्रायः राजनीतिक या दूसरी कोटि की शक्ति द्वारा प्राप्त होता है। प्राचीन काल से राजनीतिक प्रभुत्व शक्ति का केन्द्र रहा है। वैदिक काल के आर्य प्रायः इस देश के आदिम निवासियों से लड़ते थे। बाद में स्वयं आर्य राजाओं के बीच भी युद्ध होने लगे। 'महाभारत' का प्रधान विषय एक ऐसा ही बड़ा युद्ध है। महाभारतकार की मुख्य दिलचस्पी उन वीरों अथवा नायकों में है जिन्होंने भारत-युद्ध में भाग लिया; इन वीरों की जय-पराजय की कथा ही 'महाभारत' का प्रधान विषय है। महाभारत का युद्ध मुख्यतः राज्य तथा शक्ति के लिए हुआ था; जैसा कि हमने संकेत किया, वह दो संस्कृतियों का संघर्ष नहीं था।

किन्तु मानव-जीवन का ध्येय केवल शक्ति का संचय और उसके द्वारा

अस्तित्व के साधनों पर आधिपत्य ही नहीं है। मनुष्य विशुद्ध सौन्दर्य की खोज भी करता है, और वह अस्तित्व के कुछ क्षणों में केवल रस के लिए भी जीवित रहता है। इस रस की प्राप्ति मुख्यतः सौन्दर्य-साधना से होती है; सौन्दर्य की सृष्टि एवं अनुभूति जीवन-संभोग का एक प्रधान उपकरण है। प्रायः हमारी दृष्टि सौन्दर्य की ओर तब जाती है जब हमारे सामने अस्तित्व-संबंधी संघर्ष से लगाव रखनेवाली समस्याएँ न हों। 'रामायण' में शुरू के दो कांडों में राम के जिस जीवन का चित्रण है, वहाँ सौन्दर्य-साधना का समावेश है। बाद में, रावण द्वारा सीताहरण होने पर, राम-सीता के सामञ्जस्यपूर्ण जीवन में व्याघात उपस्थित हो जाता है। इस व्याघात के लिए उत्तरदायी रावण को दण्ड देना राम का एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य बन जाता है। आदिकवि ने इस व्याघात के परिणामों का विशद वर्णन किया है। वियोजित राम और सीता के कष्ट का अनुभव और उल्लेख सर्वत्र दिखाई देता है। इसी प्रकार अयोध्याकांड में पिता-माता के पुत्र से जुदा होने के कष्ट का विस्तृत उल्लेख है। एक मनुष्य जिस आनन्द अथवा दुःख को दूसरे मनुष्य के संयोग या वियोग मात्र से पाता है वह काव्य का उपयुक्त विषय है। 'महाभारत' में इस कोटि के सुख-दुःख का वैसा वर्णन कम ही मिलता है, और जहाँ मिलता भी है—जैसे अभिन्यु के वध के अवसर पर और फिर सौप्तिक-पर्व तथा स्त्री-पर्व में—वहाँ नैतिक विक्षोभ की ही प्रधानता है, व्यक्ति-विषयक सौन्दर्य-बोध की नहीं।

वस्तुतः 'महाभारत' में जहाँ युद्ध में भाग लेनेवाले वीरों की नैतिकता एवं शूरता के वर्णनों की भरमार है, वहाँ विशुद्ध सौन्दर्य-दृष्टि के उद्घाटक विवरण बहुत कम हैं। यही बात स्त्री-पात्रों से संबंधित वर्णनों पर भी लागू होती है। महाभारत में प्रकृति-वर्णनों की भी विरलता है। ऐसा कहीं नहीं मालूम पड़ता कि लेखक विशेष रस के साथ किसी नायिका अथवा प्रकृति का वर्णन कर रहा हो।

हमने कहा कि 'महाभारत' में प्रकृति-संबंधी वर्णनों की विरलता है। द्रोण-पर्व में एक जगह चन्द्रोदय का वर्णन है।

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता॥
द्रोणपर्व, ११।५४९

'तब कामिनी के कपोल के समान शुभ्रवर्ण, नेत्रों को आनंद देनेवाले कुमुदनाथ चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को अलंकृत किया।' यह पद्य प्रकृति-वर्णन का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। यहाँ कवि ने एक आकर्षक उपमा द्वारा चन्द्रमा के श्वेत सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया है। भाषा में एक विशिष्ट प्रकार का सौष्ठव एवं चमत्कार है, जो इस बात का द्योतक है कि उसे विशेष प्रयत्न से सँवारा-सँजोया गया है। इस स्थल में कुछ दूसरे पद्य भी सुन्दर हो सके हैं।

''महाभारत' में इस कोटि के प्रकृति-वर्णन बहुत कम हैं। वन-पर्व में एक जगह गंधमादन पर्वत का वर्णन है। वह वर्णन प्रायः विवरणात्मक है, वहाँ भाषा व चित्रों का ऐसा चमत्कार दिखाई नहीं पड़ता। फिर भी उसमें निरीक्षण की समृद्धि एवं व्यंजना की सहजता का आकर्षण है—

ततः किंपुरुषावासं सिद्धचारणसेवितम्।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः पर्वतं गन्धमादनम्॥
विद्याधरानुचरितं किन्नरीभिस्तथैव च।
गजसंघसमावासं सिंहव्याघ्रगणायुतम्॥
शरभोन्नादसंघुष्टं नानामृगनिषेवितम्।
ते गन्धमादनवनं तन्नन्दनवनोपमम्॥
मुदिताः पाण्डुतनया मनोहृदयनन्दनम्।
विविशुः क्रमशो वीराः शरण्यं शुभकाननम्॥
श्रोत्ररम्यान् सुमधुराञ्छब्दान् खगमुखेरितान्।
सर्वर्तुफलभाराढ्यान् सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वलान्॥
पश्यन्तः पादपांश्चापि फलभारावनामितान्।
आम्रानाम्रातकान्भव्यान्नारिकेलान् सतिन्दुकान्॥

मुञ्जातकांस्तथाञ्जीरान्दाडिमान् बीजपूरकान्।
पनसांल्लकुचान् मोचान् खर्जूरानम्लवेतसान्॥

× × ×

चकोरैः शतपत्रैश्च भृंगराजैस्तथा शुकैः।
कोकिलैः कलविंकैश्च हारीतैर्जीवजीविकैः॥
प्रियकैश्चातकैश्चैव तथान्यैर्विविधैः खगैः।
श्रोत्ररम्यं सुमधुरं कूजद्भिश्चात्यधिष्ठितान्॥
सरांसि च मनोज्ञानि समन्ताज्जलचारिभिः।
कुमुदैः पुण्डरीकैश्च तथा कोकनदोत्पलैः॥
कह्लारैः कमलैश्चैव आचितानि समन्ततः।

× × ×

सिन्धुवारांस्तथोदारान् मन्मथस्येव तोमरान्।

× × ×

तथैव वनराजीनामुदारान् रचितानिव।
विराजमानांस्तेऽपश्यंस्तिलकांस्तिलकानिव ॥

वनपर्व १५८।३८, से ६८ तक विविध।

'तब उन्होंने सिद्धों तथा चारणों से सेवित, किन्नरों के आवासस्थल गन्धमादन पर्वत को देखा, देखकर उनका रोम-रोम हर्ष से खिल उठा। उस पर्वत पर विद्याधर तथा किन्नरियाँ क्रीड़ाविहार करते थे, तथा झुंड के झुंड हाथी, सिंह और व्याघ्र बसते थे। छोटे हाथियों के शब्द से गुञ्जायमान, तरह-तरह के पशुओं से सेवित, नन्दनवन के समान हृदय को आनन्द देने-वाले श्रेष्ठ गन्धमादन वन में मुदित पांडुपुत्रों ने क्रमशः प्रवेश किया।

× × ×

विहंगों के मुख से निःसृत सुन्दर व मधुर, श्रवणसुखद, मादक तथा मोदजनक शुभ शब्द सुनते हुए, सभी ऋतुओं के पुष्पों एवं फलों से सुशोभित भारावनत वृक्षों को देखते हुए, आम, आमड़ा, भव्य नारियल, तेन्दू, मुञ्जातक, अञ्जीर, अनार, नीबू, कटहल, लकुच (बड़हर), मोच (केला),

खजूर. . . (आदि को वहाँ देखा)। चकोर, शतपत्र (मोर), भृङ्गराज, शुक, कोयल . . . चातक आदि खगों से, जो मधुर कूजन कर रहे थे, अधिष्ठित . . . चारों ओर जलचर जन्तुओं से भरे सुन्दर सरोवरों को, जिनमें कुमुद, पुंडरीक, कोकनद, उत्पल, कह्लार तथा कमल सब ओर भरे थे (उन्होंने देखा)। उन्होंने सुन्दर हारसिंगार के पौधों को देखा जो कामदेव के तोमर नामक बाण जैसे प्रतीत होते थे।

× × ×

और सुन्दर तिलक-वृक्षों को देखा, जो वनराजियों के ललाटों में रचित मनोरम तिलकों के समान दीख रहे थे; और मञ्जरियों से शोभित कामदेव के बाणों की-सी आकृतिवाले आम के वृक्षों को (देखा)।'

हमने संकेत किया था कि महाभारत में किये हुए प्रकृति-वर्णन मुख्यतः विवरणात्मक हैं। ऊपर के उद्धरण में संज्ञावाची शब्दों की भरमार है, दर्जनों वृक्षों, फूलों आदि के नाम हैं, किन्तु विशिष्ट चित्रों को उभारने का प्रयत्न, जो कवि का प्रकृत कर्म है, नहीं दिखाई पड़ता।

'सब ऋतुओं के पुष्प तथा सब ऋतुओं के फल' जैसी व्यंजनाएँ किसी सुनिर्दिष्ट चित्र को उपस्थित नहीं करतीं। 'गन्धमादन' के वर्णन का पांडवों की तात्कालिक मनःस्थिति से संबंध जोड़ने का भी सचेत प्रयत्न नहीं किया गया है। हमारे उद्धरण की अंतिम तीन पंक्तियों में ही कवि ने अपने वर्णन में उपमाओं का प्रयोग किया है।

बाद के संस्कृत काव्य में प्रकृति-वर्णन तथा नारी-सौन्दर्य का वर्णन महत्त्वपूर्ण विषय बन गये। किन्तु 'महाभारत' में प्रकृति की भाँति नारी के सौन्दर्योद्घाटन का भी विशेष प्रयत्न नहीं किया गया है। 'महाभारत' के निजी आख्यान में अनेक नायिकाओं का समावेश है, जैसे द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा आदि; किन्तु इनके विशद चित्र देने का प्रयत्न नहीं किया गया है। 'महाभारत' की सबसे महत्त्वपूर्ण नारी द्रौपदी है, उसके स्वयंवर में भारतवर्ष के सभी वीरों का पहुँचना सूचित किया गया है, स्वयंवर-सभा का भी लम्बा-चौड़ा विवरण दिया गया है, किन्तु स्वयं द्रौपदी का वर्णन बहुत ही

संक्षिप्त है। कुछ ब्राह्मणों ने युधिष्ठिर को यह सूचना दी कि वे द्रौपदी के स्वयंवर में जा रहे हैं और उनका वर्णन करते हुए बतलाया कि वह 'पतली कमरवाली, निर्दोष अंगों वाली धृष्टद्युम्न की बहन है; नीले कमल जैसी गन्ध उसके शरीर से निकलकर एक कोस तक बहती है।'[१३] स्वयंवर-सभा का वर्णन समाप्त करते हुए कहा गया है कि वहाँ 'सुन्दर वस्त्रोंवाली, सब प्रकार के आभूषणों से विभूषित, सोने की बनी हुई कामदार जयमाला लिये द्रुपद-पुत्री उस रंगभूमि में उतरी।'[१४] अवश्य ही आगे यह वर्णन किया गया है कि उस स्वयंवर में कौन-कौन राजा मौजूद थे—कम से कम साठ-सत्तर राजाओं व राजपुत्रों के नाम गिनाये गये हैं—और यह कि किस प्रकार राजा लोग कृष्ण या द्रौपदी को देखकर काम-पीड़ित हो गये। इस प्रकार द्रौपदी के सौन्दर्य के प्रभाव का अंकन हुआ है, किन्तु स्वयं द्रौपदी का विस्तृत, चमत्कारपूर्ण वर्णन देने का प्रयत्न नहीं किया गया है। इसी प्रकार 'सुभद्रा-हरण-पर्व' में यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार सुभद्रा को देखकर अर्जुन उस पर मोहित हो गये, किन्तु वहाँ सुभद्रा के सौन्दर्य-वर्णन का विशेष आग्रह नहीं मिलता। वस्तुतः सुन्दरी नायिकाओं के उल्लेख में महाभारतकार सर्वत्र कुछ प्रचलित सौन्दर्य-बोधक विशेषणों का प्रयोग करके संतोष कर लेते हैं—जैसे 'सुश्रोणी' (सुन्दर कटिप्रदेशवाली), 'सुमध्यमा' या 'तनुमध्या' (पतली कटिवाली), 'चारुसर्वांगी' (जिसके समस्त अंग सुन्दर हैं), इत्यादि।

१३. **स्वसा तस्यानवद्याङ्गी द्रौपदी तनुमध्यमा।**
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात् प्रवाति वै॥
आदिपर्व १८३, १०

१४. **आप्लुतांगी सुवसना सर्वाभरणभूषिता।**
मालां च समुपाचाय कांचनीं समलंकृताम्॥
अवतीर्णा ततो रंगं द्रौपदी भरतर्षभ। आदिपर्व १८३, २९-३०

सच यह है कि महाभारतकार की दृष्टि नर-नारियों के व्यक्तित्वों पर उतनी नहीं टिकती; जितनी कि उन कृत्यों पर जो कथा की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण प्रभाववाले हैं। उन सब चीजों के वर्णन में, जो ऐश्वर्य, शूरता, जय-पराजय आदि से संबंधित हैं, कवि की स्वाभाविक रुचि है। यह नहीं समझना चाहिए कि 'महाभारत' के रचयिता में चित्र-विधान अथवा अलंकार-नियोजन की क्षमता की कमी या अभाव है। उनमें ये क्षमताएँ पूरी मात्रा में मौजूद हैं, किन्तु उनका उपयोग उन्हीं स्थलों में होता है जहाँ कोई आश्चर्य-जनक शूरता का कार्य अथवा आश्चर्योत्पादक, रोमहर्षक घटना वर्णित हो रही हो। 'द्रोण-पर्व' में भीम के पुत्र घटोत्कच का बड़ा सजीव, रोमां-चक चित्र प्रस्तुत किया गया है—

> लोहिताक्षो महाकायस्ताम्रास्यो निम्नितोदरः।
> ऊर्ध्वरोमा हरिश्मश्रुः शंकुकर्णो महाहनुः॥
> आकर्णदारितास्यश्च तीक्ष्णदंष्ट्रः करालवान्।
> सुदीर्घताम्रजिह्वौष्ठो लम्बभ्रूः स्थूलनासिकः॥
> नीलाङ्गो लोहितग्रीवो गिरिवर्ष्मा भयंकरः।
> स्थूलस्फिग्गूढनाभिश्च शिथिलोपचयो महान्॥
>
> द्रोणपर्व ९।४७३–७५

'लाल आँखोंवाला, महाकाय, रक्तवर्ण मुखवाला, नीचे लटके उदर-वाला, उठे हुए रोयें, शेर जैसी मूँछ-दाढ़ी, शंकु के आकार के कान, बड़ी ठोड़ी, कानों तक खुला हुआ मुख, तीक्ष्ण कराल दाँत, लंबी व लाल जीभ और होंठ, लम्बी भौंहें, स्थूल नासिका; उसका शरीर नीला अर्थात् काला था, कंठ लाल था, पर्वत के समान ऊँचा आकार था, स्थूल नितम्ब, छिपी हुई नाभि, शिथिल उपचयवाला (जिसका पेट बढ़ा हुआ नहीं था ?), आकार में लम्बा, इत्यादि। आगे दर्जनों श्लोकों में घटोत्कच और उसके युद्ध का वर्णन है। स्पष्ट ही कवि को द्रौपदी की अपेक्षा घटोत्कच का वर्णन ज्यादा रस-दायक जान पड़ा।

घटोत्कच को मारने के लिए कर्ण को उस अमोघ शक्ति का उपयोग करना पड़ा जो उसे कुंडलों के बदले इन्द्र से मिली थी। 'कर्ण ने राक्षस की ओर वह शक्ति फेंकी जो लपलपाती अग्नि के समान प्रदीप्त थी, जो पाशों से युक्त कालरात्रि के समान थी, जो मृत्यु की स्वसा (बहन-सी) सी, जलती हुई उल्का-सी थी।' पाठक देखें यहाँ कवि की चित्र-विधायिनी प्रतिभा कैसे प्रस्फुटित हुई दीखती है।[१५]

घटोत्कच को शक्ति द्वारा निहत देख कृष्ण वायु द्वारा कँपाये वृक्ष की भाँति हर्ष से नाचने लगे। युद्धों के वर्णन में महाभारतकार ने सर्वत्र इसी तरह चित्रों तथा अलंकारों की विधायिक शक्ति का परिचय दिया है।

महाभारतकार की अपेक्षा आदि कवि की सौन्दर्य-संवेदना अधिक कवित्वमय है। 'रामायण' में भी प्रकृति के अधिकांश चित्र विवरणात्मक हैं, किन्तु उनके चित्रण में जहाँ-तहाँ प्रकृत कवि-दृष्टि दिखाई दे जाती है। 'रामायण' में प्रकृति-वर्णनों की प्रचुरता भी है। विवरणात्मक स्थलों में भी वाल्मीकि ज्यादा सफल चित्र-विधान कर पाते हैं। अयोध्या-काण्ड में गंगा का वर्णन है—

जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम्।
क्वचिद् वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम्॥
क्वचित्स्तिमितगम्भीरां क्वचिद् वेगसमाकुलाम्।
क्वचिद् गम्भीरनिर्घोषां क्वचिद् भैरवनिःस्वनाम्॥
हंससारससंघुष्टां चक्रवाकोपशोभिताम्।
सदामत्तैश्च विहगैरभिपन्नामनिन्दिताम्॥

अयोध्या० ५०।१६, १७, १९

१५. तां वै शक्तिं लेलिहानां प्रदीप्तां पाशैर्युक्तामन्तकस्यैकरात्रिम्।
मृत्योः स्वसारं ज्वलितामिवोल्कां वैकर्तनः प्राहिणोद्राक्षसाय॥
(द्रोणपर्व १०।४९९)

'जल के आघात से गंगाजी उग्र अट्टहास-सा करती हैं, निर्मल फेनों में वे हँसती हैं। कहीं उनका जल वेणी के आकार का लगता है, कहीं भँवर उनकी शोभा बढ़ाते हैं। गंगा का प्रवाह कहीं स्थिर और गंभीर है, कहीं वेगवान् और चंचल। उसमें कहीं श्रुति-मधुर गंभीर शब्द होता है और कहीं भयोत्पादक कोलाहल। उसके तट पर हंस, सारस आदि शोर करते हैं, चक्रवाक तथा दूसरे मतवाले पक्षी उसके समीप बने रहते हैं।' कवि ने गंगा को सर्वत्र स्त्री रूप में चित्रित किया है। इसी प्रकार किष्किधा-काण्ड में पंपा पुष्करिणी का वर्णन किया है। पंचवटी, दण्डकारण्य, अरिष्ट पर्वत आदि के भी विशद वर्णन प्रस्तुत किये गये हैं। किष्किधाकाण्ड में वर्षा व शरद के वर्णन विशेष मंनोरम हैं। वर्षा-वर्णन के कुछ पद्य देखिए—

> व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पैर्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
> मयूरकेकाभिरनुप्रयातं शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥
> मेघाभिकामा परिसंपतन्ती संमोदिता भाति बलाकपंक्तिः।
> वातावधूता वरपौण्डरीकी लम्बेव माला रुचिराम्बरस्य ॥
>
> किष्किन्धा० २८।१८, २३

'शैल-नदियाँ उस जल को, जिसमें सर्ज और कदम्ब के फूल बह रहे हैं, जो पर्वत की धातुओं से ताम्रवर्ण हो रहा है और जिसमें मोरों की केकावाणी की अनुगूँज है, तेजी से बहाकर ले जाती हैं। मेघों की कामना रखनेवाली, उड़ती हुई श्वेत बक-पंक्ति श्रेष्ठ श्वेत पद्मों से निर्मित, हवा में डोलती हुई, आकाश की सुन्दर माला-सी जान पड़ती है।' आदिकवि में शब्द-क्रीड़ा की भी प्रवृत्ति है—

> निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति द्रुतं नदी सागरमभ्युपैति।
> हृष्टा बलाका घनमभ्युपैति कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति ॥
>
> किष्किन्धा० २८।२५

अर्थात् 'धीरे-धीरे निद्रा केशव को प्राप्त होती है, नदी तेजी से सागर

तक पहुँचती है, हर्षभरी बगुली बादल के पास पहुँचती है और कामनावती रमणी प्रियतम के पास।' नीचे की उपमा बड़ी साहसपूर्ण है—

सुरतामर्दविच्छिन्नाः स्वर्गस्त्रीहारमौक्तिकाः।
पतन्ति चातुला दिक्षु तोयधाराः समन्ततः॥

'सुरत के संघर्ष में टूटे स्वर्ग वनिताओं के हारों के मोतियों जैसी जल-धाराएँ चारों दिशाओं में गिरती हैं।' शरद् वर्णन में भी दो पद्य बड़े श्रृंगारी हैं—

मीनोपसंदर्शितमेखलानां नदीवधूनां गतयोऽद्य मन्दाः।
कान्तोपभुक्तालसगामिनीनां प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम्।
दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः।
नवसंगतसव्रीडा जघनानीव योषितः॥

किष्किन्धा० ३०।५४, ५८

'मछलियों के रूप में अपनी करधनियों को दिखलाती हुई नदी रूपी वधुओं की गति अब मंद हो गयी है, जैसे प्रभात काल में अपने पतियों द्वारा उपभुक्त अलसभाव से चलनेवाली कामिनियों की गति।' और 'शरद ऋतु की नदियाँ अपने पुलिन-प्रदेशों को वैसे ही धीरे-धीरे प्रदर्शित करती हैं जैसे नव संगम से लजानेवाली युवतियाँ अपने जघन-प्रदेश को।'

संध्या-वर्णन से संबंधित एक प्रसिद्ध श्लोक है—

चंचच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका।
अहो रागवती सन्ध्या जहातु स्वयमम्बरम्॥

किष्किन्धा० ३०।४५

'सुन्दर चन्द्रकरों (किरणों, हाथों) के स्पर्श-जन्य हर्ष से किंचित् खुले तारकों (नक्षत्रों, पुतलियों) वाली रागवती (रक्तवर्ण, अनुराग भरी) संध्या स्वयं अम्बर (आकाश, वस्त्र) का परित्याग करे।' यहाँ सन्ध्या में प्रियतम से सहचरित कामिनी का आरोप किया गया है।

महाभारतकार की तुलना में आदिकवि प्रकृति-वर्णन को ज्यादा महत्त्व देते और उसमें अधिक रस लेते प्रतीत होते हैं। उनके वर्णनों में अलंकारों का भी प्रचुर समावेश है। कमी यही है कि इन वर्णनों में सुन्दर तथा काफी साधारण पद्यों का स्वच्छन्द सम्मिश्रण है। पढ़कर ऐसा लगता है कि जहाँ कवि को कहना बहुत-कुछ था, वहाँ उसके पास इतना समय नहीं था कि अपनी प्रत्येक उक्ति को सचेत भाव से सँजोकर रखे।

आदिकवि के नारी-रूप के वर्णनों में भी यही दोष मिलता है, यद्यपि वे वर्णन महाभारत के वर्णनों से ज्यादा हृदयग्राही हो सके हैं। 'रामायण' का सबसे महत्त्वपूर्ण नारी-वर्णन सुन्दरकाण्ड में पाया जाता है, जहाँ हनुमान लंका में पहुँचकर रावण के अन्तःपुर का निरीक्षण करते हैं। वहाँ अनेक स्त्रियाँ अनेक प्रकार से सोती हुई दिखायी गयी हैं; संभवतः कवि अश्वघोष को बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण के अवसर पर सुप्त स्त्रियों के वर्णन की प्रेरणा रामायण के इसी स्थल से मिली होगी। 'रति के परिश्रम से खिन्न रावण की सूक्ष्म कटिवाली स्त्रियाँ जहाँ-तहाँ खाली स्थानों में सो रही थीं। कोई सुन्दर वर्ण की नृत्य-कुशल नारी अपने लिटाये हुए अंगों में नृत्य के विभ्रमों (अंग-विक्षेपों) को प्रकट कर रही थी, कोई सर्वांगसुन्दरी पटह नामक वाद्य-यंत्र को वैसे ही आलिंगित किये हुए थी जैसे कोई अपने प्रियतम का आलिंगन करती है; इसी प्रकार कोई कमललोचना वीणा का आलिंगन किये हुए थी।"[१६] हनुमान ने सोती हुई मन्दोदरी को देखा, जो मुक्ता-मणियों-वाले सुन्दर गहनों से अलंकृत थी, और अपनी शोभा से स्वयं भवन को सुन्दर बना रही थी। उसका गोरा शरीर सुवर्ण की आभा लिये हुए था। चारुरूपिणी मन्दोदरी अन्तःपुर की स्वामिनी थी, उसे देखकर हनुमानजी को पूरा-पूरा सीता का भ्रम हो गया।

भारतीय काव्य में पुरुष-रूप वर्णन की विशेष प्रवृत्ति नहीं है। संस्कृत कवियों में संभवतः श्रीहर्ष ने ही अपने नायक नल के शारीरिक सौन्दर्य का

१६. रामायण, सुन्दरकाण्ड १०।३५-३६-३९-४०।

विशेष वर्णन किया है। कालिदास आदि ने प्रायः नायकों के व्यक्तित्वों का वर्णन उनके दूसरे गुणों के संकेत के लिए ही दिया है; इन गुणों में शौर्य का विशेष स्थान है। 'महाभारत' में भी कवि की रुचि मुख्यतः पुरुष-नायकों के शील तथा शक्ति के निरूपण में है। जहाँ-तहाँ अर्जुन, कर्ण आदि के शारीरिक सौन्दर्य का संकेत किया गया है, किन्तु वह संकेत सामान्य ढंग का है। वस्तुतः 'महाभारत' में नायक-नायिका दोनों के ही शारीरिक वर्णन सामान्य कोटि के हैं; उनका उद्देश्य यह बिलकुल ही नहीं है कि पाठक विशिष्ट पात्रों का प्रत्यक्षीकरण कर सके। विभिन्न नायकों की शक्ति-संपन्नता के वर्णन भी बहुत कुछ सामान्य ढंग के हैं। यों यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'महाभारत' के सभी मुख्य पात्र अलग-अलग शक्तिशाली व्यक्तित्व से संपन्न हैं—भीम और अर्जुन, युधिष्ठिर और दुर्योधन, कर्ण और शकुनि, भीष्म और द्रोण—सभी के व्यक्तित्व काफी भिन्न और विशिष्ट हैं। किन्तु इस भिन्नता की प्रतीति के पीछे शारीरिक भेदों का कोई खास स्थान नहीं है। महाभारतकार ने अपने पात्रों को भिन्न व्यक्तित्व देने के लिए मुख्यतः दो उपायों का अवलम्ब लिया है; एक तो उनके शीलों को अलग-अलग दिखलाया है, और दूसरे उनके इतिहासों को। युधिष्ठिर तथा दुर्योधन, और सामान्य रूप में पाण्डव तथा कौरव अपने नैतिक विचारों व व्यवहारों के कारण भिन्न दिखाई देते हैं। इस प्रकार की भिन्नता को दर्शित करने के लिए महाभारतकार अतिरंजना के अस्त्र का बहुल प्रयोग करते हैं। युधिष्ठिर एकदम सत्यवादी हैं, तो दुर्योधन व उसके सहायक महाकपटी तथा छली। भीमसेन की भिन्नता का आधार उसकी शारीरिक विशेषताएँ हैं। किन्तु ये सभी पात्र, जैसा कि हमने संकेत किया, प्रधानतः अपने-अपने इतिहासों के कारण विशेष भिन्न हैं। भीष्म का एक इतिहास है, तो द्रोण का दूसरा; कर्ण, द्रौपदी, धृष्टद्युम्न आदि की जन्म-कथाएँ ही उन्हें अलग व्यक्तित्व दे देती हैं। 'महाभारत' के अधिकांश नायक बड़े वीर बतलाये गये हैं; केवल वीरता तथा शक्ति के आधार पर यह कहना कठिन है कि भीष्म, द्रोण, कर्ण, अर्जुन आदि में कौन निश्चित रूप में विशिष्ट है। विभिन्न

अवसरों पर महाभारतकार इन सभी की अतिरंजित प्रशंसा कर डालते हैं। ऐसी दशा में अपने-अपने आगे-पीछे के इतिहासों द्वारा ही ये सब वीर थोड़े-थोड़े कम-बढ़ दिखाई देते हैं।

'रामायण' के वीर नायक अलग-अलग जातियों के सदस्य तथा विभिन्न संस्कृतियों के नेता हैं। कवि ने जगह-जगह राक्षस वीरों के अतिरंजित शारीरिक चित्र उपस्थित किये हैं—जैसे कुम्भकर्ण तथा रावण के। आर्य जाति के वीरों में राम प्रमुख हैं, और आदिकवि ने उनके शारीरिक सौन्दर्य के जगह-जगह संकेत दिये हैं। किन्तु राम के अतिरिक्त और किसी पुरुष-नायक का सौन्दर्य वर्णन उनका उद्दिष्ट नहीं जान पड़ता।

पुरुष-सौन्दर्य के चित्रण में नख-शिख का ध्यान नहीं किया जाता, वहाँ उस प्रकार का वर्णन नितान्त गौण होता है। पुरुष सौन्दर्य के विधायक अधिकांश तत्त्व ऐसे होते हैं जिनका संबंध विद्या, विनय आदि शील-संबंधी विशेषताओं से है। इसके अतिरिक्त पुरुष के व्यक्तित्व में हम उन गुणों की भी खोज करते हैं जो उसे एक प्रभावशाली नेता एवं कर्मठ राष्ट्रनायक अथवा शासक बनाते हैं। संकृत काव्य में वीरचरित नायकों के वर्णन में इस बात को विशेष गौरव दिया गया है कि वे शास्त्र-ज्ञान से संपन्न अतएव परिष्कृत व्यवहार वाले हैं। जिस पुरुष को शास्त्रों की जानकारी है उसकी वाणी अवश्य ही सुसंस्कृत होनी चाहिए। पुरुष-व्यक्तित्व की इस विशेषता की अवगति हमें 'रामायण' में जगह-जगह मिलती है। बालकाण्ड के पहले सर्ग में राम के गुणों का वर्णन करते हुए नारद ने जिन अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है उनमें 'वाग्मी' भी है, जिसका अर्थ है प्रभावशाली वक्ता अथवा श्रेष्ठ वाणीवाला। अयोध्याकाण्ड के पहले सर्ग (श्लोक १७) में कहा गया है—

उत्तरोत्तर उक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा।

अर्थात् 'अपने मत की पुष्टि में एक के बाद दूसरी युक्ति देने में राम वैसे ही श्रेष्ठ वक्ता थे जैसे वाचस्पति अर्थात् वृहस्पति।' जब ऋष्यमूक पर्वत के

पास राम-लक्ष्मण की हनुमान से भेंट हुई तो वे सुग्रीव-सचिव हनुमान जी की वाणी से बड़े प्रभावित हुए। राम ने लक्ष्मण से कहा—

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहुव्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्॥ किष्किन्धा० ३, २९

अर्थात् 'इन्होंने अवश्य ही व्याकरण आदि का अच्छा अध्ययन किया है, क्योंकि बहुत-कुछ कहते हुए भी इन्होंने किसी गलत शब्द का प्रयोग नहीं किया।' इस स्थल में कवि ने कई श्लोकों में हनुमानजी की वाणी की प्रशंसा की है।

जीवन के मूल्य या पुरुषार्थ

व्यक्तित्व की अच्छाइयों तथा बुराइयों का निरूपण किन्हीं मूल्यों की अपेक्षा से ही किया जा सकता है। व्यक्तित्व की विशेषताएँ या तो स्वयं में मूल्यवान् होती हैं अथवा जीवन-मूल्यों के उत्पादन एवं संरक्षण का साधन। इसलिए किसी संस्कृति के अध्ययन में यह प्रश्न उठता है कि उसका जीवन-मूल्य क्या है। हमने देखा कि वैदिक-काल के आर्य ऐश्वर्य तथा सुखपूर्ण ऐहिक जीवन को महत्व देते थे; उपनिषद् काल में जीवन-मूल्यों की इस धारणा के विरुद्ध विद्रोह हुआ, और मोक्ष या अमृतत्व नाम के नये आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। संस्कृत के ग्रंथों में मूल्य (Value) शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है, वहाँ 'पुरुषार्थ' शब्द का प्रचलन रहा। रामायण-महाभारत के समय तक हमारे देश में चार पुरुषार्थों की धारणा सुप्रतिष्ठित हुई पायी जाती है। इनमें भी व्याख्या तथा विवाद के विषय मुख्यतः तीन पुरुषार्थ हैं, अर्थात् धर्म, अर्थ और काम। इन तीनों में भी कामना के विषय दो ही हैं, अर्थात् अर्थ और काम। धर्म एक नियामक तत्त्व है, जिसके दायरे में रहते हुए अर्थ तथा काम का संपादन होना चाहिए। महाभारत के अन्त में एक प्रसिद्ध उक्ति है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते॥

अर्थात् 'मैं बाँह उठाकर उच्च स्वर में कह रहा हूँ, किन्तु कोई सुनता नहीं; धर्म से अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, उस धर्म का सेवन क्यों नहीं करते।'

अर्थ और काम मनुष्य की जीवनेच्छा तथा जीवन-संभोग के प्रतीक हैं; संसार के सारे संघर्ष इन्हीं दो चीजों के लिए होते हैं। रामायण और महाभारत दोनों महाकाव्यों का प्रधान विषय संघर्ष है; महाभारत का संघर्ष मुख्यतः राज्य के लिए हुआ। पाण्डव लोग जिस राज्य को अपना पैतृक अधिकार समझते थे उसे दुर्योधन हड़प लेना चाहता था। स्थूल रूप में रामायण में वर्णित संघर्ष स्त्री के लिए हुआ। उक्त महाकाव्यों में एक और भी बड़ा अन्तर है। महाभारत के युधिष्ठिर धर्मात्मा अवश्य हैं, किन्तु वे राज्य की लक्ष्मी के प्रति विमुख या उदासीन नहीं हैं। पाण्डव और कौरव दोनों ही राज्य को महत्त्वपूर्ण समझते हैं और उसके लिए लड़ते हैं। महाभारत के नायकों की तुलना में रामायण के राम कहीं अधिक निःस्पृह हैं, वे पिता की अनुच्चरित आज्ञा को शिरोधार्य करके युवराज-पद का परित्याग कर देते हैं। क्या इससे यह सिद्ध होता है कि रामायण के अनुसार अर्थ तथा काम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं? हमारी समझ में यह निष्कर्ष सही नहीं होगा।

अवश्य ही रामायण के दो प्रमुख पात्र, राम तथा भरत, सांसारिक ऐश्वर्य अर्थात् राज्य के प्रति निःस्पृह दिखाये गये हैं। किन्तु रामायण में दूसरे पात्र भी हैं, और ऐश्वर्य आदि के प्रति उनका मनोभाव उपेक्षणीय नहीं है। इन पात्रों में राम के प्रिय अनुज लक्ष्मण और उनकी माता कौसल्या का भी समावेश है। जिन्होंने तुलसीदास के 'रामचरितमानस' को पढ़ा है वे आदिकाव्य में वर्णित कौसल्या तथा लक्ष्मण को ठीक से नहीं पहचान सकेंगे; उन्हें कहीं-कहीं राम की मनोवृत्ति भी उतनी आदर्श नहीं जान पड़ेगी। पहले कौसल्या को लीजिए। राम ने कई जगह इस बात का संकेत दिया है कि उनकी माता उनकी राज्यप्राप्ति को विशेष महत्त्व देती थीं। वन को जाने की इच्छा रखनेवाले लक्ष्मण से उन्होंने कहा—'जिस माता का मन मेरे अभिषेक की बात से बहुत जल रहा है वह मुझसे संबंधित शंका से

जैसे मुक्त रहे वैसे तुम्हें करना चाहिए।[१७] राम के वनवास की बात से खिन्न हुई कौसल्या कहती हैं––

इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि।
तपश्च तप्तं यदपत्यकाम्यया सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे॥

'मुझे दुःख इस बात का है कि मैंने पुत्र के (कल्याण के) लिए जो व्रत, दान, संयम और तप किये वे सब वैसे ही निष्फल हो गये जैसे ऊसर में डाला हुआ बीज।' राम जब अपनी माँ को वनवास की खबर देने जाते हैं तो कहते हैं––'देवि ! तुम्हें मालूम नहीं कि बड़ा खतरा उपस्थित हो गया है, जिससे तुम्हें, सीता और लक्ष्मण को बड़ा दुःख होगा। मुझे चौदह बरस वन में रहना होगा, मुनियों की भाँति कन्द-मूल-फल खाने होंगे और मांस का त्याग करना पड़ेगा।'[१८] यह सुनकर कौसल्या एकाएक पृथ्वी पर ऐसे गिर पड़ी जैसे वन में कुल्हाड़ी से काटी हुई सालवृक्ष की शाखा गिर पड़ती है, अथवा जैसे स्वर्ग से देवता (देवी) भ्रष्ट हो जाते हैं। बाद में शिकायत करती हुई कौसल्या कहती है कि 'मुझे पहले से ही पति से प्राप्य कल्याण व सुख नहीं मिला है––पति का प्रेम और संभोग-सुख अप्राप्य रहा है; अब मुझे छोटी सौत के हृदय-विदारक शब्द और भी सुनने पड़ेंगे। जब तुम्हारे रहते हुए भी मैं इस प्रकार तिरस्कृत थी, तो तुम्हारे चले जाने पर तो मेरा निश्चय

१७. यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यति।
माता च सा यथा न स्यात्सविशंका तथा कुरु॥

अयोध्याकाण्ड २२।६

१८. देवि ! नूनं न जानीषे महद् भयमुपस्थितम्।
इदं च तव दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च॥
चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
कन्दमूलफलैर्जीवन्हित्वा मुनिवदामिषम्॥

अयोध्या० २०।२७-२९

ही मरण हो जायगा।'[१९] आगे राम को ढाढ़स देते हुए लक्ष्मण कहते हैं कि 'तुमसे और मुझसे भयंकर वैर करके पिता दशरथ में यह शक्ति कहाँ है कि राज्य-लक्ष्मी भरत को दे दें।'[२०] स्पष्ट ही लक्ष्मण की दृष्टि में राज्यश्री इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसके लिए स्वयं पिता से वैर किया जा सकता है। लक्ष्मण द्वारा इस तरह के उद्‌गार, जो राज्य तथा श्री की महत्ता घोषित करते हैं, दूसरे कई स्थलों में भी प्रकट किये गये हैं। जब राम और लक्ष्मण को कबन्ध नाम के दानव ने पकड़ लिया तो लक्ष्मण ने निराश होकर राम से कहा—'इस राक्षस के लिए मेरी बलि देकर तुम सुख से भाग जाओ। शीघ्र ही तुम्हें सीता मिल जायेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है और पिता की पृथ्वी को प्राप्त करके राज्य करते हुए तुम मुझे सदैव याद करते रहना।'[२१]

स्वयं राम भी राज्य के प्रति एकदम विमुख नहीं थे। जब विराध ने सीता को पकड़ लिया तो वे कैकेयी की शिकायत करने लगे—'कैकेयी ने

१९. न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे।
सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम्॥
अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां परा सती।
त्वयि संन्निहितेप्येवमहमासं निराकृता।
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि॥
अयोध्या० २१।३८-३९-४१

२०. त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम्।
कास्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिशासन॥ अयोध्या० २१।१५

२१. मयैकेन तु निर्युक्तः परिमुच्यस्व राघव।
मां हि भूतबलिं दत्त्वा पलायस्व यथासुखम्॥
अधिगन्तासि वैदेही मचिरेणेति मे मतिः।
प्रतिलभ्य च काकुत्स्थ पितृपैतामहीं महीम्॥
तत्र मां राम राज्यस्थः स्मर्तुमर्हसि सर्वदा॥अरण्य० ७०।३९-४१

हमारे लिए जो बुरा चाहा था और अपने लिए जो भलाई करनी चाही थी, वह सब अच्छी तरह घटित हो चुका। दीर्घदर्शिनी कैकेयी सिर्फ इसी बात से सन्तुष्ट न हुई कि उसके पुत्र को राज्य मिल जाय, उसने मुझे वन में भी भेज ही दिया; अब वह निश्चय ही सफल-मनोरथ हो गयी। पिता के विनाश से और राज्य के हरण से भी ज्यादा दुःख मुझे यह हुआ कि सीता को दूसरे ने छू लिया।'[२२] यहाँ राम परोक्ष रूप में यह स्वीकार कर लेते हैं कि उन्हें राज्यहरण से कष्ट हुआ था।

वस्तुतः 'रामायण' में राम की अपेक्षा भरत को ही राज्य के प्रति अधिक निःस्पृह दिखलाया गया है। स्वयं राम को भरत की निःस्पृहता में पक्का विश्वास नहीं, कैकेयी में तो अविश्वास है ही। वे लक्ष्मण से कहते हैं कि यदि तुम मेरे साथ वन चले गये तो कौसल्या और सुमित्रा की सेवा कौन करेगा? 'राजा अश्वपति की पुत्री कैकेयी इस राज्य को पाकर अपनी सौतों के साथ भला व्यवहार नहीं करेगी और राज्य पाकर कैकेयी का साथ देते हुए भरत भी नितान्त दुःखित कौसल्या तथा सुमित्रा को याद नहीं रखेंगे।'[२३] इससे

२२. यदभिप्रेतमस्मासु प्रियं वरवृतं च यत्।
कैकेय्यास्तु सुसंवृत्तं क्षिप्रमद्यैव लक्ष्मण॥
या न तुष्यति राज्येन पुत्रार्थे दीर्घदर्शिनी।
ययाहं सर्वभूतानां प्रियः प्रस्थापितो वनम्।
अद्येदानीं सकामा सा या माता मध्यमा मम।
परस्पर्शात्तु वैदेह्या न दुःखतरमस्ति मे॥
पितुर्विनाशात्सौमित्रे स्वराज्यहरणात्तथा॥ अरण्य० २।१८-२१

२३. सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता।
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम्।
न स्मरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम्।
भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः॥
अयोध्या० ३१।१३,१४

पहले सीता को समझाते हुए राम कहते हैं कि मेरे वन चले जाने पर 'तुम भरत के समीप मेरी प्रशंसा मत करना। बात यह है कि ऐश्वर्यवाले लोग दूसरे की स्तुति को सहन नहीं करते, इसलिए तुम भरत के आगे मेरे गुण न कहना। भरत के पास अनुकूल ढंग से रहते हुए ही तुम गुज़र कर सकोगी। उन्हें राजा ने सनातन युवराज पद दिया है, इसलिए हे सीते! तुम उन्हें (भरत को) और राजा को प्रसन्न रखने की विशेष चेष्टा करना।'[२४] यहाँ राम ने ऐश्वर्य-संपन्न राजाओं के स्वभाव-बोध का अच्छा परिचय दिया है; साथ ही यह सन्देह भी प्रकट किया है कि राज्य पाकर भरत की मनोवृत्ति बदल जायगी। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दशरथ द्वारा भरत को राज्य दिया जाना सिर्फ इसलिए ही उचित नहीं था कि कैकेयी ने वैसा वरदान माँगा; वस्तुतः कैकेयी का दशरथ के साथ विवाह इसी शर्त पर हुआ था कि राज्य कैकेयी के पुत्र को दिया जायगा। यह बात अयोध्याकाण्ड के १०७ वें सर्ग में स्वयं राम द्वारा भरत से कही गयी है।'[२५]

अब हम धन-संपत्ति के सम्बन्ध में 'महाभारत' के महत्त्वपूर्ण पात्रों की मनोवृत्ति की चर्चा करेंगे। 'रामायण' में राम और भरत दोनों ही राज्य-त्याग के लिए तत्पर दिखाई देते हैं, किन्तु महाभारत में ऐसी बात नहीं

२४. भरतस्य समीपे ते नाहं कत्थ्यः कदाचन।
ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्॥
तस्मान्न ते गुणाः कत्थ्या भरतस्याग्रतो मम।
अहं ते नानुवक्तव्यो विशेषेण कदाचन॥
अनुकूलतया शक्यं समीपे तस्य वर्तितुम्।
तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम्॥
स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः॥
अयोध्या० २६।२४-२७

२५. पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम्॥ अयोध्या० १०७।३

पायी जाती। अवश्य ही महाभारत के पाण्डव लोभी नहीं हैं, युद्ध की विभीषिका को समझते हुए वे पाँच गाँव लेकर भी दुर्योधन से समझौता करने को तैयार हो जाते हैं। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वे राज्य-श्री के प्रति उदासीन हैं। उद्योग-पर्व में कृष्ण को सन्धि के लिए दुर्योधन के पास भेजते हुए युधिष्ठिर यह शिकायत करते हैं कि दुष्टात्मा दुर्योधन उन्हें पाँच गाँव देने को भी तैयार नहीं हुआ। वहीं वे कहते हैं—'इससे बुरी कोई अवस्था होती है ऐसा शम्बर ने नहीं कहा है; जो हमें आजकल सुबह भोजन भी नहीं दिखलाई देता। धन ही परम धर्म कहा गया है, धन में सब-कुछ प्रतिष्ठित है, दुनिया में वही लोग जीवित रहते हैं जिनके पास धन है, धनहीन लोग तो मृत ही हैं। ऐसे हम लोगों को लक्ष्मी का त्याग करना किसी प्रकार भी न्याययुक्त नहीं है, उसके लिए प्रयत्न करते हुए यदि हम लोग मारे भी जायँ तो अच्छा होगा।'[२६] आगे युधिष्ठिर को कृष्ण के द्वारा संदेश देते हुए कुन्ती ने निम्न वक्तव्य दिया—

पित्र्यमंशं महाबाहो निमग्नं पुनरुद्धर।
साम्ना भेदेन दानेन दण्डेनाथ नयेन वा॥ उद्योग पर्व, १३२, ३२

अर्थात् 'हे युधिष्ठिर! पिता से प्राप्त तुम्हारा जो अंश (हिस्सा) डूब गया है उसका साम, भेद, दान, दंड अथवा नय (नीति या कूटनीति) किसी उपाय से उद्धार करो।' 'इससे ज्यादा दुःख की बात क्या हो सकती है कि तुम जैसे मित्रों को सुख देनेवाले पुत्र को उत्पन्न करके मैं पराये पिंड की

२६. नातः पापीयसीं काञ्चिदवस्थां शम्बरोऽब्रवीत्।
यत्र नैवाद्य न प्रातर्भोजनं प्रतिदृश्यते॥
धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः॥
ते वयं न श्रियं हातुमलं न्यायेन केनचित्।
अत्र नो यतमानानां वधश्चेदपि साधु तत्॥
उ० ७२।२२, २३, ४१

अपेक्षा करती हूँ।'[२७] इसी अवसर पर कुन्ती ने युधिष्ठिर के लिए विदुला तथा उसके पुत्र के संवाद को संदेश के रूप में प्रेषित किया है। विदुला ने सिन्धुराज से हारे हुए अपने पुत्र को पुरुषार्थ-विमुख देखकर उसकी बहुत भर्त्सना की। उसने कहा—'अपनी अवमानना मत कर, अपने को थोड़े से ही सन्तुष्ट मत कर। हे कापुरुष ! उठ, पराजित होकर इस तरह मत सो। छोटी नदी ही यह महसूस करती है कि वह बहुत भर गयी है, छोटे चूहे की अंजलि ही खूब पूरी हो जाती है; बहुत संतोष करनेवाला कापुरुष होता है, वही थोड़े में तृप्त हो जाता है। मरने का खतरा हो, तो भी पराक्रम कर। थोड़ी देर खूब जलते हुए रहना ज्यादा अच्छा है, बहुत काल तक धुँआते रहना श्लाघ्य नहीं है।'[२८] तात्पर्य यह कि धुँआँ छोड़नेवाली दुर्बल आग से, जो बहुत देर तक कायम रहती है, थोड़ी देर प्रज्वलित होकर जलनेवाली अग्नि श्रेष्ठ है। मनुष्य थोड़े ही दिनों जीवित रहे, किन्तु ऐश्वर्य तथा आदर से संपन्न होकर रहे। माता से इस प्रकार प्रेरणा पाकर विदुला के पुत्र ने उत्तम

२७. इतो दुःखतरं किं नु यदहं दीनबान्धवा।
परपिंडमुदीक्षे वै त्वां सूत्वा मित्रनन्दनम् ॥
उद्योगपर्व १३२, ३३

२८. मात्मानमवमन्यस्व मैनमल्पेन बीभरः।
मनः कृत्वा सुकल्याणं मा भैस्त्वं प्रतिसंहर ॥
उत्तिष्ठ हे कापुरुष मा शेष्वैवं पराजितः।
अमित्रान्नन्दयन्सर्वान्निर्मानो बन्धुशोकदः ॥
सुपूरा वै कुनदिका सुपूरो मूषिकाञ्जलिः।
सुसंतोषः कापुरुषः स्वल्पकेनैव तृप्यति ॥
अप्यहेरारुजन्दंष्ट्रामाश्वेव निधनं व्रज।
अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रमे ॥
मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् ॥उ० १३३।७-१०, १५

पराक्रम दिखाया। कुन्ती ने आदेश दिया कि ऐसा ही पाण्डवों को भी करना चाहिए।

'महाभारत' में जगह-जगह नीति का उपदेश दिया गया है। इस दृष्टि से यहाँ नीतिकार विदुर का ऊँचा स्थान है। 'महाभारत' के विदुर द्वारा प्रतिपादित नीति का प्रधान लक्ष्य शक्ति एवं संपत्ति की प्राप्ति तथा संरक्षण है। उद्योगपर्व में विदुर ने धृतराष्ट्र को इस प्रकार उपदेश दिया है—'दो काम करने वाला मनुष्य इस लोक में शोभित होता है, कठोर बातें न बोलने वाला, और असज्जनों को न पूजने वाला। ये दो तीखे काँटे शरीर को सुखानेवाले हैं—मनुष्य का कामना करना और अधिकारहीन मनुष्य का क्रोध करना।.....जो पुरुष ऐश्वर्य चाहता है उसे छै दोषों का परित्याग कर देना चाहिए; निद्रा, तंद्रा, आलस्य, भय, क्रोध और दीर्घसूत्रता अर्थात् काम को फिर के लिए टाल देने का स्वभाव।[२९]' आगे इन्द्रियों को वश में रखने की आवश्यकता पर जोर देते हुए वे बतलाते हैं कि 'जैसे सूखे सरोवर के ऊपर हंस मँडराकर ही रह जाते हैं, उसके भीतर प्रवेश नहीं करते, उसी प्रकार जिसका चित्त चंचल है, जो अज्ञानी और इन्द्रियों का गुलाम है, उसको अर्थ त्याग देते हैं।'[३०] धन का संग्रह कैसे करना चाहिए, इस संबंध में विदुर का कहना है कि 'जैसे फूलों की रक्षा करते हुए भौंरा उनसे मधु ग्रहण करता है, वैसे ही हिंसा न करते हुए मनुष्यों से अर्थ का आदान करना चाहिए। जो राजा शुरू से सज्जनों के आचार का अनुगमन करता है, उसके लिए धन से पूर्ण यह पृथ्वी ऐश्वर्य बढ़ानेवाली होती है।'[३१]

विदुर की नीतिचर्या में धार्मिकता, सज्जनता आदि का स्वरूप समझाने का भी विशेष प्रयत्न किया गया है, किन्तु इसके साथ ही यह बतलाने की

२९. उद्योगपर्व ३३।५४-५६, ७८

३०. उद्योगपर्व ३६-४०

३१. उद्योगपर्व ३४।१७, २८

कोशिश भी है कि मनुष्य, विशेषतः राजा, ऐश्वर्य का संपादन एवं संरक्षण किस प्रकार कर सकता है। सभा-पर्व में युधिष्ठिर से प्रश्न पूछने के बहाने नारद ने यह संकेत किया है कि राज्य की रक्षा तथा उन्नति किस प्रकार की जा सकती है। 'हे युधिष्ठिर, तुम अर्थों अर्थात् संपत्ति की प्राप्ति की कोशिश करते हो? तुम्हारा मन धर्म में लगता तो है। तुम सुखों का अनुभव तो करते हो, जिससे मन भरा हुआ न रहे? विजयी वीरों में श्रेष्ठ! समय का सम्यक् विभाजन करके तुम अर्थ, धर्म तथा काम का सेवन करते हो? मंत्रणा को गुप्त रखनेवाले शास्त्रवेत्ता अमात्यों द्वारा तुम्हारा राष्ट्र सुरक्षित तो रहता है, शत्रुओं द्वारा आक्रांत तो नहीं होता? तुम्हारे किले धन, धान्य, जल, हथियार तथा यंत्रों से भरे-पूरे तो हैं, और उनमें शिल्प तथा धनुर्विद्या जाननेवाले तो रहते हैं?'[३२] स्पष्ट ही इन प्रश्नों के पीछे धन तथा ऐश्वर्य के महत्त्व की भावना पूर्णतया उपस्थित है।

महाभारत में कई जगह इस बारे में विमर्श किया गया है कि लक्ष्मी कैसे लोगों के पास रहना पसन्द करती है। स्पष्ट ही यह प्रश्न यह मान लेता है कि लक्ष्मी अथवा संपत्तिवाला होना महत्त्व की बात है। दूसरी लक्ष्य करने की बात, जो इन प्रसंगों से निकलती है, यह है कि लक्ष्मी उन्हीं के पास रुकती है जिनमें विशिष्ट गुण पाये जाते हैं।

शान्तिपर्व के एक स्थल में युधिष्ठिर ने भीष्म से शील के महत्त्व के संबंध में प्रश्न किया। उत्तर देते हुए भीष्म ने कुछ पुराने वार्तालापों का हवाला दिया। एक बार इन्द्र ने ब्राह्मण का वेश बनाकर दैत्यवर प्रह्लाद से दान में उनका शील माँग लिया। प्रह्लाद के शरीर से एक तेज के रूप में शील निकलकर चला गया। शील के बाद धर्म चला गया, उसके बाद सदाचार और उसके पश्चात् लक्ष्मी चलने को तैयार हो गयी। मतलब यह हुआ कि सुशील अर्थात् शीलवान् पुरुष के पास ही लक्ष्मी रुकती है।[३३]

३२. सभापर्व ५।१७, २०, २८, ३६

३३. शान्तिपर्व अध्याय १२४

अनशासन पर्व में युधिष्ठिर द्वारा फिर वैसा ही प्रश्न होने पर भीष्म ने स्वयं लक्ष्मी द्वारा दिया गया उत्तर इस प्रकार सुनाया--

'मैं सदैव उस सौभाग्यशाली पुरुष के साथ रहती हूँ जो साहसी, चतुर तथा कर्मठ है, जो क्रोधहीन है, देवसेवी है, कृतज्ञ एवं जितेन्द्रिय है और नित्य अपने सत्त्व (energy) को प्रबुद्ध रखता है। मैं ऐसे पुरुष के साथ नहीं रहती जो अकर्मण्य है, नास्तिक है, वर्णसंकर है, कृतघ्न है, जिसमें तेज, बल और सत्त्व की कमी है, जो शीघ्र ही परेशान हो जाता है और क्रोध करने लगता है, उसके साथ मैं नहीं रहती। जो अपने से कोई माँग नहीं करते, जो स्वभाव से मुर्दादिल हैं, जो थोड़े में ही संतोष कर लेते हैं, उनके साथ मैं कभी नहीं रहती। जो स्त्रियाँ सत्य बोलनेवाली, सदैव प्रसन्न दीखनेवाली, सौभाग्य तथा गुणयुक्त हैं, जो पतिव्रता हैं और सदैव दूसरों की मदद को तैयार रहती हैं, जो अलंकृत रहती हैं, उनके साथ मैं सदैव बसती हूँ।'[३४]

यहाँ हमने उत्तर का एक अंश ही उद्धृत किया है। उत्तर की लम्बाई प्रश्न के महत्त्व को प्रकट करती है। आगे हम देखेंगे कि महाकवि भारवि ने युधिष्ठिर के उस वक्तव्य में, जो उन्होंने भीमसेन को समझाने के लिए दिया, इस विषय का स्पर्श किया है।

अब हम 'काम' नामक पुरुषार्थ की चर्चा करेंगे। भारतीय साहित्य में राम चरम कोटि के आदर्शवाद तथा मर्यादावाद के प्रतीक हैं। सम्भव है ऐसा कोई आदर्श पुरुष हमारे यहाँ न हुआ हो; यह भी संभव है कि राम अधिकांश में आदि कवि की कल्पना की सृष्टि हों। राम ने सीता के अतिरिक्त किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया। तत्कालीन राजाओं का स्वभाव व आचार देखते हुए यह एक असाधारण बात थी। किन्तु वाल्मीकि ने राम के एकपत्नी-व्रत की असाधारणता को कहीं गौरव नहीं दिया, न उसकी विशेष प्रशंसा ही की है। सीता भी राम की प्रशंसा करते हुए कहीं इस बात का उल्लेख नहीं करतीं। यों, स्त्री से अलग रहने की दृष्टि से, लक्ष्मण का

३४. म० अनुशासन पर्व ११।३०, ३१, ३२, ३३, ३५

आदर्श राम से भी ऊँचा दिखाई देता है। 'महाभारत' में भी भीम तथा अर्जुन के अतिरिक्त किसी पाण्डव का द्रौपदी से भिन्न महिला के साथ विवाह करने का उल्लेख नहीं है।

'रामायण' के अनुसार राजा दशरथ के तीन नहीं, तीन सौ पचास स्त्रियाँ थीं।[३५] स्वयं दशरथ के पुत्र इस बात की शिकायत करते पाये जाते हैं कि राजा दशरथ काम-पाश से बँधे हुए, कैकेयी के वशवर्ती थे।[३६] राम एकपत्नी-व्रत थे, पर उस पत्नी में बेहद अनुरक्त थे। किष्किन्धाकाण्ड में शरद ऋतु का वर्णन करते हुए वे लक्ष्मण से कहते हैं—

चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः।
मम शोकाभितप्तस्य तथा सीतामपश्यतः।।
प्रियाविहीने दुःखार्ते हृतराज्ये विवासिते।
कृपां न कुरुते राजा सुग्रीवो मयि लक्ष्मण।।

किष्किन्धा० ३०।६४, ६६

अर्थात् 'सीता को न देखते हुए शोक से अभितप्त मेरे लिए सौ वर्षों जैसे जान पड़नेवाले चार महीने बीत गये। मैं प्रिया के वियोग से दुःखी हूँ, मेरा राज्य छिन चुका है और मुझे वनवास दिया गया है; लक्ष्मण, फिर भी राजा सुग्रीव मेरे ऊपर दया नहीं करता।' सीता के अन्वेषण में विलम्ब करनेवाले सुग्रीव से राम बहुत ज्यादा क्रुद्ध थे। उनके इस क्रोध की खबर समस्त वानरों को थी। इसलिए उन्होंने युवराज अंगद से करुणायुक्त वाणी में कहा—'सुग्रीव स्वभाव से तीक्ष्ण अर्थात् क्रोधी है और राम प्रिया

३५. अर्धसप्तशतास्तत्र प्रमदास्ताम्रलोचनाः।
कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः।। अयोध्या० ३४, १३

३६. तुलना कीजिए :—
अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव।
स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः।। अयोध्या० ३१, १२

में अनुरक्त हैं; यदि हम लोग सीता का पता बिना लगाये लौटे, तो राम को प्रसन्न करने के लिए सुग्रीव हमें निस्सन्देह मरवा देगा।'[३७] सीता में राम का जो अनुराग था उसके अनेक कारण थे; उनमें एक यह भी था कि सीता परम सुन्दरी थीं। लंका में सीता को पहचानकर उनके रूप की प्रशंसा करते हुए हनुमान् जी ने कहा—'ऐसी सीता के बिना जीवित रहकर राम ने सचमुच ही बड़ा दुष्कर कार्य किया है। इनके लिए यदि राम समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी को पलट दें तो भी मेरी समझ में उचित ही होगा, त्रैलोक्य का राज्य सीता की एक कला के बराबर भी नहीं है।'[३८] सीताजी के हरे जाने पर विलाप करते हुए राम ने सहसा कुपित होकर लक्ष्मण से कहा—'अवश्य ही देवता लोग मुझे निर्वीर्य समझते हैं......यदि उन्होंने मुझे सीता सकुशल वापस न दी तो मैं त्रैलोक्य का क्षय कर दूँगा। तुम इस समय मेरे पराक्रम से जगत् को आकुल और मर्यादाहीन हुआ देखोगे।'[३९] सीता के

३७. तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः प्रियारक्तश्च राघवः।
अदृष्टायां च वैदेह्यां दृष्ट्वा चैव समागतान्॥
राघवप्रियकामाय घातयिष्यत्यसंशयम्।
किष्किन्धा० ५३।२१, २२

३८. दुष्करं कृतवान् रामो हीनो यदनया प्रभुः।
धारयत्यात्मनो देहं न शोकेनावसीदति॥
यदि रामः समुद्रान्तां मेदिनीं परिवर्तयेत्।
अस्याः कृते जगच्चापि युक्तमित्येव मे मतिः॥
सुन्दरकाण्ड १५, ५५ और १६, १३

३९. निर्वीर्य इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः।
त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालकर्मणा॥
न ते कुशलिनीं सीतां प्रदास्यन्ति ममेश्वराः।
समाकुलममर्यादं जगत्पश्याद्य लक्ष्मण॥
अरण्य० ६४।५५-६२, ६४

लिए राम का जगत् को ध्वंस कर देने का संकल्प उनकी दृष्टि में सीता के--अर्थात् प्रिया के--महत्त्व को प्रकट करता है। युद्धकाण्ड के पाँचवें सर्ग में सेना की तैयारी को देखते हुए राम ने लक्ष्मण से कहा--'समय बीतने से शोक दूर हो जाता है (ऐसा लोग कहते हैं), किन्तु प्रिया सीता को न देखते हुए मेरा शोक दिन-दिन बढ़ता है। मुझे इस बात का दुःख नहीं है कि प्रिया दूर है और उसका हरण कर लिया गया है; मुझे सोच इस बात का है कि उसका यौवन बीता जा रहा है।'[४०] अन्तिम वक्तव्य राम जैसे आदर्शप्राण व्यक्ति के मुख में बड़ा विचित्र जान पड़ता है; राम को मनुष्य मानते हुए भी इस वक्तव्य की स्थूलता का मंडन नहीं किया जा सकता। इस स्थल में एक नितान्त कामुक व्यक्ति की भाँति राम ने सीता के संपर्क के लिए बेचैनी प्रकट की है।

'महाभारत' के प्रमुख पात्र भी 'काम' नामक पुरुषार्थ के प्रति उदासीन नहीं हैं। द्रौपदी के साथ पाँच पाण्डवों का विवाह एक ऐसी घटना है जिसका उचित नैतिक समर्थन महाभारतकार नहीं दे सके हैं। केवल कुन्ती द्वारा यह कह दिये जाने से कि 'सब मिलकर भिक्षा का भोग करो', ऐसी अनहोनी व्यवस्था स्वीकार नहीं हो सकती थी। वस्तुतः द्रौपदी के विवाह की घटना किसी पुरानी प्रथा का स्मरण कराती है, जो देश के कुछ भागों में प्रचलित रही होगी। उस प्रथा के रहते यह कोई अनहोनी घटना न थी, भले ही शिष्ट लोग उसे पसन्द न करते रहे हों। पांडवों में आपस में बड़ा प्रेम था। युधिष्ठिर ने देखा कि द्रौपदी के कारण उस प्रेम व सौहार्द में विघटन की संभावना है, इसी लिए युधिष्ठिर ने यह उचित समझा कि द्रौपदी का विवाह सब भाइयों के साथ हो--

४०. शोकश्च किल कालेन गच्छता ह्यपगच्छति।
मम चापश्यतः कान्तामहन्यहनि वर्धते।
न मे दुःखं प्रिया दूरे न मे दुःखं हृतेति च।
एतदेवानुशोचामि वयोऽस्या ह्यतिवर्तते।। युद्धकाण्ड ५।४, ५।

तेषां तु द्रौपदीं दृष्ट्वा सर्वेषाममितौजसाम्।
संप्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रादुरासीन्मनोभवः।।
तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अब्रवीत् संहितान् भ्रातॄन् मिथो भेदभयान्नृपः।।
सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा।
आदि पर्व १९०।१३, १५, १६

अर्थात् उन सब अमित ओजवाले भाइयों के मन में, जो द्रौपदी का अवलोकन कर रहे थे, उनके इन्द्रिय-समूह को मथता हुआ कामदेव उत्पन्न हो गया। उनके आकार और भाव को समझनेवाले कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने, आपस में फूट न पड़ जाय इस भय से, सब भाइयों से कहा कि शुभलक्षणा द्रौपदी हम सबकी ही भार्या बनेगी।

पाण्डव-बन्धुओं के आपसी समझौते के अनुसार (और इस समझौते का उद्देश्य भी भाइयों को द्रौपदी के कारण झगड़ने से बचाना था) जब अर्जुन बारह वर्षों तक वनवास के लिए चले गये, तब उन्होंने जगह-जगह अनेक स्त्रियों से विवाह किया, अर्थात् उलूपी, सुभद्रा तथा चित्रांगदा से। जब सुभद्रा को देखकर अर्जुन के मन में कामोद्रेक हुआ और वे एकाग्र होकर उसे देखने लगे तो कृष्ण ने परिहास किया—'यह वनवासी का मन इस तरह काम से क्यों आलोडित हो रहा है? यह मेरी बहिन है, मेरे पिता की लाड़ली कन्या है, यदि तुम्हारी ऐसी इच्छा हो तो मैं स्वयं पिता से कहूँ।'[४१] अर्जुन ने उत्तर दिया—'वसुदेव की पुत्री और वासुदेव की अर्थात् आपकी

४१. वनेचरस्य किमिदं कामेनालोड्यते मनः।
ममैषा भगिनी पार्थ सारणस्य सहोदरा।।
सुभद्रा नाम भद्रं ते पितुर्मे दयिता सुता।
यदि ते वर्तते बुद्धिर्वक्ष्यामि पितरं स्वयम्।।
आदिपर्व २१८।१६,१७

बहिन, सौन्दर्य से संपन्न, यह किसका मन नहीं मोह लेगी? यदि यह वृष्णि-कुल की कुमारी और आपकी बहिन सुभद्रा मेरी रानी हो सके तो निश्चय ही मेरा सम्पूर्ण कल्याण हो जाय।'[४२] बाद में कृष्ण ने अर्जुन को समझाया कि वह सुभद्रा का हरण कर ले, क्योंकि स्वयंवर में कन्या किसे वरेगी इसका ठिकाना नहीं है। स्पष्ट ही अर्जुन तथा कृष्ण दोनों को इसमें कोई बुराई नहीं दिखाई दी कि वनवासी अर्जुन एक और महिला से विवाह कर ले। बाद में द्रौपदी ने सुभद्रा की ईर्ष्या से प्रणय-कोप प्रकट किया—'कुन्तीपुत्र! यहाँ क्यों आये हो, वहीं जाओ, जहाँ वह सात्वतवंश की कन्या सुभद्रा है। सच है, बोझ को कितना ही कसकर बाँधा गया हो, जब उसे दूसरी बार बाँधते हैं तब पहला बंधन ढीला पड़ जाता है।'[४३] स्पष्ट ही, दूसरे पतियों के रहते हुए भी द्रौपदी को अर्जुन के प्रेम की बड़ी चिन्ता थी।

द्रौपदी स्वभावतः अनेक पतियों का साथ पसन्द करती थी, इसका कुटिल संकेत एक जगह कर्ण ने दिया है। प्रसंग है दुर्योधन की यह चिन्ता, कि किस प्रकार पाण्डवों के बीच भेदभाव उत्पन्न किया जाय। अनेक विकल्पों को सोचते हुए दुर्योधन यह भी प्रस्ताव रखता है कि किसी तरह द्रौपदी को ही फोड़ लिया जाय। इस प्रस्ताव की अयुक्तता दिखाते हुए कर्ण कहता है—'प्रायः स्त्रियों का यह अभीष्ट गुण है कि एक स्त्री में अनेक पुरुषों से सम्बन्ध स्थापित करने की रुचि हो। पांडवों के साथ रहने में कृष्णा

४२. दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा।
रूपेण चैषा संपन्ना कमिवैषा न मोहयेत्॥
कृतमेव तु कल्याणं सर्वं मम भवेद् ध्रुवम्।
यदि स्यान्मम वार्ष्णेयी महषीयं स्वसा तव॥
आदिपर्व २१८।१८,१९

४३. तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा॥
सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते॥ आदिपर्व २२०, १७

को यह लाभ स्वतः प्राप्त है; अतः उसके मन में भेद नहीं किया जा सकता।'[४४]

ऊपर के उद्धरण से यह नहीं समझना चाहिए कि महाभारत की दृष्टि में द्रौपदी का चरित्र ऊँचा नहीं था। वस्तुतः महाभारत जैसे विशाल ग्रंथ में तरह-तरह के विचारों तथा सम्मतियों का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। महाभारत और रामायण दोनों में ही समय-समय पर प्रक्षिप्त अंश जोड़े गये हैं, इन प्रक्षेपों द्वारा उक्त ग्रन्थों को सर्वांगीण एवं महत्त्वपूर्ण बनाने के प्रयत्न किये गये। किन्तु फिर भी इन महाकाव्यों में कहीं-कहीं अपेक्षाकृत कम सभ्य समाज का संकेत देनेवाले वक्तव्य मिल ही जाते हैं। आश्चर्य तो यह है कि इन नितान्त पुराने महाकव्यों में जहाँ-तहाँ बहुत ऊँचे आदर्श प्रतिफलित दिखाई देते हैं, ऐसे आदर्श जो आज के नीति-विशारदों को भी चकित कर सकते हैं। वन-पर्व के अन्तर्गत नल-आख्यान में पत्नी को लक्ष्य करके एक स्थल पर कहा गया है—

न च भार्यासमं किंचिद्विद्यते भिषजां मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।। वनपर्व १६०।२९

'मैं आपसे सच कहती हूँ कि चिकित्सा-विशारदों के मत में, सब प्रकार के दुःखों में पत्नी के समान कोई औषधि नहीं है।' यह वचन नल के प्रति दमयन्ती का है, जो पति के साथ वन में जाना चाहती है। महाभारतकार जानते थे कि पत्नी सिर्फ काम-क्रीड़ा की ही वस्तु नहीं है; एक संगिनी के रूप में वह मूल्यवान् औषधि का काम करती है।

धर्म, अर्थ और काम का आपेक्षिक महत्त्व

शान्तिपर्व के एक स्थल में विदुर तथा पांडवों के बीच इस बात पर विचार-विनिमय हुआ कि धर्म, अर्थ और काम में किसकी प्रधानता है—

४४. ईप्सितश्च गुणः स्त्रीणामेकस्या बहुभर्तृता।
तं च प्राप्तवती कृष्णा न सा भेदयितुं क्षमा।। आदिपर्व २०१।८

कौन सबसे श्रेष्ठ है, कौन मध्यम और कौन लघु। इन तीनों पर विजय पाने के लिए विशेषतः किसमें मन लगाना चाहिए? इस सम्बन्ध में सबने अलग-अलग मत प्रकट किये। विदुर ने कहा—अनेक शास्त्रों का अनुशीलन, तपस्या, त्याग, श्रद्धा, यज्ञ-क्रिया, भाव-शुद्धि, दया, सत्य और संयम, यही मुख्य हैं, यही धर्म और अर्थ के मूल हैं। धर्म सर्वश्रेष्ठ है, अर्थ मध्यम और काम लघु। अर्जुन ने कहा—यह जगद् कर्मभूमि है, यहाँ जीविका के साधन-भूत कर्मों की प्रशंसा होती है। तात्पर्य यह कि अर्थ ही मुख्य है। धर्म और काम अर्थ के ही दो अवयव हैं। विशिष्ट लोग धनवान् पुरुष की उपासना करते हैं। नकुल-सहदेव ने कहा—धन ही महत्त्वपूर्ण है; मनुष्य को घूमते-फिरते हर समय हर उपाय से धन-प्राप्ति का योग बनाना चाहिए। धन से युक्त धर्म और धर्म से युक्त धन, यही महत्त्वपूर्ण हैं। भीमसेन ने अपनी राय इस प्रकार प्रकट की—कामना के बिना न कोई धन कमाता है, न धर्म करता है; ऋषि लोग कामना से संयुक्त होकर ही तपस्या करते हैं। जिस प्रकार दही का सार मक्खन है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ का सार काम है। अतः काम ही मुख्य है। धर्म, अर्थ और काम तीनों का एक साथ ही सेवन करना चाहिए। जो केवल एक का सेवन करता है वह निकृष्ट है, दो का सेवन करनेवाला मध्यम, और तीनों का सेवन करनेवाला उत्तम।

इन सम्मतियों को सुनकर युधिष्ठिर ने यह मत प्रकट किया कि मनुष्य को अनासक्त होना चाहिए, जिससे वह मुक्त हो सके।[४५]

नैतिक आदर्श, धर्म और अधर्म

अब तक हमने अर्थ तथा काम नामक पुरुषार्थों के संबंध में रामायण-महाभारत के विचारों का वर्णन किया। अर्थ और काम ऐसे मूल्य हैं जो मनुष्य को स्वतः आकृष्ट करते हैं। अतः किसी लेखक या विचारक के द्वारा यह कहा जाना कि वे ग्राह्य अथवा महत्त्वपूर्ण हैं, विशेष मौलिक

४५. शान्तिपर्व अ० १६७ (श्लोक ५, से ४६ तक विविध)।

बात नहीं है। यहाँ इसका उल्लेख इसलिए किया गया है कि कुछ लोग भारतीय संस्कृति पर एकदम ही परलोक-परायण होने का आरोप लगाते हैं। रामायण और महाभारत में से जो वक्तव्य हमने ऊपर दिये हैं वे इस आरोप की निराधारता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। रामायण तथा महाभारत के प्रणेताओं में जीवन-संबंधी यथार्थ दृष्टि की कमी नहीं है, उनके नितान्त आदर्श पात्र भी, जैसे राम और युधिष्ठिर, कृष्ण और अर्जुन जीवन की आवश्यकताओं और उसके व्यापक मूल्यों के महत्त्व से सुपरिचित हैं। साथ ही हमें स्थिति के दूसरे पहलू को भी गौरव देना होगा; रामायण तथा महाभारत के रचयिताओं की सम्मति में नैतिक व्यवस्था का विशेष महत्त्व है। उनका निश्चित मत है—जैसा कि ऊपर कहीं उद्धृत की गयी भीष्म की उक्ति से प्रकट है कि जीवन के स्वाभाविक मूल्यों, अर्थात् अर्थ और काम की एषणा पर धर्म का नियंत्रण रहना चाहिए। अर्थ एवं काम की इच्छा स्वतः बुरी नहीं है, वह बुरी तब बन जाती है जब उसका संचार धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन करने लगता है।

रामायण-महाभारत में धर्मतत्त्व का विवेचन अनेक संदर्भों में कई प्रकार से हुआ है, इन प्रकारों में कुछ साहित्यिक अभिव्यक्ति की सीमा के अंतर्गत आते हैं, कुछ नहीं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि रामायण में धर्म-अधर्म के रूपों की अभिव्यक्ति काव्यात्मक हो सकी है। आदिकवि ने राम एवं उनके साथियों तथा रावण और उसके सहचरों की जीवन-गाथाओं व संघर्षों द्वारा भलाई-बुराई, धर्म-अधर्म आदि के स्वरूप को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न महाभारत के कथानक में भी ओतप्रोत है। किन्तु महाभारत में, प्रकृत कथानक से हटकर, विभिन्न आख्यानों तथा संवादों के माध्यम से भी धर्म और अधर्म का स्वरूप निरूपित किया गया है। आदिकवि ने धर्म तथा अधर्म के सम्बन्ध में प्रायः कहीं भी दुविधा का प्रदर्शन नहीं किया है, इन तत्त्वों के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ बहुत कुछ निश्चित हैं। इसके विपरीत महाभारतकार की धर्माधर्म-सम्बन्धी धारणाएँ उतनी निर्दिष्ट एवं निश्चित नहीं हैं। महाभारत में जहाँ-तहाँ धर्माधर्म के

रूप को लेकर सन्देह, दुविधा एवं द्वंद्वात्मक मनोवृत्ति का प्रकाशन किया गया है। महाभारतकार की इस दुविधा एवं द्वन्द्वमूलक मनोवृत्ति के दो मुख्य रूप हैं। भारतीय नैतिक चिन्तना में अनेक प्रकार के कर्म तथा मुख्यतः दो प्रकार के धम माने गये हैं। कुछ धर्म अथवा नैतिक आवश्यकताएँ सार्वभौम हैं, वे सब वर्णों तथा आश्रमों के मनुष्यों के लिए समान हैं। ऐसे धर्मों को 'नित्यधर्म' की संज्ञा दी गयी है। दूसरा विभाग वर्णाश्रम धर्म का है। महाभारत में प्रथम कोटि के धर्मों के सम्बन्ध में जहाँ-तहाँ यह विवाद मिलता है कि वे धर्म कहाँ तक निर्विवाद रूप में वर्तनीय हैं। इसी प्रकार कहीं-कहीं यह समस्या उठ खड़ी होती है कि वर्गविशेष का धर्म (मुख्यतः क्षत्रियों का धर्म) कहाँ तक ग्राह्य एवं आचरणीय है। यह समस्या निम्नलिखित रूप भी ले लेती है—तथाकथित नित्यधर्म की प्रेरणा और वर्णाश्रम धर्म की आवश्यकताओं में झगड़ा या विषमता होने पर क्या किया जाय? इस प्रकार का प्रश्न महाभारत के शुरू में ही अर्जुन के सामने उपस्थित हुआ था, भारत-युद्ध के समाप्त हो जाने पर वैसा ही प्रश्न युधिष्ठिर के मन में उठा। इस प्रश्न का उदय एक प्रकार की वैराग्य-भावना के साथ होता है, जिससे उसका संबंध मनुष्य की तथाकथित रिलीजस या आध्यात्मिक माँगों से जुड़ जाता है। कहीं-कहीं ऐसा प्रश्न रामायण में भी उठता दिखाई देता है।

महाभारतकार ने उपर्युक्त विभिन्न कोटियों के नैतिक द्वन्द्वों का समाधान देने का जगह-जगह प्रयत्न किया है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे उस प्रयत्न में सर्वत्र अथवा प्रायः सफल ही हुए हैं। महाभारत के विभिन्न स्थलों में इस प्रकार के झगड़ों के भिन्न-भिन्न और कहीं-कहीं विरोधी हल दिये गये हैं, और कुछ स्थलों में तो नैतिक द्वन्द्व की स्थिति को उपस्थित भर करके छोड़ दिया गया है।

नैतिक व्यक्तित्व

भारतीय साहित्य में नैतिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व दशरथ-पुत्र

राम का है; उनके साथ यदि किसी दूसरे साहित्य-पुरुष का नाम लिया जा सकता है तो युधिष्ठिर का। वाल्मीकि के राम, शायद, उतने पक्के संत-पुरुष नहीं हैं जैसे कि तुलसी के राम। फिर भी, विशुद्ध मानवीयता की दृष्टि से आदिकवि की लेखनी द्वारा प्रकल्पित एवं चित्रित राम सचमुच ही एक लोकोत्तर आदर्श चरित्रवाले महापुरुष हैं। आदिकाव्य का प्रारम्भ ही ऋषि वाल्मीकि की नारद के प्रति निवेदित इस जिज्ञासा से होता है कि लोक में ऐसा आदर्श पुरुष कौन है जिसमें समस्त प्रख्यापित श्रेष्ठ गुण पाये जाते हैं—

> कोन्वस्मिन् सांप्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान्।
> धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥
> चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
> विद्वान्कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः॥
> आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान्कोऽनसूयकः।
> कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे॥ बालकाण्ड १।२-४

'इस समय लोक में कौन गुणवान् तथा वीर्यवान् है, कौन धर्मवेत्ता, कृतज्ञताशील, सत्य बोलनेवाला, दृढ़व्रती, शुद्ध आचरणवाला, सब प्राणियों के हित में लगा हुआ, विद्यावान्, समर्थ, प्रियदर्शन, इन्द्रियों को वश में रखनेवाला, क्रोधहीन, तेजस्वी, दूसरों के प्रति असूया न रखनेवाला है? कौन ऐसा है जिसके युद्ध में क्रोध करने पर देवता भी भयभीत हो जाते हैं?' यहाँ दिया हुआ प्रत्येक विशेषण अपनी विशिष्टता रखता है। आदिकवि की दृष्टि में आदर्श पुरुष में विद्या और बल दोनों का समावेश होना चाहिए। वह क्रोधी न हो, किन्तु जब वह उचित क्रोध करे तो उससे देवताओं को भी भय होना चाहिए। उपकारी के प्रति कृतज्ञता, आत्मोन्नति के लिए मन आदि की वश्यता तथा दूसरों की उन्नति से न जलने का स्वभाव, ये सब श्लाघनीय विशेषताएँ हैं। इसके आगे नारद ने राम में जिन अनेक अतिरिक्त गुणों की उपस्थिति बतलायी है उनमें शारीरिक सौन्दर्य, विद्वत्ता, शक्तिमत्ता

आदि के द्योतक विशेषण ही अधिक हैं। सौन्दर्य से मतलब है पुरुषोचित शारीरिक गठन; विपुल अथवा पुष्ट कंधे, बड़ी बाँहें, विशाल वक्षःस्थल, प्रशस्त ललाट, श्रेष्ठ विक्रम या शूरता आदि। इसी प्रकार राम की विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता आदि का विवरणात्मक उल्लेख है। राम गंभीरता में समुद्र की भाँति ही हैं, धीरज में हिमालय के समान; वे क्रोध में कालाग्नि के सदृश हैं और क्षमा में पृथ्वी की तरह। बल एवं पराक्रम में राम विष्णु के सदृश हैं—जिससे यह मतलब लिया जा सकता है कि वे विष्णु के अवतार नहीं हैं। जैसे समुद्र के समीप नदियाँ पहुँचती हैं, ऐसे ही राम के पास सज्जन लोग पहुँचते हैं। (बालकाण्ड, अध्याय १, ९–१८)

रामायण के पहले सर्ग में राम के जिन गुणों की सूची है वे क्रमशः उनके जीवन में अभिव्यक्ति पाते दिखाये गये हैं—जैसे पिता के प्रति आज्ञाकारिता, भरत के प्रति बड़े भाई का वात्सल्य, राज्य तथा ऐश्वर्य में अनासक्ति, मित्रवत्सलता, पराक्रमशीलता आदि। उनके वन जाने की तैयारी करने पर अयोध्या के जन कहते हैं—कोई निर्गुण पुत्र को भी वनवास नहीं देता, फिर ऐसे पुत्र को कौन वनवास देगा जिसने अपने आचार से ही लोक को जीत लिया है? (अवश्य ही राजा किसी भूत-प्रेत के अधीन हैं!) पुरुषश्रेष्ठ राम को छः गुण हमेशा शोभित करते हैं—क्रूरता का अभाव, कोमलता, अनुकंपा, शास्त्रज्ञान, शील (सुशीलता) एवं इन्द्रियों तथा मन पर नियंत्रण का स्वभाव।[४६]

राम के जीवन-इतिहास में जगह-जगह इसके प्रमाण मिलते हैं कि वे पग-पग पर केवल प्रत्याशित सदाचार की मर्यादा का अतिक्रमण करते हुए लोकोत्तर आदर्शों की प्रतिष्ठा व प्रकाशन करते चलते हैं। उन्होंने समस्त प्रजा-परिजनों की अनिच्छा रहते हुए भी पिता के वचनों को सच्चा बनाने के लिए वनगमन स्वीकार किया, यह स्वतः उदात्त त्याग का महान् निदर्शन था। अधिक महत्त्व की बात यह है कि उनका यह आचरण एकदम स्वतः

४६. अयोध्याकाण्ड ३३।११–१२

स्फूर्त था, उसमें कहीं कृत्रिमता या दिखावे की प्रवृत्ति नहीं थी। तमसा नदी के किनारे रात बिताते हुए राम शीघ्र ही जाग गये और सुमन्त्र से बोले––'जब तक ये सब (प्रजाजन) सोये हुए हैं तब तक हम लोग रथ में चढ़कर निर्भय रास्ते पर चले जायँ (ताकि ये लोग साथ-साथ न चल सकें)। आगे फिर ऐसा न हो कि अयोध्या के ये नागरिक मेरे अनुराग से फिर पेड़ों के नीचे सोयें। राजकुमारों का कर्तव्य तो यह है कि नागरिकों को उनके अपने दुःख से मुक्त करें, न कि यह कि स्वयं अपना दुःख उन पर लाद दें।'[४७] राम के ये वाक्य उनकी उदार मनुष्यता एवं कर्तव्यपरायण राजपुत्र होने की प्रभावपूर्ण साक्षी उपस्थित करते हैं।

राजा का आचार दूसरे लोगों के आचार को प्रभावित करता है, इसे राम भली-भाँति जानते हैं। जाबालि ने राम को यह शिक्षा दी कि माता, पिता, भाई कोई किसी का अपना नहीं होता। इसलिए राम को चाहिए कि वे लौटकर अयोध्या में राज्य का भोग करें। जाबालि के सौख्यवाद का विरोध करते हुए राम ने जो उदात्त उद्गार प्रकट किये वे उनकी सजीव आदर्शवादिता का प्रभावपूर्ण प्रकाशन करते हैं––

कस्य यास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम्।
अनया वर्तमानोऽहं वृत्या हीनप्रतिज्ञया।।
कामवृत्तस्त्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते।
यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः।।
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्।।
उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते।।

अयोध्या० १०९।८, ९–१२

४७. अयोध्याकाण्ड ४६।२१।२३

'प्रतिज्ञा-त्याग रूपी हीन वृत्ति को अपनाकर मैं किस (कुलाचार) का अनुसरण करता होऊँगा और किस आचरण से स्वर्ग जाऊँगा? मैं यथेष्टचारी कहलाऊँगा और फिर सब वैसा ही करेंगे; जैसा आचरण राजा लोग करते हैं, वैसा ही प्रजाजन भी करते हैं। ऋषियों तथा देवताओं सबने सत्य को मान्यता दी हैं; सत्यवादी इस लोक तथा परलोक दोनों में शाश्वत कल्याण को प्राप्त होता है। लोग मिथ्यावादी से वैसे ही उद्विग्न होते हैं जैसे कि सर्प से। लोक में धर्म सत्यरूप है। सत्य ही सबका मूल है।'

सत्य की महिमा महाभारत में भी विशेष रूप से उद्घोषित की गयी है। महाभारत के सबसे अधिक धर्मपरायण पात्र युधिष्ठिर मुख्यतः अपनी सत्यवादिता के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी सत्यपरायणता में एक ही जगह व्यतिक्रम दिखाया गया है—अश्वत्थामा नामक हाथी की मृत्युघोषणा के अवसर पर, जिससे द्रोणाचार्य की मृत्यु संभव हुई। द्रोणाचार्य द्वारा अस्त्र-परित्याग का कारण उनकी युधिष्ठिर की सत्यपरता में अखंड आस्था थी—

स्थिरा बुद्धिर्हि द्रोणस्य न पार्थो वक्ष्यतेऽनृतम्।
त्रयाणामपि लोकानामैश्वर्यार्थे कथंचन॥

म० द्रोणपर्व, ११, ५९९

'द्रोण की यह स्थिर आस्था थी कि युधिष्ठिर तीनों लोकों के ऐश्वर्य के लिए भी कभी झूठ नहीं बोलेंगे।' युधिष्ठिर क्षमाशील और उदार भी विशेष थे। वनपर्व में पाण्डवों के जीवन के दो ऐसे प्रसंग हैं जो युधिष्ठिर के उक्त गुणों को ज्वलंत रूप में प्रकाशित करते हैं। कर्ण आदि से परामर्श करके दुर्योधन द्वैतवन में इस मतलब से गया कि वहाँ पांडवों को अपने ऐश्वर्य से चिढ़ाये। दुर्भाग्यवश वहाँ उसका चित्ररथ गंधर्व से झगड़ा हो गया, और गंधर्व ने उसे हराकर कैद कर लिया। यह सब खबर पाकर प्रसन्नता प्रकट करनेवाले भीमसेन का वारण करके युधिष्ठिर ने भीम, अर्जुन आदि को यह आज्ञा दी कि

वे जाकर दुर्योधन को छुड़ा लायें। यह उदारता उन्होंने उस दुर्योधन को दिखलायी जिसने उनका सर्वस्व हरण करके उन्हें वनवासी बना दिया था। कुछ समय बाद सिंधुराज जयद्रथ ने द्रौपदी का हरण कर लिया। बाद में जब उसे पकड़कर लाया गया तो युधिष्ठिर की क्षमाशीलता ने ही उसके प्राणों की रक्षा की।

नारी-आदर्श

अब तक हमने पुरुष-व्यक्तित्व के नैतिक आदर्श की चर्चा की। रामायण-महाभारत में नारी-व्यक्तित्व के नैतिक वर्णन में मुख्यतः उसके पातिव्रत का उल्लेख हुआ है। यों उसके व्यक्तित्व में शारीरिक सौन्दर्य का विशेष महत्त्व है ही। महाभारत की प्रधान नायिका द्रौपदी में दूसरी विशेषताओं के साथ-साथ पतिपरायणता के गुण का भी पूर्ण योग है। इस संबंध में सीता का आदर्श तो अतुलनीय है ही। दूसरे आख्यानों में दमयन्ती, सावित्री आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। वनपर्व के एक स्थल में द्रौपदी तथा सत्यभामा का रोचक संवाद है। सत्यभामा ने पूछा—'हे प्रियदर्शने! इसका क्या रहस्य है कि पांडव सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं और सबके सब तुम्हारा मुख जोहते हैं? मुझे भी कोई ऐसा व्रत, तप, स्नान, मंत्र, औषध आदि बतलाओ जिससे मैं कृष्ण को सदैव वश में रख सकूँ।' द्रौपदी ने उत्तर दिया कि 'पति को वश में करने के ये उचित उपाय नहीं हैं।' 'फिर उचित उपाय क्या हैं?' द्रौपदी ने अपने व्यवहार एवं स्वभाव के संकेत के बहाने तथाकथित उचित उपायों का निर्देश किया। उसने कहा—

अहंकारं विहायाहं कामक्रोधौ च सर्वदा।
सदारान् पाण्डवान् नित्यं प्रयतोपचराम्यहम्॥
प्रणयं प्रतिसंहृत्य निधायात्मानमात्मनि।
शुश्रूषुर्निरहंमाना पतीनां चित्तरक्षिणी॥
दुर्व्याहृताच्छङ्कमाना दुःस्थिताद् दुरवेक्षिताम्।
दुरासिताद् दुर्व्रजितादिङ्गिताध्यासितादपि॥

देवो मनुष्यो गंधर्वो युवा चापि स्वलंकृतः।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषो मतः॥
नाभुक्तवति नास्नाते नासंविष्टे च भर्तरि।
न संविशामि नाश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि॥
क्षेत्राद् वनाद् वा ग्रामाद् वा भर्तारं गृहमागतम्।
अभ्युत्थायाभिनंदामि आसनेनोदकेन च॥

वनपर्व—२३३।१९२५

'मैं अहंकार और काम-क्रोध को छोड़कर सदा सावधानी के साथ सब पांडवों की और उनकी अन्यान्य स्त्रियों की भी सेवा करती हूँ। अपनी इच्छाओं का दमन करके मन को अपने आप में ही समेटे हुए केवल सेवा की इच्छा से ही अपने पतियों का मन रखती हूँ। अहंकार और अभिमान को अपने पास नहीं फटकने देती। कभी मेरे मुख से कोई बुरी बात न निकल जाय, इसकी आशंका से सदा सावधान रहती हूँ। असभ्य की भाँति कहीं खड़ी नहीं होती, निर्लज्ज की तरह सब ओर दृष्टि नहीं डालती। बुरी जगह पर नहीं बैठती। दुराचार से बचती तथा चलने-फिरने में भी असभ्यता न हो जाय इसके लिए सतत सावधान रहती हूँ। पतियों के अभिप्रायपूर्ण संकेत का सदैव अनुसरण करती हूँ। देवता, मनुष्य, गंधर्व, युवक, बड़ी सजधजवाला धनवान् अथवा परम सुन्दर कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पांडवों के सिवा और कहीं नहीं जाता। पतियों और उनके सेवकों को भोजन कराये बिना मैं कभी भोजन नहीं करती, उन्हें नहलाये बिना कभी नहाती नहीं हूँ, तथा पतिदेव जब तक शयन न करें, तब तक मैं सोती भी नहीं हूँ। खेत से, वन से अथवा गाँव से जब कभी मेरे पति घर पधारते हैं, उस समय मैं खड़ी होकर उनका अभिनन्दन करती हूँ तथा आसन और जल अर्पण करके उनके स्वागत-सत्कार में लग जाती हूँ।'

भारतीय साहित्य की नायिकाओं में अपनी तेजस्विता के कारण द्रौपदी एक विशेष स्थान रखती है। जगह-जगह उसने संकट-ग्रस्त युधिष्ठिर को उचित सीख भी देने का प्रयत्न किया है। द्रौपदी दर्शनीय थी, विदुषी थी और

पतिव्रता तथा पतिप्रिया थी। फिर भी युधिष्ठिर के सामने अपने व्यावहारिक सुझाव रखते हुए वह इसका पर्याप्त ध्यान रखती थी कि कहीं युधिष्ठिर का पुरुष-हृदय अपमान न महसूस करे। वनपर्व में एक स्थान पर द्रौपदी ने युधिष्ठिर को समझाते हुए जो बहुत-सी बातें कहीं, उनमें एक यह भी थी कि क्षत्रिय को एकान्त क्षमाशील नहीं होना चाहिए—

यो न दर्शयते तेजः क्षत्रियः काल आगते।
सर्वभूतानि तं पार्थ सदा परिभवन्त्युत॥

वनपर्व २७, ३८

अत्राप्युदाहरंतीममितिहासं पुरातनम्।
बलिः पप्रच्छ दैत्येन्द्रं प्रह्लादं पितरं पितुः॥
क्षमा स्विच्छ्रेयसी तात उताहो तेज इत्युत।
तस्मै प्रोवाच तत्सर्वमेवं पृष्टः पितामहः॥
न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।
यो नित्यं क्षमते तात बहून् दोषान्स विन्दति।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पंडितैरपवादिता॥

वनपर्व २८। १-२, ३-५, ६-७, ८

'जो क्षत्रिय समय आने पर अपने प्रभाव को नहीं दिखाता, उसका सब प्राणी सदा तिरस्कार करते हैं। इस विषय में एक पुराना इतिहास उदाहृत किया जाता है। एक बार बलि ने दैत्येन्द्र प्रह्लाद से पूछा—"हे तात! क्षमा ज्यादा श्रेष्ठ है या तेज?" पितामह प्रह्लाद ने उत्तर दिया, "न हमेशा तेज कल्याणकारी होता है, न सदैव क्षमा ही श्रेयस्कर होती है। हे तात! जो हमेशा क्षमा करता है, वह बहुत-से दोषों को प्राप्त होता है। इसी लिए विवेकी लोगों ने क्षमा के अपवाद कहे हैं।" यहाँ द्रौपदी ने युधिष्ठिर को अपने मन की बात एक संवाद-कथा के बहाने से कही, ताकि उसका यह अभिमान प्रकट न हो कि वह अपने को बहुत समझदार मानती है। आगे इसी आशंका से (युधिष्ठिर के सम्मुख यह मन्तव्य उपस्थित करके कि पुरुषार्थ ही प्रधान है) वह कहती है—

नीतिर्बृहस्पतिप्रोक्ता श्रुता मे पितुरंतिके।
यां पूर्वं ब्राह्मणः प्राहपित्रे मे भरतर्षभ।। वनपर्व ९।४१३

'बृहस्पति के द्वारा बतलायी हुई इस नीति को, जो उन्हें पहले एक ब्राह्मण ने समझायी थी, मैंने अपने पिता के समीप सुना था।' द्रौपदी के बातचीत के इस ढंग से जहाँ एक ओर उसकी चतुराई प्रकट होती है, वहाँ दूसरी ओर इस भावना का भी आभास मिलता है कि वह बुद्धि तथा नीति-बोध में अपने को पति से महत्तर दर्शित नहीं करना चाहती थी।

धर्म की व्याख्याएँ

पांडवों के नेता युधिष्ठिर ने महाभारत में जगह-जगह धर्म की व्याख्या की है, दूसरे अनेक वक्ताओं ने भी धर्म का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया है। वनपर्व में यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने धर्म का महत्त्व इन शब्दों में घोषित किया है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हातव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्।।
वनपर्व ३१३, १२८

'जो धर्म का हनन करता है, धर्म उसका हनन कर देता है; रक्षा किया हुआ धर्म धर्मरक्षक की रक्षा करता है। इसलिए धर्म को न छोड़ना चाहिए कि कहीं वह निहत होकर हमारा नाश न कर दे।' प्रश्न है, यह धर्म क्या चीज है? धर्म नामक तत्त्व को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है, व्यक्तिगत कल्याण की दृष्टि से एवं सामाजिक सामंजस्य की दृष्टि से। महाभारत में धर्मतत्त्व को इन दोनों ही दृष्टिकोणों से देखा तथा वर्णित किया गया है। सामाजिक दृष्टि से कर्णपर्व में कहा गया है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्माद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।
कर्णपर्व ५, २६३

अर्थात् धारण करने के कारण धर्म नाम है, धर्म प्रजाओं का धारण करता है; जिससे लोक का धारण हो, लोक की स्थिति हो वही निश्चय रूप में धर्म है।' धर्म वह है जिससे लोक का कल्याण हो। लोक-कल्याण की साधक होने के कारण ही अहिंसा का विशेष महत्त्व है—

यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।।

कर्णपर्व ५, २६२

अर्थात् 'जो अहिंसा से सहचरित है वही, निश्चय रूप में, धर्म है। प्राणियों के प्रति अहिंसा के लिए ही धर्म का व्याख्यान किया जाता है।' अहिंसा का स्थान सत्य से भी ऊपर है। जब किसी के प्राण संकट में हों, उस समय असत्य बोलना भी पाप नहीं रहता। 'पाँच असत्य पापरूप नहीं होते; विवाह (तय करने) के अवसर पर, रति के समय, प्राण-संकट में, सर्वस्वनाश उपस्थित होने पर, और ब्राह्मण के लाभ की स्थिति में।'[४८] अन्यत्र भी कहा गया है—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम।।

शान्तिपर्व-कारक ३२६,१३

'सत्य वचन श्रेष्ठ होता है, किन्तु सत्य की अपेक्षा भी हित करनेवाला वचन श्रेष्ठ है; जो प्राणियों का अत्यन्त हित करनेवाला है वही सत्य है, ऐसा मेरा मत है।'

निश्चय ही धर्मशील पुरुष वह है जिसके द्वारा किसी का अहित नहीं होता। किन्तु व्यक्ति के सामने हमेशा सिर्फ यही प्रश्न नहीं होता कि वह दूसरों का अहित न करे। दो भिन्न कोटियों के द्वन्द्वमूलक प्रश्न भी उसके सामने उपस्थित हो सकते हैं। एक प्रश्न यह उठ सकता है कि ऐसे व्यक्ति के प्रति,

४८. म०, कर्णपर्व ५।२६१

जो दूसरों को कष्ट देता है, कहाँ तक क्षमा व अहिंसा का बर्ताव किया जाय? दूसरा प्रश्न व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति तथा साधना से संबंध रखता है, नैतिकता के ऊपर उठकर उच्चतर साधना के अभिलाषी पुरुष को कहाँ तक सत्य, क्षमा, अहिंसा आदि का पालन करना चाहिए? किन स्थितियों में ऐसे व्यक्ति को उक्त गुणों के त्याग का अधिकार हो सकता है? और यदि साधक लोकशासक राजा भी है, तो उमकी क्षमाशीलता आदि की क्या सीमाएँ होनी चाहिए? इस प्रश्न का एक दूसरा रूप भी है, कहाँ तक व्यक्ति को वर्णाश्रम धर्म के निर्वाह के लिए सत्य, क्षमा आदि उच्च गुणों के पालन में समझौता कर लेना चाहिए? महाभारत की यह विशेषता है कि उसमें धर्म से संबंधित इस तरह के सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रश्न उठाये गये हैं। ऐसे प्रश्नों की अवगति किसी जाति की नैतिक-आध्यात्मिक चेतना की समृद्धि का प्रमाण है। किसी भी संस्कृति में ऐसे प्रश्नों के सम्पूर्ण हल पा सकना असम्भव है। महाभारत में भी उक्त प्रश्नों के संतोषप्रद समाधान दिये गये हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः महाभारत में नैतिक संवेदना के विभिन्न स्तरों पर द्वन्द्व एवं दुविधा का स्वर ही प्रधान है। यहाँ हम पाठकों को इस अंतिम तथ्य से अवगत कराने का प्रयत्न करेंगे।

(१) महाभारत में वर्णाश्रम धर्म, विशेषतः वर्णगत धर्म की तीखी चेतना पायी जाती है। मनुष्य को स्वधर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। स्वधर्म का अर्थ है वर्ण-धर्म। गीता तक में वर्णधर्म की महत्ता से संबंधित कतिपय अंधविश्वासों का समर्थन पाया जाता है, जैसे इस विश्वास का कि युद्ध में मरनेवाला सीधे स्वर्ग को जाता है। गीता में युद्ध को क्षत्रिय के लिए स्वर्ग का खुला द्वार (स्वर्गद्वारमपावृतम्) कहा गया है। महाभारत में जगह-जगह स्वधर्म की महिमा का उल्लेख है। चूँकि महाभारत के प्रमुख पात्र क्षत्रिय हैं, इसलिए स्थान-स्थान पर क्षत्रिय-धर्म का महत्त्व-ख्यापन है। उद्योग-पर्व में विदुर के मुख से कहलाया गया है——

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमंडलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥ उद्योग० ३३।६१

अर्थात् 'हे पुरुषश्रेष्ठ, ये दो प्रकार के पुरुष सूर्यमंडल को भेदकर ऊर्ध्वगति को प्राप्त होते हैं—योगयुक्त संन्यासी और संग्राम में शत्रुओं के सम्मुख युद्ध करके मारा गया योद्धा।' यहाँ योगी परिव्राजक तथा युद्ध में मारे जानेवाले क्षत्रिय दोनों को एक कोष्ठक में रखना कुछ विस्मयजनक जान पड़ता है—बाद के वेदान्ती ऐसे अदार्शनिक सत्य को कभी भी स्वीकार नहीं करेंगे। किन्तु महाभारत में यह विचार जगह-जगह व्यक्त हुआ है। शांतिपर्व में भीमसेन ने युधिष्ठिर से कहा—

मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः।
ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम ॥ सं० म० शांतिपर्व १।३२

'सब भूतों के प्रति मित्रता का भाव, दान, अध्ययन तथा तप ब्राह्मण के ही धर्म हैं, राजा के नहीं।' महाभारतकार सामान्य मनुष्य की दृष्टि से ही पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म का विचार नहीं करते, उनकी दृष्टि में मनुष्य मुख्यतः किसी वर्ण का सदस्य है। स्वधर्म के अंतर्गत वर्णधर्म का ही नहीं, कुल-धर्म का भी समावेश है। यह मन्तव्य धर्मव्याध की कथा में बड़े तीखे रूप में प्रकट हुआ है। कौशिक नाम के ब्राह्मण के सामने अपने मांस-विक्रय के व्यापार की सफाई देते हुए धर्मव्याध कहता है—

कुलोचितमिदं कर्म पितृपैतामहं परम्।
वर्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्युं मा कृथा द्विज ॥ वनपर्व २०७।२०
स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते।
स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः ॥ वनपर्व, २०८, ९

'हे द्विज, मेरा यह काम बाप-दादों के समय से चला आ रहा है और कुल के उपयुक्त है; मैं अपना धर्म पाल रहा हूँ, इसलिए आप मुझ पर क्रोध न करें।

ब्रह्मन्, अपने कर्म का परित्याग करनेवाले को यहाँ अधर्म की प्राप्ति देखी जाती है। जो अपने कर्म में तत्पर है, उसी का बर्ताव धर्मपूर्ण है, ऐसा सिद्धांत है।' इसी के अनुरूप गीता में भी कहा है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ भ० गी० ३, ३५

'पराये धर्म का आचरण सुख से करते बने, तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म अर्थात् चातुर्वर्ण्य-विहित कर्म अधिक श्रेयस्कर है; (फिर चाहे) वह विगुण अर्थात् सदोष भले ही हो। स्वधर्म के अनुसार (बरतने में) मृत्यु हो जाय तो भी उसमें कल्याण है; (परन्तु) परधर्म भयंकर होता है।'

ऊपर कहा जा चुका है कि महाभारत में स्वधर्म के उदाहरणस्वरूप क्षत्रिय-धर्म का ही अधिक संकेत हुआ है। इस दृष्टि से जगह-जगह यज्ञों आदि की महिमा का उल्लेख किया गया है। सभापर्व में नारद युधिष्ठिर को यह सलाह देते हैं कि उन्हें यज्ञ करना चाहिए, शान्तिपर्व में अर्जुन युधिष्ठिर को समझाते हैं कि धन इकट्ठा करना चाहिए और यत्न से यज्ञ करना चाहिए।[४९] आगे दुष्यंतपुत्र भरत, दिलीप तथा राम आदि का उदाहरण देकर कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को समझाया गया है कि यज्ञादि कर्म कितने महत्त्वपूर्ण हैं।[५०] फलतः युद्ध के कलुष से अपने को शुद्ध करने के लिए युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया, जिसका वर्णन एक पूरे पर्व (अश्वमेध पर्व) में किया गया है। उद्योगपर्व में विदुर कहते हैं—

द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा।
गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः॥ उद्योग० ३३, ५७

४९. **पितृलोकगतस्त्वाह पांडुस्ते पाण्डुनन्दन।**
समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते वशे स्थिताः।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत॥ सभापर्व १२।२३, २५
सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः।
येषां राजाश्वमेधेन यजते दक्षिणावता॥
उपेत्य तस्यावभृथे पूताः सर्वे भवन्ति ते॥ शान्तिपर्व ८।२७, ३५

५०. **शान्तिपर्व, अध्याय २९**

'दो ही अपने विपरीत कर्म करने के कारण शोभा नहीं पाते—अकर्मण्य गृहस्थ और कर्म में लगा हुआ संन्यासी।'

(२) जान पड़ता है कि महाभारतकार के समय में यह बड़ा प्रचलित विचार था कि मनुष्य को अपने वर्ण के लिए विहित कर्म करने चाहिए। किन्तु महाभारत के चरित-नायक अक्सर हिंसापूर्ण क्षत्रिय-जीवन या धर्म की निन्दा करते भी पाये जाते हैं। उद्योग-पर्व में कृष्ण को दूत बनाकर दुर्योधन के पास भेजते समय युधिष्ठिर यह विचार प्रकट करके कि श्री को, अर्थात् अपने पैतृक राज्याधिकार को छोड़ना संभव नहीं है, युद्ध की संभावना को एक अप्रिय विकल्प के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु साथ ही उन्हें इसका आभास है कि युद्ध बड़ी भयंकर चीज है। युद्ध की भीषणता का संकेत करके वे कहते हैं—

पापः क्षत्रियधर्मोऽयं वयं च क्षत्रबान्धवाः।
स नः स्वधर्मोऽधर्मो वा वृत्तिरन्या विगर्हिता॥ उद्योगपर्व ७२,४६

'यह क्षत्रिय-धर्म बड़ा पापपूर्ण है, और हम सब क्षत्रिय हैं; वह हमारा स्वधर्म हो या अधर्म, हमारे लिए दूसरी वृत्ति (आचरण) नहीं है।' आगे वे कहते हैं कि क्षत्रिय क्षत्रिय को मारता है, एक मछली दूसरी मछली को खाकर जीवित रहती है और कुत्ता कुत्ते को मारता है; ऐसा ही धर्म चला आया है। यहाँ स्पष्ट ही क्षत्रिय धर्म को बड़े अप्रिय कर्त्तव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार पुत्रों को कृष्ण द्वारा संदेश देने का प्रयत्न करती हुई कुन्ती कहती है—

बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टा बाहुवीर्योपजीविनः।
क्रूराय कर्मणे नित्यं प्रजानां परिपालने॥ उद्योगपर्व १३२।७

'क्षत्रिय बाँहों से उत्पन्न हुए हैं और बाँहों के बल से जीविका कमाते हैं। उन्हें विधाता ने क्रूर कर्म के लिए और उसके द्वारा प्रजा परिपालन के लिए पैदा किया है।' महाभारत का युद्ध, जिसमें लाखों योद्धाओं का विनाश हुआ,

दोनों पक्षों के वीरों में ग्लानि तथा अनुताप की भावनाएँ उत्पन्न करता है। यहाँ तक कि दुर्योधन भी अपने को धिक्कारे बिना नहीं रह सका। वह कहता है—

सो हं कापुरुषः कृत्वा मित्राणां क्षयमीदृशम्।
अश्वमेधसहस्रेण पावितुं न समुत्सहे॥ द्रोणपर्व ८।४१५

'मैं कापुरुष (कायर) इस प्रकार अपने मित्रों का क्षय कराके सौ अश्वमेध यज्ञों से भी पवित्र होने की आशा नहीं कर सकता।' अश्वत्थामा द्वारा अपने पाँचों पुत्रों का वध हो जाने पर सौप्तिक पर्व में द्रौपदी युधिष्ठिर का उपहास-सा करती हुई कहती है—'क्षत्रिय-धर्म के अनुसार अपने पुत्रों को यम की भेंट करके अब तुम इस समस्त पृथ्वी का भोग करोगे, यह कैसा सौभाग्य है?'[५१] शांतिपर्व में युधिष्ठिर स्वयं क्षत्रियों के आचार, उनके बल और पौरुष तथा उस क्रोध की निन्दा करते पाये जाते हैं जिसने महाभारत का युद्ध कराया और हजारों योद्धाओं का वध।[५२]

युद्धजन्य विजय तथा उससे प्राप्त होनेवाले ऐश्वर्य के प्रति वैराग्य की भावना रामायण में भी पायी जाती है। राम की सहायता से सुग्रीव द्वारा बाली का वध हो जाने पर उसकी पत्नी तारा का विलाप स्वाभाविक था। रोते हुए उसने कहा—

शूराय न प्रदातव्या कन्या खलु विपश्चिता।
किष्किंधा २३,८,

अर्थात् समझदार माता-पिताओं को चाहिए कि कभी अपनी बेटी शूर-वीर (सिपाही) को न दें। यह एक प्रकार से क्षत्रिय-धर्म की निन्दा है। किन्तु भाई के लिए विलाप करते हुए सुग्रीव ने जिन भावनाओं को व्यक्त किया वे वैराग्य की पोषक हैं—

५१. सौप्तिक पर्व ३।१५२ ५२. शान्तिपर्व ७।५

ममाद्य भोगेषु नरेन्द्रसूनो !
मनो निवृत्तं हतजीवितेन।
अस्यां महिष्यां तु भृशं रुदन्त्यां
पुरेऽतिविक्रोशति दुःखतप्ते।।
किष्किंधा० २४।४–५

'हे राम ! राजरानी तारा को रोते हुए और पुरवासियों को चीखते हुए देखकर अब मुझ कुत्सित जीवनवाले का मन भोगों के प्रति वैराग्ययुक्त हो रहा है।'

(३) स्पष्ट ही संवेदनशील मनुष्य के लिए वर्ण-धर्म का पालन करना पर्याप्त नहीं है। मनुष्य होने के नाते वह उस धर्म की जिज्ञासा करता है जो विभिन्न वर्णों के धर्म से परे है। वह उत्कर्ष के उस धरातल को भी छूना चाहता है जो युद्ध में विजय द्वारा प्राप्त होनेवाले राज्य व ऐश्वर्य से ऊँचा है। इस प्रकार की बेचैनी तथा जिज्ञासा मनुष्य को वर्णाश्रम-धर्म तथा ऐहिक सुखभोग दोनों के दायरों से बाहर अध्यात्म की भूमि में ले जाती है। महाभारत में जहाँ जगह-जगह क्षत्रिय धर्म की निन्दा है, वहाँ ब्राह्मणों तथा तपस्वियों के जीवन की प्रशंसा भी है।

हमने कहा कि महाभारत में स्वधर्म अथवा वर्णाश्रम-धर्म को बहुत गौरव दिया गया है। किन्तु साथ ही जहाँ-तहाँ यह भावना भी पायी जाती है कि जाति अथवा वर्ण का भेद आत्यंतिक नहीं है। सिर्फ ब्राह्मण के घर में पैदा हो जाने से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण नहीं हो जाता। वर्ण के निर्णय में जन्म की अपेक्षा कर्म ही प्रधान है। ये विचार स्वयं युधिष्ठिर द्वारा व्यक्त किये गये हैं। सर्प-रूपधारी नहुष के प्रश्नों का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने जाति के, विशेषतः ब्राह्मणत्व के संबंध में जो विचार प्रकट किये हैं वे बड़े क्रांतिकारी हैं। वे कहते हैं कि जिस व्यक्ति में सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव, तपस्या और दया ये गुण पाये जायँ वही ब्राह्मण है। नहुष के यह कहने पर कि ये गुण शूद्र में भी पाये जा सकते हैं, युधिष्ठिर ने कहा कि यदि शूद्र में वैसे गुण पाये जायँ तो वह शूद्र नहीं, और यदि ब्राह्मण में न पाये जायँ

तो वह ब्राह्मण नहीं है। उन्होंने यह भी कहा कि मनुष्यों में जाति की परीक्षा करना बड़ा कठिन है, क्योंकि सभी वर्णों का परस्पर मिश्रण (संकरता) हो गया है। युधिष्ठिर के मत में वाणी, मैथुन, जन्म और मरण ये सब मनुष्यों में एक-से देखे जाते हैं और सब मनुष्य सब तरह की स्त्रियों से संतान उत्पन्न करते हैं; इसलिए, तत्त्वदर्शियों की दृष्टि में, शील ही प्रधान माना जाता है।[५३] शील अथवा वृत्त की महत्ता को विदुर ने भी गौरव दिया है। धृतराष्ट्र ने जिज्ञासा की कि कुलीन अर्थात् श्रेष्ठ कुलवाला किसे कहते हैं? उत्तर में विदुर ने कहा—

तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्त गणा वसन्ति
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि॥

'जिनमें तप, इन्द्रिय संयम, वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ, पवित्र विवाह, सदा अन्नदान और सदाचार ये सात गुण वर्तमान हैं, उन्हें महान् (उत्तम) कुलीन कहते हैं।'

५३. **सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।**
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥
जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः।
वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम्॥
तस्माच्छीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥
वनपर्व १८०।२१, २५, ३१, ३२, ३३

ऊपर के वक्तव्यों से पाठक यह अर्थ न निकालें कि महाभारतकार निश्चित रूप में कर्म से जाति मानने के समर्थक हैं। यह ठीक है कि महाभारत में युधिष्ठिर तथा विदुर दोनों के ही विचारों को विशेष महत्त्व दिया गया है। किन्तु इस विशाल ग्रन्थ में दूसरे भी बहुत-से शिक्षक और विचारक हैं और वे दूसरे प्रकार की सम्मतियाँ भी प्रकट कर डालते हैं। उदाहरण के लिए एक जगह मार्कण्डेय द्वारा युधिष्ठिर से यह कहलाया गया है कि चाहे विद्वान् हो या अविद्वान्, ब्राह्मण हर हालत में बड़ा देवता होता है।[५४] महाभारत में बाद में इतने प्रक्षिप्त अंश जोड़े गये हैं कि यह कहना कठिन हो जाता है कि कहाँ महाभारतकार का मूल आशय व्यक्त हुआ है और कहाँ नहीं। मार्कण्डेय का उक्त वाक्य बाद में किसी ब्राह्मण-भक्त द्वारा सन्निवेशित प्रक्षेप भी हो सकता है।

यों महाभारत में धर्म-संबंधी चेतना बड़ी तीव्र है, और उदात्त भी। धर्म क्या है, इस संबंध में जगह-जगह विभिन्न मत पाये जाते हैं। अनेक स्थलों में यह सम्मति प्रकट की गयी है कि धर्म-तत्त्व बड़ा सूक्ष्म है और उसका विवेचन बहुत कठिन है। ऐसी स्थिति में एक जगह तो यही सलाह दी गयी है कि धर्म करने की इच्छावाले को बड़े जनों के मार्ग पर चलना चाहिए। विभिन्न ऋषि-मुनियों के अलग-अलग मत हैं, जिससे लगता है कि धर्म का तत्त्व किसी रहस्यमयी गुफा में छिपा हुआ है।

तथापि धर्म के व्यापक रूप के संबंध में महाभारतकार को, अर्थात् महाभारत के किसी महत्त्वपूर्ण शिक्षक को, दुविधा नहीं है। महाभारत में जगह-जगह कहा गया है कि सत्य से परे कोई धर्म नहीं है (नास्ति सत्यात् परो धर्मः—शांतिपर्व, १६२, २४)। अन्यत्र कहा गया है—

> अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
> अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥ आदिपर्व ७४।१०३

५४. **एवं विद्वानविद्वान् वा ब्राह्मणो दैवतं महत्।—वनपर्व २००।८९**

अर्थात् 'यदि हजार अश्वमेध और सत्य की तुलना की जाय तो सत्य ही अधिक होगा।' इसी प्रकार अहिंसा की प्रशंसा में कहा गया है कि जो अहिंसा से युक्त है वही धर्म है। धर्म के उपदेश का मतलब ही यह है कि लोग प्राणियों की हिंसा न करें। ऐसे ही महाभारत में क्षमा की बड़ी प्रशंसा की गयी है—

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते।

उद्योगपर्व ३३।५०

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा।

उद्योगपर्व ३३।५२

अर्थात् लोक में क्षमा वशीकरण के समान है, क्षमा से क्या सिद्ध नहीं हो सकता। एक धर्म ही परम कल्याणकारक है, एक क्षमा ही शान्ति का श्रेष्ठ उपाय है। महाभारत में जगह-जगह धर्म की परिभाषा अथवा वर्णन देने का प्रयत्न किया गया है। युधिष्ठिर से धर्मराज रूपी यक्ष ने कहा कि यश, सत्य, दम अर्थात् इन्द्रियनिग्रह, स्वच्छता, सरलता, लज्जा, अचंचलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य—ये सब धर्म के शरीर हैं। अहिंसा, समता, शांति, दया और मात्सर्य का अभाव—ये धर्म तक पहुँचने के द्वार हैं।[५५] भीष्म ने युधिष्ठिर को समझाते हुए कहा कि अहिंसा, सत्य, अक्रोध तथा दान ये चार सनातन धर्म हैं।[५६] अन्यत्र वे अहिंसा, सत्य, अक्रोध, क्रूरता का अभाव तथा इन्द्रिय-निग्रह को धर्म का निश्चित लक्षण बतलाते हैं।[५७]

प्रवृत्ति और निवृत्ति, कर्म और संन्यास

ऊपर हमने धर्म के जिन तत्त्वों का उल्लेख किया उनका संबंध व्यक्तित्व

५५. वनपर्व, ३१४।७–८

५६. अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम्।
अजातशत्रो सेवस्व धर्म एष सनातनः॥ अनुशासन० ४।१९८

५७. अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम्॥ अनुशासन० २।४०

के गुणात्मक नैतिक धरातल से है। महाभारत में वर्णधर्म की पर्यालोचना है, और मनुष्यमात्र के लिए आवश्यक धर्म तथा नैतिक गुणों का भी विवेचन है। विशेषतः शान्तिपर्व में जीवन-दर्शन से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है। जीवन के परम कल्याण के लिए प्रवृत्ति अथवा कर्म का मार्ग श्रेष्ठ है, या निवृत्तिमूलक संन्यास एवं अकर्म का ? इस प्रश्न के उठने का कारण युधिष्ठिर हैं। भगवद्गीता में यही प्रश्न अर्जुन द्वारा उठाया गया है। अर्जुन का प्रश्न युद्ध से पहले उठा था; युधिष्ठिर वही प्रश्न युद्धजनित वैराग्य की भावना के प्रभाव में उठाते हैं। वर्तमान शान्तिपर्व को पढ़ने से यह प्रतीत नहीं होता कि महाभारत में उक्त प्रश्न पर पहले (भगवद्गीता में) लम्बा-चौड़ा विचार हो चुका है। शान्तिपर्व में अर्जुन युधिष्ठिर को कहीं यह स्मरण नहीं दिलाते कि वे स्वयं इस संबंध में कृष्ण के साथ बहुत कुछ विमर्श कर चुके हैं। माना जा सकता है कि भगवद्गीता की शिक्षाओं का पर्यवसान कर्मयोग में है, न कि संन्यास में। शान्तिपर्व में जगह-जगह युधिष्ठिर से तर्क करते हुए अर्जुन कर्म अर्थात् राज्यभोग व राजधर्म के निर्वाह का ही समर्थन करते हैं, किन्तु उनका समर्थन कहीं भी गीता के विचारों के ऊँचे धरातल को नहीं छूता। इससे सन्देह हो सकता है कि वर्तमान भगवद्गीता महाभारत का निजी भाग नहीं है। शांतिपर्व में युधिष्ठिर का समाधान करने की कोशिश बहुत-से लोग करते हैं, जो कि परिस्थितियों के ज्यादा अनुकूल है। इसके विपरीत कृष्ण द्वारा युद्धभूमि में अर्जुन को इतना लम्बा-चौड़ा उपदेश दिया जाना कुछ अस्वाभाविक जान पड़ता है।

युद्ध के बाद विजयी शासक में दुनिया के प्रति वैराग्य की भावना पैदा होना, भारतीय इतिहास की पीठिका में, बड़ा स्वाभाविक जान पड़ता है। इतिहास के शासकों में, इस दृष्टि से, सम्राट् अशोक का नाम विशेष प्रसिद्ध है। हमने देखा कि बाली के वध के बाद सुग्रीव के मन में विषाद एवं वैराग्य की भावनाएँ जगी थीं। किन्तु सुग्रीव के ये मनोभाव अस्थायी थे। इसके विपरीत युधिष्ठिर में उठनेवाली निर्वेद की भावना ज्यादा गंभीर थी; इसी लिए उसके निराकरण के लिए लोगों को विशेष प्रयत्न करना पड़ा। युधिष्ठिर के निर्वेद

की तात्कालिक प्रेरणा यह परिज्ञान था कि कर्ण उनका सगा भाई था जिसका वध पांडवों द्वारा हुआ। कुन्ती ने कर्ण का रहस्य पांडवों से छिपाकर रखा; युधिष्ठिर ने स्त्रियों को शाप दिया कि भविष्य में वे रहस्य की रक्षा न कर सकें। यहाँ हम युधिष्ठिर की निर्वेद-भावना और उनकी समर्थक युक्तियों का लम्बा-चौड़ा विवरण नहीं देंगे। हमारे देश में यह भावना और ये युक्तियाँ सुविदित हैं—जीवन तथा जगत् निस्सार अर्थात् विनाशधर्मा हैं; इच्छाओं का अन्त नहीं है और उनकी पूर्ति असंभव है। जैसे घी डालने से अग्नि बढ़ती है वैसे ही एक इच्छा की पूर्ति से दूसरी इच्छाएँ पैदा होती हैं। विषय-भोगों से समृद्धिशाली राजा भी कभी सन्तुष्ट होते नहीं देखे गये, संन्यासी को वास्तविक सन्तोष प्राप्त होता है। संन्यास में ही यथार्थ शान्ति है।[५८]

यहाँ हम उन वक्तव्यों का कुछ विवरण देंगे जो विभिन्न लोगों ने युधिष्ठिर को संन्यास के मार्ग से रोकने के लिए दिये।

अर्जुन ने कहा—'बड़े दुःख की बात है कि आप अलौकिक पराक्रम से प्राप्त की हुई इस लक्ष्मी का परित्याग कर रहे हैं। नपुंसक और दीर्घसूत्री को राज्य नहीं मिलता; यदि आपको राज्य नहीं लेना था तो आपने क्यों क्रोध से विकल होकर राजाओं का वध कराया था? अकिंचन होकर भीख माँगकर खाना आपको शोभा नहीं देगा—वह मुनियों को ही शोभा देता है। जैसा कि नहुष ने कहा है, लोग गरीब को ऐसे देखते हैं जैसे वह कोई पापी हो, दरिद्रता पाप है; दरिद्र और पतित समान हैं। धन से ही सब प्रकार के शुभ कर्मों का अनुष्ठान होता है; धन से ही धर्म, काम तथा स्वर्ग का संपादन होता है, धन के बिना प्राणयात्रा भी सिद्ध नहीं हो सकती, निर्धन व्यक्ति की सारी क्रियाएँ विच्छिन्न हो जाती हैं।[५९] आपको यज्ञ करना चाहिए; यज्ञ करने से पाप नष्ट होते हैं। गृहस्थ धर्म को छोड़कर वन को जाना उचित

५८. शान्तिपर्व अध्याय १७ (श्लोक ४, ५, १०) और अध्याय ९ (श्लोक १७ तथा आगे)।

५९. शान्तिपर्व अ० ८ (श्लोक ३–५, ८, ११, १४–१८)।

नहीं। पक्षीरूपधारी इन्द्र ने ऋषि-बालकों को यही सिखाया था। (शान्ति पर्व, अ० ११)

आगे अर्जुन ने राजदंड की महत्ता का वर्णन किया। दंड से धर्म की तथा धन-धान्य की रक्षा होती है, दंड के भय से लोग पापों से विरत होते हैं और अपने-अपने धर्मों का आचरण करते हैं। तात्पर्य यह कि राजदंड बड़ा महत्त्वपूर्ण है और उसकी स्थिति के लिए युधिष्ठिर को राज्य में रहना चाहिए।[६०] राज-दंड के बिना, अर्थात् उसका ठीक प्रयोग न होने पर प्रजाएँ नष्ट हो जाती हैं।

आगे अर्जुन ने राजा जनक और उनकी रानी का दृष्टान्त देते हुए युधिष्ठिर को समझाया कि वे संन्यास से विरत हों। संन्यास लेने की इच्छा-वाले जनक को उनकी रानी ने समझाने की कोशिश की। रानी ने धन का महत्त्व बतलाते हुए कहा कि तथाकथित साधु पुरुषों की जीविका का आधार भी दाताओं का अन्न ही है। जो सरल भाव से स्वार्थ का त्याग करता है और सुख में आसक्त नहीं होता उसे ही भिक्षु समझना चाहिए। हृदय का कषाय (दोष) दूर होना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, न कि काषाय वस्त्र।[६१]

भीमसेन ने युधिष्ठिर को समझाते हुए इस बात पर जोर दिया कि उन्हें अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। कर्म से ही सिद्धि मिलती है। विश्व में सब अपना-अपना कर्म करते हैं, अतः युधिष्ठिर को भी अपने योग्य कर्म करना चाहिए। (अध्याय १०)

नकुल ने कहा––'वेदों के ज्ञानी ब्राह्मणों का कहना है कि गृहस्थ-आश्रम सब आश्रमों से ऊँचा है। गृहस्थाश्रम के सुख-भोगों को बिना जाने जो वान-प्रस्थ बन जाता है, उसे तामस-त्यागी कहते हैं। राजन्! कहते हैं कि एक समय मनीषी पुरुषों ने चारों आश्रमों को (विवेक की) तराजू पर रखकर

६०. शान्तिपर्व अध्याय १५ (विशेषतः श्लोक ३–५, १२, २९–३०)।
६१. अध्याय ८ (विशेषतः श्लोक २७, ३०, ३४)।

तौला था; गृहस्थाश्रम शेष तीनों के बराबर, बल्कि उनसे भारी सिद्ध हुआ। तब उन्होंने यह निश्चय किया कि यही महर्षियों का मार्ग है और यही लोकवेत्ताओं की गति है। जो ऐसा भाव रखता है वही त्यागी है। अभिमान को छोड़कर त्यागपूर्वक किया हुआ कर्म महान् फलदायक होता है। जो राजा प्रमाद के कारण प्रजा को लुटेरों आदि से शरण नहीं देता उस राजा को मूर्तिमान् कलियुग कहते हैं।[६२]

सहदेव ने कहा—'बाह्य द्रव्य को छोड़ने से सिद्धि नहीं होती; ममता त्याग कर अनासक्त भाव से पृथ्वी का शासन करनेवाले राजा को धर्म तथा सुख की प्राप्ति होती है। मृत्यु और अमृत हमारे ही भीतर हैं; जो सबके भीतर विराजमान परमात्मा को देखते हैं वे महान् भय से मुक्त हो जाते हैं।'[६३]

मुनि देवस्थान ने युधिष्ठिर को यज्ञ करने की राय देते हुए समझाया—जब मनुष्य मन, वाणी और क्रिया द्वारा किसी के साथ द्रोह नहीं करता और किसी चीज की अभिलाषा नहीं करता, तब वह ब्रह्म को प्राप्त होता है। कुछ लोग यज्ञ की प्रशंसा करते हैं, कुछ दान की और कुछ संन्यास की; कुछ प्रजाओं के परिपालन तथा राज्य की प्रशंसा करते हैं और कुछ एकान्त ध्यान की। किन्तु इन सबकी आलोचना करके विद्वानों ने यह निश्चय किया है कि जो प्राणियों से वैर न रखते हुए अपने धर्म का पालन करता है, वही श्रेष्ठ है।[६४]

व्यासजी ने अर्जुन आदि का समर्थन करते हुए कहा—युधिष्ठिर! तुम शास्त्र के अनुसार विधिपूर्वक स्वधर्म का ही आचरण करो; तुम्हारे लिए गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास का विधान नहीं है। देवता, पिता, अतिथि, भृत्यगण, पशु-पक्षी सब गृहस्थों से ही पालित होते हैं, अतः गृहस्थ ही सबसे श्रेष्ठ हैं।[६५] क्षत्रियधर्म को देखते हुए भी तुम्हें राज्य के लिए रुकना चाहिए।

६२. अध्याय १२ (विशेषतः श्लोक ६, ९, १२–१४, १७, २९)।
६३. शान्तिपर्व अध्याय १३ (श्लोक १, ३, ५, ११)।
६४. अध्याय २१ (श्लोक ५, ८-१०)
६५. अ० २३ (श्लोक ३-६ और आगे)।

व्यासजी ने इस सिलसिले में शंख और लिखित का इतिहास सुनाया। आगे चलकर व्यास ने युधिष्ठिर को इस प्रकार समझाया—राजाओं का धर्म प्रजाजनों का पालन करना ही है। धर्म का अनुसरण करनेवाले लोगों के लिए सदा धर्म ही प्रमाण है। पांडव! तुम अपने धर्म में वर्तमान रहे हो, तुम क्यों शोक कर रहे हो? राजा का यह कर्तव्य ही है कि वह धर्म-द्रोहियों का वध करे, सुपात्रों को दान दे और धर्म के अनुसार प्रजा की रक्षा करे। (अध्याय ३२, २, ८, ९)

युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए भीष्म ने इस प्रकार कर्तव्य-पालन की शिक्षा दी—राजन्! दान, अध्ययन और प्रजापालन, यही आपके लिए धर्म है। कोई काम देखने में छोटा होने पर भी यदि उसमें सार अधिक हो तो वह महान् ही है। अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है; कर्म न करनेवाले से बढ़कर दूसरा कोई पापी नहीं है। राजन्! भय से डरा हुआ मनुष्य जिसके पास पहुँचकर क्षण भर के लिए भी भली-भाँति शांति पाता है, वह हम सबमें सबसे अधिक स्वर्गजयी अर्थात् स्वर्ग का अधिकारी है—यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ। (तात्पर्य यह कि राजा भय से रक्षा करता है, उसका यह धर्म बहुत ही ऊँचा है।) तुम राजा बने रहो, सज्जनों की रक्षा करो और दुष्टों का संहार; इस तरह स्वर्ग को प्राप्त करो। तात! जैसे सब प्राणी मेघ के और पक्षी स्वादिष्ठ फलवाले वृक्ष के सहारे जीते हैं, उसी तरह सज्जन लोगों के साथ तुम्हारे सुहृद्गण तुम्हारे आश्रय में रहकर जीवन-निर्वाह करें।[६६]

राजधर्म और कूटनीति

हम कह चुके हैं कि महाभारत में स्वधर्म के नाम पर मुख्यतः क्षत्रियधर्म का ही विवरण दिया गया है। जहाँ-तहाँ युधिष्ठिर आदि को शिक्षा देने के बहाने भी क्षत्रिय अर्थात् राजा के धर्म की चर्चा हुई है। शान्तिपर्व में भीष्म

६६. अध्याय ७५। २५, २९, ३४–३६।२९वें श्लोक की दूसरी पंक्ति इस प्रकार है—'कृतमेवाकृताच्छ्रयो न पापीयोऽस्त्यकर्मणः।'

ने विशेष रूप से राजा के कर्तव्यों का निर्देश किया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि राजा किस प्रकार शत्रुओं पर विजयी हो सकता है, और अपने राज्य का विस्तार कर सकता है। पाश्चात्य विचारक हॉब्ज़ की भाँति महाभारतकार ने राजा से हीन आदिम समाज का बड़ा खराब चित्र खींचा है। पुराने जमाने में राजा के बिना प्रजाएँ नष्ट हो गयीं, उन्होंने एक-दूसरे को वैसे ही खा डाला जैसे मछलियाँ एक-दूसरे को खा जाती हैं। तब लोगों ने इकट्ठे होकर यह तय किया कि वे एक राजा चुनें। उन्होंने मनु को राजा बनाना चाहा। मनु ने कहा कि वे राज्य-जैसे कठिन काम से बहुत डरते हैं, इसलिए राजा नहीं बनना चाहेंगे इस पर प्रजाओं ने कर आदि देने का आश्वासन देते हुए उन्हें राजा चुन लिया।[६७]

राजा को चाहिए कि पहले अपने ऊपर विजय प्राप्त करे, फिर शत्रुओं पर। शत्रु के नगर, बगीचों आदि में अंधे-बहरे बने हुए गुप्तचरों को रखे। अधिक बली राजा के राष्ट्र को शस्त्र, अग्नि, विष आदि से पीड़ित करे, राजा तथा अमात्यों के बीच झगड़ा उत्पन्न कर दे, किन्तु जहाँ तक हो युद्ध न करे। नागरिकों को वैसे ही देखे जैसे अपने पुत्रों को।[६८] प्रश्न है, काल राजा का कारण है या राजा काल का कारण ? उत्तर है, निस्सन्देह राजा ही काल का कारण है।[६९] राजा धर्म के आचरण के लिए होता है, न कि कामोपभोग के लिए। जो राजा धर्म का आचरण करता है वह देवता बनने की योग्यता संपादित कर लेता है। धर्म के बढ़ने से सबकी वृद्धि होती है, और उसके ह्रास से सबका ह्रास; अतः धर्म का लोप न करे।[७०]

शान्तिपर्व के अध्याय १२० में राजधर्म का सारांश इस प्रकार प्रकट

६७. शान्तिपर्व अध्याय ६७, श्लोक १७, १८, २२, २३।

६८. शान्तिपर्व अध्याय ६९।४, ६, ८, २१, २२, २३, २७।

६९. कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥ शान्तिपर्व ६९।७९

७० शान्तिपर्व ९०।३–४, १७।

किया गया है—क्षत्रिय के लिए सबसे बड़ा धर्म समस्त प्राणियों की रक्षा करना है। जैसे मोर विचित्र पंख धारण करता है, वैसे ही राजा को समय-समय पर अनेक रूप धारण करने चाहिए। मध्यस्थ भाव से रहते हुए राजा तीक्ष्णता, कुटिलता, अभयदान, सत्य, सरलता आदि का अवलंबन करे। उसे अपने विचारों को गुप्त रखना चाहिए, वह मधुर वचन बोले, श्रीमान् बने और शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करे, हमेशा अपराधियों को दंड देने को उद्यत रहे, प्रमाद न करे, लोगों का आय-व्यय देखकर उनसे धन ले। शत्रुओं के दोषों को प्रकाशित करे और उनके पक्ष के लोगों को फोड़ ले। राज्य की वृद्धि का ध्यान रखे, अपनी बुद्धि से मन को वश में करे, दूसरों की बुद्धि के सहयोग से कर्तव्य का निश्चय करे। राजा में दूसरों से काम लेने की योग्यता होनी चाहिए, वह प्रजा को कर्तव्य करने की प्रेरणा दे और अकर्तव्य करने से रोके। प्रजा को अपना समझनेवाला, प्रजा में ममता रखनेवाला राजा पर्वत के समान अविचल बना रहता है। राजा को चाहिए कि मधुरभाषी, निष्कलंक, निराकुल, निर्लोभ, शिक्षित एवं जितेन्द्रिय लोगों को अपने कामों में लगाये। जिसका हर्ष और क्रोध कभी निष्फल नहीं होता, जो स्वयं ही सारे कार्यों की देखभाल करता है, जिसके पास आत्मविश्वासरूपी कोष है, उसके लिए यह पृथ्वी ही धन देनेवाली बन जाती है। राजा को चाहिए कि प्रजा पर अनुग्रह करते हुए ही उससे कर वसूल करे, प्रजा को सताकर नहीं। विद्या, तप, प्रचुर धन ये सब उद्योग से प्राप्त होते हैं, अतः उद्योग ही मुख्य है। राजा को चाहिए कि ऐसे धार्मिक पुरुष को मन्त्री बनाये जो विविध विषयों का अच्छा ज्ञाता है। उसके लिए यह उचित नहीं कि किसी लोभी व्यक्ति को अपने काम में नियुक्त करे।[७१]

आपद्धर्म

महाभारत में धर्म-संबंधी चिन्तन का आधार बड़ा व्यापक है। लेखक

७१. शान्तिपर्व अध्याय १२० (श्लोक ३ से ५० तक विविध)।

की रुचि जैसी धर्म के विषय में है, वैसी ही उससे संबंधित अनेक गुत्थियों में भी। उसने कर्तव्य-अकर्तव्य से संबंधित जटिलताओं तथा कठिनाइयों को बचाने का प्रयत्न नहीं किया है। जगह-जगह यह रोचक प्रश्न भी उठाया गया है कि आपत्काल में विभिन्न लोगों का धर्म क्या होता है? एक जगह भीष्म द्वारा कहलाया गया है कि आपत्तिकाल में अपनी जीविका नष्ट होने पर ब्राह्मण क्षत्रिय-धर्म से निर्वाह करे, यदि वह भी संभव न हो तो वैश्य-धर्म के अनुसार खेती और गोरक्षा का आश्रय लेकर अपनी जीविका का प्रबन्ध करे।

आपत्तिकाल में राजा को क्या करना चाहिए? इस उत्तर में भीष्म ने कहा––आपत्ति के समय भी प्रजा को दुःख देकर धन वसूल नहीं करना चाहिए। फिर भी संकटकाल में राजा निर्धन प्रजा से भी यथासाध्य धन लेकर अपना खजाना बढ़ाये; अच्छा समय आने पर धन के द्वारा प्रजा पर अनुग्रह करे। पहले कोष-संग्रह कर लेने पर ही राजा के लिए धर्म-पालन का अवसर प्राप्त होता है; बात यह है कि जीवन-निर्वाह का साधन प्राप्त करना धर्म से भी बड़ा है। आपत्तिकाल में अधर्म भी धर्म बन जाता है, ऐसा कुछ लोगों का मत है, किन्तु विद्वान् पुरुष ऐसा मानते हैं कि आपत्काल में भी धर्म के विरुद्ध आचरण करने से अधर्म होता ही है।[७२]

आपद्ग्रस्त मनुष्य के लिए कौन-सा रास्ता नहीं है? कैदी के लिए कौन सा रास्ता बुरा है? मनुष्य जब आपत्ति से घिरा होता है, तब वह बिना दरवाजे के भी भाग निकलता है। इस संसार में किसी की भी ऐसी वृत्ति नहीं है जो हिंसा से शून्य हो––तपस्वी मुनियों की भी नहीं। प्रजापालन की इच्छा रखनेवाला राजा भाग्य के भरोसे ही निर्वाह नहीं कर सकता। संकटग्रस्त राजा की रक्षा करना प्रजा का कर्तव्य है। संकटग्रस्त राजा बलपूर्वक धनवानों से धन ग्रहण करे।[७३]

अध्याय १४१ में आपद्धर्म के उदाहरण के रूप में विश्वामित्र मुनि

७२. शान्तिपर्व अध्याय ७८, २।

७३. वही, अध्याय १३०।९, १३, १५, १६, २२, २६, २८, २९।

और चांडाल के संवाद का उल्लेख है। त्रेतायुग बीत गया था, द्वापर का आरम्भ हो रहा था, प्रजाओं की संख्या बहुत बढ़ गयी थी और वर्षा न होने से अकाल पड़ रहा था; लोग भूखे आर्तनाद कर रहे थे और कहीं कोई सुरक्षित न था। ऐसे समय में भूखे विश्वामित्र एक श्वपच (चांडाल) के घर में घुसकर कुत्ते की जाँघ चुराने की कोशिश करने लगे। चांडाल ने उन्हें समझाने की कोशिश की कि उनके लिए कुत्ते का मांस खाना वर्जित है, और चोरी करना तो निषिद्ध है ही। इस पर विश्वामित्र ने कहा—

यथा यथैव जीवेद्धि तत् कर्तव्यमहेलया।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात्॥

शान्तिपर्व अ० १४१, ६५

'जीवन जिस प्रकार सुरक्षित रहे, उस प्रकार का प्रयत्न बिना अवहेलना के करना चाहिए। मरने से जीवित रहना श्रेष्ठ है, क्योंकि जीवित पुरुष पुनः धर्म का आचरण कर सकता है।' अन्यत्र महाभारत में विदुर के द्वारा कहलाया गया है कि आत्मा के लिए समस्त पृथ्वी को त्याग देना चाहिए। आपत्ति के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए, धन से स्त्रियों अर्थात् पत्नियों की रक्षा करनी चाहिए और अपनी रक्षा धन तथा स्त्रियों, दोनों से करनी चाहिए।[७४] यह घोर व्यक्तिवाद है।

महाभारतकार जहाँ धर्म के बड़े पक्षपाती हैं वहाँ कूटनीति के दाव-पेचों से अनभिज्ञ नहीं हैं। आदिपर्व में धृतराष्ट्र के पूछने पर मंत्री कणिक ने विजयी होने के लिए राजा में जिन गुणों का होना आवश्यक बतलाया है उनका विवरण हृदय को दहला देनेवाला है। कणिक का प्रवचन यथार्थ दृष्टि पर आधारित है, किसी आदर्शवाद पर नहीं। उसकी भयंकर कूटनीति के कुछ नमूने द्रष्टव्य हैं—

७४. आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि॥ उद्योगपर्व ३७, १८।

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात्परेषां विवरानुगः॥
वधमेव प्रशंसन्ति शत्रूणामपकारिणाम्।
नावज्ञेयो रिपुस्तात दुर्बलोऽपि कथञ्चन॥
दया न तस्मिन् कर्तव्या शरणागत इत्युत।
निरुद्विग्नो हि भवति न हताज्जायते भयम्॥
वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः।
ततः प्रत्यागते काले भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि॥
भयेन भेदयेद्भीरुं, शूरमञ्जलिकर्मणा।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं न्यूनं तथौजसा॥
शपथेनाप्यरि हन्यादर्थदानेन वा पुनः।
विषेण मायया वापि नोपेक्षेत कथञ्चन॥
प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहरन्नपि भारत।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचेत च रुदेत च॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति॥
वाचा भृशं विनीतः स्याद् धृदयेन तथा क्षुरः।
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात् सृष्टो रौद्राय कर्मणे॥
नाच्छित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥
भीतवत् संविधातव्यं यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत्॥
दण्डेनोपनतं शत्रुमनुगृह्णाति यो नरः।
स मृत्युमुपगृहणीयाद् गर्भमश्वतरी यथा॥

आदिपर्व १३९ (श्लो० ६ से ८३ तक विविध)

'राजा को सर्वदा दंड देने के लिए उद्यत रहना चाहिए और सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिए। राजा अपना छिद्र—अपनी दुर्बलता—प्रकट न

होने दे; परन्तु दूसरों के छिद्र या दुर्बलता पर सदा ही दृष्टि रखे और यदि शत्रुओं की निर्बलता का पता चल जाय तो उन पर आक्रमण कर दे। अपना अनिष्ट करनेवाले शत्रुओं का वध कर दिया जाय, इसी की नीतिज्ञ पुरुष प्रशंसा करते हैं; शत्रु दुर्बल हो तो भी किसी प्रकार उसकी उपेक्षा न करे। यह दुर्बल मेरी शरण में आया है, यह सोचकर उसके प्रति दया नहीं दिखानी चाहिए; शत्रु को मार देने से ही राजा निर्भय हो सकता है। जब तक समय बदलकर अपने अनुकूल न हो जाय, तब तक शत्रु को कंधे पर बिठाकर ढोना पड़े तो ढोये भी, परन्तु जब अपने अनुकूल समय आ जाय, तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे जैसे घड़े को पत्थर पर पटक कर फोड़ डालते हैं। डरपोक को भय दिखाकर फोड़ ले तथा जो अपने से शूर हो उसे हाथ जोड़कर वश में करे, लोभी को धन देकर तथा बराबर और कमजोर को पराक्रम से वश में करे। सौगंध खाकर, धन अथवा जहर देकर या धोखे से भी शत्रु को मार डाले; किसी तरह भी उसकी उपेक्षा न करे। शत्रु पर प्रहार करने से पहले और प्रहार करते समय भी उससे मीठे वचन ही बोले, शत्रु को मारकर भी उसके प्रति दया दिखाये, उसके लिए शोक करे तथा रोये और आँसू बहाये। जो विश्वासपात्र नहीं है, उस पर कभी विश्वास न करे, परन्तु जो विश्वासपात्र है, उस पर भी अति विश्वास न करे, क्योंकि अति विश्वास से उत्पन्न होनेवाला भय राजा के जड़मूल का भी नाश कर डालता है। राजा बातचीत में अत्यन्त विनयशील हो, परन्तु हृदय छुरे के समान तीखा बनाये रखे, अत्यन्त भयानक कर्म करने के लिए उद्यत हो तो भी मुस्कराकर ही वार्तालाप करे। राजा मछलीमारों की भाँति दूसरों के मर्म विदीर्ण किये बिना, अत्यन्त क्रूर कर्म किये बिना तथा बहुतों के प्राण लिये बिना भारी संपत्ति नहीं पाता। जब तक अपने ऊपर भय आया न हो, तब तक डरे हुए की भाँति उसको टालने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु जब भय को सामने आया देखे, तब निडर होकर शत्रु पर प्रहार करना चाहिए। जो मनुष्य दंड द्वारा वश में किये हुए शत्रु पर दया करता है, वह मौत को ही अपनाता है—ठीक उसी तरह जैसे खच्चरी गर्भ के रूप में अपनी मृत्यु को ही उदर में धारण करती है।' पाठकों को यह

उद्धरण लम्बा प्रतीत होगा, किन्तु मूल का वक्तव्य इससे कहीं अधिक बड़ा है। उसे उद्धृत करने में हमारा प्रयोजन यही दिखाना है कि महाभारतकार तथाकथित कूटनीति से भली-भाँति परिचित थे, यद्यपि वे उसके समर्थक नहीं थे। मंत्री कणिक की यह नीति, जिसका दुर्योधन तथा धृतराष्ट्र ने भी प्रकारान्तर से अनुवर्तन किया, महाभारत के युद्ध का कारण हुई। किन्तु भारतयुद्ध में विजयी पांडव हुए, दुर्योधन नहीं। इस प्रकार महाभारतकार ने यह शिक्षा देने का भगीरथ प्रयत्न किया कि लौकिक संघर्ष में भी अंततः धर्म की ही विजय होती है, अधर्म की नहीं। कुल मिलाकर अर्थ और काम की सिद्धि भी धर्म से ही हो सकती है, इसलिए धर्म का ही सेवन करना चाहिए––

धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किन्न सेव्यते।

प्रतीत होता है कि महाभारत की संवेदना में हिन्दू जाति ने पूरे एक युग को समेट लिया। व्यक्ति तथा समाज के जीवन में जितनी तरह के उलट-फेर, भाग्य के विवर्तन तथा संघर्ष हो सकते हैं, वे सब महाभारत में वर्णित नर-नारियों के जीवन में घटित हुए। युधिष्ठिर के राज्य में कुछ दिनों रहकर धृतराष्ट्र गांधारी व कुंती के साथ वन को चले गये। बहुत प्रयत्न करने पर भी कुन्ती अपने पुत्रों की श्री-संपत्ति का भोग करने के लिए नहीं रुकी। बाद में उक्त तीनों व्यक्तियों की मृत्यु आग लग जाने से हुई। सब प्रकार से गुरुओं की सेवा में निरत रहनेवाले पांडवों के लिए इससे बढ़कर कष्ट की बात क्या हो सकती थी! जिस कुन्ती ने विदुला तथा उसके पुत्र के आख्यान का उदाहरण देकर पांडवों के पास उत्तेजक संदेश भेजा था––यह संदेश कि वे अपनी खोयी हुई राज्यलक्ष्मी के लिए वीरतापूर्वक लड़ें––उसी कुन्ती ने सुखभोग की कामना का तिरस्कार करके विजयी पुत्रों के साथ रहने से इन्कार कर दिया। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन जैसे पुत्रों की जननी अनाथ की भाँति वन की अग्नि में जल जाय, इससे बढ़कर कष्ट की बात क्या हो सकती है! धृतराष्ट्र-कुन्ती आदि का, वृष्णिवंशियों का, और अंत में स्वयं पांडवों का विनाश दिखलाकर महाभारतकार पाठकों की चेतनापर जीवन और उसकी विजयों तथा सुखों की नश्वरता का अमिट चिह्न छोड़ देते हैं।

इसे आप उपनिषदों के वैराग्यवाद का प्रभाव कह सकते हैं। किन्तु, जैसा कि हम देख चुके हैं महाभारत के जीवन-विवेक की परिणति इस कोटि के निराशावाद में नहीं है। महाभारतकार के इस विवेक का प्रभावशाली प्रतिपादन भगवद्गीता तथा शांतिपर्व के अनेक स्थलों में हुआ है। इस विवेक का मूल सूत्र यही है कि मनुष्य को व्यक्तिगत हानि-लाभ के प्रति उदासीन होकर लोक-कल्याण के लिए धर्म-सम्मत व्यवहार करना चाहिए। गीता में ही नहीं, जनक की निम्न उक्ति में भी यह विवेक पूर्णतया प्रतिफलित है—

अनन्तं वत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन॥ शांति० १७, १९

'मेरा ऐश्वर्य अनन्त है, क्योंकि मेरा कुछ भी नहीं है; यदि सारी मिथिला जल जाय, तो भी मेरा कुछ नहीं जलता।' यहाँ मिथिला से तात्पर्य है राज्यरूप ऐश्वर्य; कोई भी श्रेष्ठ राजा अपनी प्रजाओं के घर-द्वार जलने के प्रति उदासीन नहीं हो सकता।

यथार्थ दृष्टि

रामायण-महाभारत में मानव-जीवन संबंधी यथार्थ के ज्ञान का सर्वत्र परिचय मिलता है। रामायण के अयोध्याकांड में कौशल्या तथा कैकेयी के संबंध-वर्णन में, और राम द्वारा सीता आदि को दिये उपदेश में मानव-प्रकृति का सूक्ष्म परिज्ञान पाया जाता है। एक तरह से कहा जा सकता है कि महाभारत की कथा मूलतः ईर्ष्या तथा वैर-प्रतिशोध के विकारों की कथा है। दुर्योधन में ईर्ष्या थी जिसने पांडवों का निर्वासन किया, अपने अपमान का बदला लेने के लिए उसने द्रौपदी पर अत्याचार किया जिसके प्रतिशोध के लिए महाभारत का युद्ध हुआ। महाभारत के निर्भीक प्रवक्ता विदुर मानव प्रकृति के भी अच्छे ज्ञाता हैं। निम्न वक्तव्य उनकी मानव-प्रकृति संबंधी जानकारी का श्रेष्ठ निदर्शन है—

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः॥
द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः॥
पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः॥

उद्योगपर्व, ३३।४८, ५५, ५६, ७६

'क्षमाशील पुरुष में एक ही दोष पाया जाता है, दूसरे की तो संभावना ही नहीं है; वह दोष यह है कि उसे लोग असमर्थ समझ लेते हैं। स्त्रियाँ दूसरी स्त्रियों द्वारा चाहे गये पुरुष की कामना करती हैं और जन-साधारण, दूसरों के द्वारा पूजित मनुष्य का आदर करते हैं—ये दो प्रकार के लोग दूसरों पर विश्वास करके चलनेवाले होते हैं। जो निर्धन होकर भी बहुमूल्य वस्तु की इच्छा रखता और असमर्थ होकर भी क्रोध करता है—ये दोनों ही अपने लिए तीक्ष्ण काँटों के समान हैं एवं अपने शरीर को सुखानेवाले हैं। आप (राजा) जहाँ-जहाँ जायँगे, वहाँ-वहाँ मित्र, शत्रु, उदासीन, आश्रय देनेवाले तथा आश्रय पानेवाले, ये पाँच आपके पीछे लगे रहेंगे।'

शांतिपर्व में राजधर्म के साथ-साथ राजा के लिए विजय के उपाय बतलाते हुए भीष्म ने इस बात का पर्याप्त परिचय दिया है कि वे राजाओं के बीच होनेवाले संघर्ष के यथार्थ से परिचित हैं। अनुशासन-पर्व में युधिष्ठिर के यह पूछने पर कि आजकल मनुष्य सौ वर्ष की आयु क्यों नहीं पाता, भीष्म ने दीर्घायु पाने के तरीके बतलाये हैं, जो शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के यथार्थ नियमों पर आधारित हैं। इन संदर्भों में भीष्म यह नहीं कहते कि युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए किसी देवता को प्रसन्न करके दिव्य अस्त्र तथा शक्तियाँ प्राप्त कर लेनी चाहिए; न वे विश्वास के अयोग्य लम्बी उम्र का ही उल्लेख करते हैं। इन स्थलों में भीष्म की कल्पना तथा बुद्धि पूर्णतया यथार्थ के नियमों द्वारा शासित है।

किन्तु दूसरे दर्जनों प्रसंगों में रामायण और महाभारत दोनों अविश्वस-

नीय चमत्कारों तथा अलौकिक घटनाओं के वर्णन से भरे पड़े हैं। विशेषतः इन महाकाव्यों के युद्ध-वर्णन बड़े ही काल्पनिक हैं। रामायण में विराध, कबन्ध, कुंभकर्ण आदि के वर्णन बड़े अतिशयोक्तिपूर्ण हैं, और वाल्मीकि इन तथा दूसरे योद्धाओं में से प्रत्येक का ऐसा विवरण देते हैं मानो उनसे बढ़कर वीर योद्धा कोई दूसरा नहीं है। इसी प्रकार महाभारत में समय-समय पर द्रोण और भीष्म, कर्ण और अर्जुन, भीमसेन और दुर्योधन सभी की अतिरंजित प्रशंसा की गयी है। इस अतिरंजना का एक फल यह होता है कि पाठकों की अनुपात-भावना कुंठित हो जाती है, और मुख्य नायक या नायकों पर दृष्टि केन्द्रित नहीं हो पाती। रामायण-महाभारत द्वारा प्रवर्तित युद्ध-वर्णन की यह परंपरा एक सीमा तक बाद के महाकाव्यों में भी निभायी जाती रही, यद्यपि उन काव्यों में वे वर्णन बहुत लम्बे तथा महत्त्वपूर्ण नहीं बने।

उक्त काव्यों में दूसरी तरह की आश्चर्यजनक व लोमहर्षक घटनाएँ भी प्रचुरता से समावेशित हुई हैं। अयोध्याकांड के बाद ही रामायण में ऐसी घटनाओं की बहुलता शुरू हो जाती है, जिससे उसका मानवीय पक्ष गौण बनने लगता है। महाभारत में तो लेखन-कार्य ही गणेश द्वारा शुरू किया जाता है और बाद में अनेक देवी-देवताओं, नागों तथा दूसरे अद्भुत जीवों के अनगिनत आख्यान जगह-जगह सुनाये जाते हैं।

द्वितीय खण्ड

भारतीय संस्कृति; उत्कर्ष-काल

दूसरा अध्याय

सौन्दर्य-बोध और जीवन-संभोग

विषय-प्रवेश

कालिदास, भारवि तथा माघ भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष-काल के गायक हैं। प्रश्न है, सांस्कृतिक दृष्टि से किसी युग को उत्कर्ष-काल कहने का क्या तात्पर्य हो सकता है? किसी जातीय चेतना के इतिहास में युग-विशेष अथवा अवधि-विशेष को उत्कर्ष-काल मानने की क्या कसौटी है? क्या किसी जाति के उत्कर्ष का मानदंड उसकी राजनीतिक शक्ति व सत्ता होती है? अथवा उसकी भौतिक समृद्धि या संपन्नता? क्या किसी जाति के सांस्कृतिक उत्कर्ष का उसकी राजनीतिक स्थिति से कोई आवश्यक लगाव होता है? अथवा यह कहना चाहिए कि जातिविशेष के सांस्कृतिक उत्कर्ष का समय वह है जब वह जाति विभिन्न विद्याओं के क्षेत्रों में प्रगति कर रही हो? इस संदर्भ में विद्याओं से मतलब विभिन्न विज्ञानों तथा दर्शन सभी से हो सकता है।

प्रसिद्ध यूनानी विचारक अरस्तू ने अपनी 'मेटाफिज़िक्स' पुस्तक में एक जगह कहा है कि 'गणित-संबंधी कलाओं की स्थापना मिस्र देश में हुई, क्योंकि वहाँ पुरोहित जाति के लोगों को अवकाश उपलब्ध था।[1]' विशुद्ध रूप में सांस्कृतिक क्रियाएँ वे होती हैं जिनका भौतिक अस्तित्व की जरूरतों से संबंध नहीं होता——जो सिर्फ चित्त के विनोद एवं व्यक्तित्व के उत्कर्ष-संपादन का साधन होती हैं। जिस मनुष्य को अस्तित्व की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जितना ही अधिक व्यस्त रहना पड़ता है, वह सांस्कृतिक दृष्टि से उतना ही कम भाग्यशाली है। जो बात व्यक्तियों पर लागू होती है वही जातियों

१. **मेटाफिज़िक्स, १, १, ९८१।**

पर भी। जिस देश या जाति को जिन्दा रहने के लिए इतनी शक्ति व समय खर्च करना पड़ता है कि उसे उन निरुपयोगी क्रियाओं के लिए, जो मात्र व्यक्तित्व को सुभग एवं परिष्कृत बनानेवाली हैं, अवकाश नहीं मिलता, वह सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ी हुई कही जायगी। इसी प्रकार वह जाति भी, जो हमेशा संपत्ति के उत्पादन के पीछे पड़ी रहती है और काव्य-शास्त्र की चर्चा में दिलचस्पी नहीं रखती, अपनी सारी समृद्धि और शक्ति के बावजूद असंस्कृत या कम संस्कृत मानी जायगी।

तात्पर्य यह कि संस्कृत व्यक्ति वह है जिसके मन-बुद्धि केवल उपयोगिता के धरातल पर संचरण नहीं करते; अपितु जीवन की उपयोगिता-मूलक समस्याओं का न्यूनाधिक हल करके, ऐसे प्रश्नों से उलझते हैं जिनका संबंध व्यक्तित्व के सौन्दर्य एवं चेतना के परिष्कार से है। किसी जाति की सांस्कृतिक चेतना उन सम्मानित लेखकों, विचारकों एवं कलाकारों में अभिव्यक्ति पाती है जो विशुद्ध उपयोगिता के दायरे को लाँघकर ऐसे प्रश्नों एवं अनुभवों से उलझते हैं जिनका संबंध मानवीय व्यक्तित्व की जानने-महसूस करने की क्रियाओं से है। यह नहीं कि संस्कृत व्यक्ति जिन्दगी की आवश्यकताओं तथा जीवन-यात्रा के उपयोगिता-मूलक पक्षों से अछूता रहता है; यह भी नहीं कि संस्कृत जाति उपयोगिता के क्षेत्र में सफल एवं प्रभावपूर्ण प्रतिक्रियाएँ नहीं करती। वस्तुतः जो जाति जीवित रहने की समस्याओं का उचित हल नहीं कर सकती, वह अपने सदस्यों, अपने प्रतिभाशाली सदस्यों के लिए भी, ऐसा अवकाश प्राप्त नहीं कर सकती जो सांस्कृतिक प्रयत्नों एवं उपलब्धियों की आवश्यक शर्त है। सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत जाति उपयोगी कार्य कलापों के लिए आवश्यक समय व शक्ति का व्यय करती हुई भी उनके संबंध में अनावश्यक चर्चा नहीं करती—या यों कहिए कि वैसी चर्चा में रुचि नहीं लेती। इसके विपरीत उसकी अभिरुचि ऐसी चर्चाओं में होती है जिनका विषय उसके सदस्यों का सौन्दर्य-बोध, नीति-बोध एवं तत्त्व-बोध है। फलतः उस जाति के प्रिय नेता तथा प्रवक्ता इस प्रकार की चर्चाओं में लगे रहना संभव पाते हैं।

रामायण—महाभारत के रचयिताओं में नीति-बोध तथा तन्त्व-बोध से संबंधित दिलचस्पी की कमी नहीं है; उनमें धर्म-चर्चा का भी विशेष चाव है। किन्तु उनका मन सौन्दर्य-चर्चा में उतना नहीं रमता। इस दृष्टि से आदिकवि महाभारतकार से कुछ आगे हैं, किन्तु उनकी दृष्टि भी पूर्णतया एक कवि की दृष्टि नहीं है। रामायण और महाभारत दोनों के नायकों के जीवन पर संघर्ष की घनी छाया है। यह स्थिति उक्त महाकवियों की दृष्टि एवं संवेदना को भी प्रभावित करती है। महाभारतकार की दृष्टि प्रायः शत-प्रतिशत उपयोगितावादी है। उनके प्रिय नायकों का प्रधान ध्येय है खोये हुए राज्य की प्राप्ति, अपने छीने हुए अधिकार को वापस लौटाना। उनकी समस्त चिंता एवं प्रयत्नों का केन्द्र है अपने पैतृक अधिकार को पुनः हस्तगत करने का प्रश्न। उनकी यह चिंता इतनी गहरी है कि वे उन जीवन-क्रियाओं के लिए, जिनका लक्ष्य मात्र सौन्दर्य का आकलन अथवा सौष्ठव का संपादन है—जिन क्रियाओं की परिणति केवल सौन्दर्य-बोध और उससे उत्पन्न आनन्द में है, अवकाश ही नहीं पाते। द्रौपदी परम सुन्दरी है, वह बुद्धिमती तथा विदुषी भी है, किन्तु पांडवों के व्यस्त जीवन में इतना समय कहाँ कि अपनी वृत्तियों को उसमें केन्द्रित कर सकें। महाभारत में दिये गये विभिन्न वीरों के वर्णन भी उपयोगिता की दृष्टि से अनुप्राणित हैं। प्रत्येक ऐसे वर्णन का प्रधान लक्ष्य है पाठकों को यह बतलाना कि पुरुष-विशेष में लड़ने तथा शत्रुओं को जीतने की कितनी क्षमता है। महाभारत में नीति तथा धर्म से संबंधित प्रश्न भी संघर्ष के क्षुब्ध वातावरण में उठते हैं, वहाँ धार्मिक व्यक्तित्व का आह्लादकारी चित्र प्रायः कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

इस अंतिम वक्तव्य को पल्लवित करने की आवश्यकता है। साहित्य की विशिष्ट दृष्टि से किसी नायक या नायिका के बारे में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि उसके व्यक्तित्व में ऐसा क्या है जो उसे प्रिय, प्रशंसनीय अथवा श्रद्धा के योग्य बनाता है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी यही प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। इसके विपरीत उपयोगिता की दृष्टि से दूसरा प्रश्न महत्त्वपूर्ण होगा। यदि उपयोगिता का संबंध युद्ध-संबंधी हार-जीत से है तो पूछना होगा कि व्यक्ति-

विशेष में कितना शारीरिक बल व युद्ध-कुशलता है, अथवा उसके पास कितने महत्त्वपूर्ण शस्त्रास्त्र हैं, जिनसे शत्रुओं का विनाश किया जा सकता है? रामायण और महाभारत दोनों की युद्ध-संबंधी कथाओं की पीठिका में यह दूसरा प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इसके विपरीत सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रश्न, जो उसी संदर्भ से संबंधित है, यह होगा—पुरुष-विशेष में वे कौन-सी विशेषताएँ हैं जो उसे युद्ध में विजयी बनानेवाली हैं? संक्षेप में सांस्कृतिक दृष्टि मुख्यतः अपने को उन विशेषताओं पर केन्द्रित करती है जो नायक या नायिका के मानवीय व्यक्तित्व का अंग हैं। इसके विपरीत उपयोगिता की दृष्टि ऐसी सामग्री तथा शक्तियों में ज्यादा रुचि लेती है जिनका संबंध व्यक्ति-विशेष की मनुष्यता से नहीं है।

यह नहीं कि उत्कर्षकालीन काव्य के नायक वीर नहीं हैं, अथवा उनमें विजय-कांक्षा नहीं है, किंवा उनकी व्यावहारिक समस्याएँ नहीं हैं; ये सब चीजें उनके साथ लगी हैं, और इस दृष्टि से वे रामायण-महाभारत के पात्रों से विशेष भिन्न नहीं हैं। वस्तुतः इस युग तथा उसके बाद के काव्यों तथा नाटकों के अधिकांश नायक भी आदिकाव्य तथा महाभारत से ही लिये गये हैं। किंतु उनके प्रति कवियों के दृष्टिकोण में अब विशेष अंतर हुआ दिखाई देता है। उत्कर्ष-काल के कवि अपने पात्रों को मुख्यतः उनकी मानवीयता की दृष्टि से देखते हैं। इन नायकों के जीवन में जो युद्ध आदि व्यापार होते हैं वे उपेक्षणीय न होते हुए भी एक प्रकार से गौण बने दिखाई देते हैं। रघुवंश में रघु की दिग्विजय का वर्णन है, स्वयंवर से लौटते हुए अज का दूसरे राजाओं से जो युद्ध हुआ उसका भी उल्लेख है। किन्तु ये युद्ध उनमें से प्रत्येक के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ नहीं जान पड़ते। इन युद्ध-व्यापारों के माध्यम से कवि कुछ दूसरे ही प्रयोजनों की सिद्धि करता है। यह प्रयोजन है रघु तथा अज के व्यक्तित्व की कतिपय स्पृहणीय अथवा प्रशंसनीय विशेषताओं को उद्घाटित करना। यही कारण है कि रघुवंश में किसी भी युद्ध का लंबा-चौड़ा वर्णन नहीं दिया गया है। यही बात कमोवेश दूसरे महाकाव्यों पर भी लागू होती है। 'कुमारसंभव' के उस अंश में, जो कालिदास की रचना

माना जाता है, युद्ध का वर्णन आ ही नहीं सका है। 'किरातार्जुनीय' में अर्जुन तथा किरातवेषधारी शिव के युद्ध का वर्णन है अवश्य, किन्तु वह वर्णन पांडवों के संघर्ष का निजी अंग नहीं है। इसी प्रकार माघ के 'शिशुपालवध' में भी युद्ध का लम्बा-चौड़ा वर्णन नहीं पाया जाता। इसके विपरीत इन सभी काव्यों में नायक-नायिकाओं के सौन्दर्य और उनके संयोग-वियोग के लम्बे वर्णन हैं। जिन पुरुषों के वर्णन पाये जाते हैं उनमें कहीं-कहीं तपस्वी ऋषियों तथा राजनीतिविशारद मंत्रियों आदि के वर्णन भी मिलते हैं। साथ ही विभिन्न ऋतुओं के, आश्रमों के, जल-विहार, मृगया आदि के वर्णन भी उपलब्ध होते हैं।

व्यक्तित्व को सुंदर बनानेवाले प्रसाधनों एवं स्वभाव तथा चरित्र की विशेषताओं पर इस युग के कवियों का विशेष ध्यान रहता है। वे भाषा, अलंकार, छन्द आदि के प्रयोगों के प्रति भी बड़े सतर्क दिखाई देते हैं। वाल्मीकि के काव्य में इस सतर्कता का प्रारंभ देखा जा सकता है। किन्तु जहाँ वाल्मीकि की रचना में इस प्रकार की सतर्कता अपवाद-रूप है, वहाँ उत्कर्षकालीन कवियों में वह नियम बन जाती है। महाभारतकार का उद्देश्य सिर्फ कथा कहना जान पड़ता है; उनके वक्तव्य की रोचकता मुख्यतः कथा की रोचकता का ही प्रतिबिंब है। महाभारतकार अपनी कथा प्रभावशाली ढंग से सुनाना जानते हैं, किन्तु उनका यह साक्षात् उद्देश्य नहीं है कि कथा के विभिन्न प्रसंगों को रसात्मक बनायें। जैसा कि हमने संकेत किया था, द्रौपदी-स्वयंवर के प्रकरण में सबसे कम वर्णन द्रौपदी का हुआ है। महाकवि की रुचि का विषय वे राजा लोग अधिक हैं जो स्वयंवर में उपस्थित हुए हैं, और सो भी इस दृष्टि से कि उनमें कौन कितना शक्तिशाली है। इसके विपरीत रघुवंश के इन्दुमती-स्वयंवर का केन्द्र स्वयं इन्दुमती है, वहाँ आगत राजाओं के व्यक्तित्व स्वयं इन्दुमती की दृष्टि के माध्यम से उद्घाटित होते हैं, और वे वहीं तक महत्त्वपूर्ण हैं जहाँ तक नायिका को रोचक जान पड़ते हैं। रामायण का सबसे रसात्मक भाग अयोध्याकांड है। अवश्य ही रामायण का अयोध्याकांड विश्व-साहित्य में बेजोड़ है, किन्तु वहाँ भी कवि की अभिरुचि का मुख्य केन्द्र राम

का भाग्य-विपर्यय और उसमें निहित आदर्शवाद है। कवि की विभिन्न पात्रों में रुचि है इसमें संदेह नहीं, किन्तु उसकी स्वयं वनवास की घटना में भी कम रुचि नहीं है। अयोध्याकांड के बाद कवि की अभिरुचि उत्तरोत्तर कम मानवीय होती जाती है, और वह अतिमानव विचित्रताओं एवं अलौकिक घटनाओं में बहुत ज्यादा रस लेता दीख पड़ता है।

इसके विपरीत उत्कर्ष-काल के कवि केवल घटनाओं के विवरण में प्रायः थोड़ी भी रुचि नहीं लेते। उनके लिए कथानक और घटनाएँ बहुत-कुछ गौण हो जाती हैं। विशुद्ध इतिवृत्तात्मक घटनाओं का उल्लेख करते हुए भी वे यह नहीं भूलते कि उनका प्रधान लक्ष्य साहित्यिक रस व चमत्कार की सृष्टि है। यदि और कुछ नहीं तो शाब्दिक चमत्कार ही सही; कविगण इस चीज के लिए बड़े सावधान हैं कि उनकी कोई पंक्ति एकदम सपाट या चमत्कारशून्य न हो। राज्य करते हुए राजा दशरथ को दस हजार के लगभग वर्ष बीत गये, इस इतिवृत्तात्मक सूचना को देते हुए भी महाकवि कालिदास थोड़े-बहुत चमत्कार का विधान करना नहीं भूलते––

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः।
किञ्चिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ॥ रघुवंश, १०, १

इन्द्र के समान तेजस्वी, बड़ी समृद्धिवाले राजा दशरथ को 'पृथ्वी का शासन करते हुए दस हजार से कुछ कम वर्ष बीत गये।' यहाँ वक्तव्य में चमत्कार लाने के लिए कवि ने कई अनुप्रासों का समावेश कर दिया है। यों भी दशरथ की प्रशंसा में जो विशेषण लगाये गये हैं वे निरर्थक नहीं हैं। नवम सर्ग के अधिकांश भाग में कालिदास ने द्रुतविलंबित छन्द का प्रयोग किया है और प्रत्येक छन्द के अंतिम चरण में यमक अलंकार का विधान। इसके फलस्वरूप अर्थवती उक्ति-योजना के साथ-साथ चमत्कारपूर्ण शब्द-योजना का भी सन्निवेश हो सका है, जिससे पाठक कई तरह का रस प्राप्त करता हुआ अग्रसर होता है।

उक्त दो युगों की साहित्यिक मनोवृत्तियों का भेद देखने के लिए पाठक

निम्न दो वर्णनों की तुलना कर सकते हैं; रामायण में दिया हुआ अयोध्या-नगरी का वर्णन और शिशुपालवध में सन्निवेशित द्वारका-वर्णन। वाल्मीकि का वर्णन मुख्यतः विवरणात्मक एवं सूची-रूप है। वे बतलाते हैं कि अयोध्या में क्या-क्या भौतिक रचनाएँ व वस्तुएँ दिखाई देती हैं—

आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा॥
राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता।
मुक्तापुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः॥
कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम्।
सर्वयन्त्रायुधवतीमुषितां सर्वशिल्पिभिः॥
सूतमागधसंबाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम्।
उच्चाट्टालध्वजवतीं शतघ्नीशतसंकुलाम्॥
वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम्।
उद्यानाम्रवणोपेतां महतीं सालमेखलाम्॥
दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम्।
वाजिवारणसंपूर्णां गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा॥
सामन्तराजसंघैश्च बलिकर्मभिरावृताम्।
नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम्॥

बालकांड, ५, ७, ८, १०, ११, १२, १३, १४

'अयोध्यानगरी बारह योजन लम्बी और तीन योजन चौड़ी है, वह श्री-संपन्न है और उसमें बड़ी सड़कें सर्वत्र बनी हुई हैं। उसमें शोभन राजमार्ग है जिस पर नित्य छिड़काव होता है और जिस पर फूल बिखरे रहते हैं। उस नगरी को, जिसके बाहरी दरवाजों पर बन्दनवार बँधे हैं, जहाँ सुन्दर दूकानें हैं, सब तरह के यंत्र तथा हथियार हैं और तरह-तरह के शिल्पी रहते हैं; जहाँ बहुत-से बन्दी, मागध आदि हैं, ऊँची अट्टालिकाएँ हैं, झंडियां हैं, शतघ्नी नाम के आयुध हैं, स्त्रियों की नाटकशालाएँ हैं, बगीचे हैं, आम्र-वन हैं;

जिसका विशाल परकोटा है, बड़ा किला है, गहरी खाई है; घोड़ों, हाथियों, गायों, ऊँटों तथा खरों से भरी हुई है और शत्रुओं द्वारा अप्राप्य है; जहाँ कर देनेवाले सामन्तों तथा राजाओं के समूह हैं और नाना देशों के व्यापारी हैं (ऐसी अयोध्या को दशरथ ने ठीक से बसाया)।' पाठक देखेंगे कि इस वर्णन में तरह-तरह की चीजों के नामों की भीड़ है। कवि थोड़े से थोड़े शब्दों में अयोध्या के बारे में बहुत-सी सूचनाएँ दे देना चाहता है। उसके पास इतना अवकाश नहीं है कि इन सूचनाओं को अधिक चमत्कारयुक्त एवं रसात्मक ढंग से पाठकों के सामने उपस्थित करे।

चत्मकार-विधान

इसके विपरीत कवि माघ ने बड़ी सतर्कता से रचे हुए लगभग तीस पद्यों में द्वारकापुरी का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है। प्रत्येक पद्य पाठक के कल्पना-नेत्रों के सामने एक रोचक चित्र उपस्थित करता है। हम यहाँ तीन-चार उदाहरण ही पेश करेंगे——

मध्येसमुद्रं ककुभः पिशङ्गीर्या कुर्वती काञ्चनवप्रभासा।
तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास॥
वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मृणन्रत्नानि रत्नाकरतामवाप॥
यदङ्गनारूपसरूपतायाः कञ्चिद्गुणं भेदकमिच्छतीभिः।
आराधितोऽद्धा मनुरप्सरोभिश्चक्रे प्रजाः स्वाः सनिमेषचिह्ना॥
रतौ ह्रिया यत्र निशाम्य दीपाञ्जालागताभ्योऽधिगृहं गृहिण्यः।
बिभ्युर्बिडालेक्षणभीषणाभ्यो वैदूर्यकुड्येषु शशिद्युतिभ्यः॥

शिशुपालवध, ३।३३, ३८, ४२, ४३

'द्वारकापुरी का परकोटा सोने का है, उसकी प्रभा से दिशाओं को पीतवर्ण बनाती हुई वह पुरी समुद्र के बीच में जल को भेद कर उठी हुई बड़वाग्नि की ज्वाला के समान दिखाई देती है। उसके बाजारों में स्थिर

ज्योतिवाले रत्नों के पुञ्ज सँजोये रहते हैं। जल निकलने के मार्गों से कभी-कभी समुद्र की चंचल तरंगें घुस आती हैं और रत्नों को चुरा कर ले जाती हैं। इसी तरह रत्नों का संचय करके समुद्र रत्नाकर बन गया है। वहाँ की स्त्रियाँ सुन्दरता में अप्सराओं के समकक्ष हैं। इस सादृश्य से परेशान होकर अप्सराओं ने मनु से यह प्रार्थना की कि वे अपनी इन संतानों में किसी ऐसे गुण की स्थापना कर दें जिससे उन्हें उनसे भिन्न पहचाना जा सके। फलतः मनु ने स्वनिर्मित (द्वारकापुरी की) सुन्दरियों में पलक गिरगे-उठने की विशेषता का समावेश कर दिया। वहाँ रात में रति के समय गृहवधुएँ जब लज्जावश दीपकों को बुझा देती हैं तब उन्हें वैडूर्य मणियों से निर्मित दीवारों पर झरोखों से आकर गिरती हुई चन्द्रमा की किरणों की परछाइयाँ दीखती हैं; ये परछाइयाँ बिल्ली की आँखों की तरह पीली एवं भयंकर दिखाई देती हैं, जिससे वे डर जाती हैं।'

इन पद्यों में भी द्वारकापुरी के ऐश्वर्य आदि के संकेत हैं, किन्तु वे वाल्मीकि के वर्णनों से भिन्न प्रकार के हैं। इसी प्रकार की भिन्नता दूसरे समान विषय-वाले स्थलों में भी देखी जा सकती है। राम को लेने के लिए जब विश्वामित्र दशरथ के पास आये तो उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से उन ऋषि का स्वागत किया। दोनों के मिलन का वर्णन आदिकवि ने इस प्रकार किया है––विश्वामित्र और उनके साथ के ऋषियों ने जब प्रवेश किया तो राजा ने उनकी यथा-योग्य पूजा की और फिर विश्वामित्र से कहा––'जैसे अमृत की प्राप्ति होती है, जैसे जलहीन स्थान में वर्षा होती है, जैसे पुत्रहीन को धर्मपत्नियों से पुत्र प्राप्ति होती है, वैसा ही मैं आपके आगमन को मानता हूँ। मैं आपका कौन-सा बड़ा कार्य हर्ष के साथ करूँ? आज मेरा जन्म और जीवन सफल हुआ। आप पहले राजर्षि थे और अब ब्रह्मर्षिपद को प्राप्त कर चुके हैं, अतएव आप मेरे बहुत पूज्य हैं। आपके आगमन का जो प्रयोजन हो, वह कृपया मुझे बतलायें।'[1] यहाँ प्रायः इतिवृत्तात्मक एवं चमत्कारशून्य

१. बालकाण्ड, १८।४८–५३, ५६

ढंग से राजा दशरथ ने विश्वामित्र की प्रशंसा और उनसे अपना प्रयोजन बतलाने की प्रार्थना की है। एक ऐसे ही अवसर का कवि माघ ने भी वर्णन किया है। स्वर्ग से उतरते हुए महर्षि नारद क्रमशः कृष्ण के भवन में उनके सामने अवतीर्ण हुए। कृष्ण ने अपने हाथ से उन्हें आसन दिया। आसन नीले रंग का था और नारद नितान्त गौरवर्ण। उस पर बैठकर वे वैसे ही शोभित हुए जैसे सन्ध्या में अँधेरे से ढके हुए उदयाचल पर्वत पर प्रकट होकर चन्द्रमा शोभित होता है। उसके बाद नारदजी की आज्ञा से नये मेघों जैसी-श्यामल कांतिवाले कृष्ण जिस सोने के आसन पर बैठे, वह सुमेरु पर्वत के उस शिखर के समान सुन्दर लगने लगा जिस पर जामुन का वृक्ष स्थापित कर दिया गया है। उस समय नारद मुनि तथा कृष्ण के शरीरों की प्रभाएँ एक-दूसरे से मिश्रित होने लगीं; कुछ वैसा ही दृश्य बन गया जैसा रात में वृक्ष के चंचल पत्तों के बीच चन्द्रमा की शुभ किरणों के प्रविष्ट होने से दिखाई देता है। तेजस्वी नारद को देखकर प्रसन्नता से खिले हुए कृष्ण के नेत्र वैसे ही सुन्दर दिखाई दिये जैसे तेजवान् सूर्य की समक्षता में कमल सुन्दर दिखाई देते हैं। उस समय कृष्ण सचमुच ही पुंडीराकाक्ष (कमलनयन) हो रहे थे।[२] उन्होंने ऋषि नारद से कहा--

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्।।
विलोकनेनैव तवामुना मुने कृतः कृतार्थोऽस्मि निर्बहितांहसा।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते।।
गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम्।।

शिशुपाल वध १।२६, २९, ३०

'आपका दर्शन वर्तमान काल के पापों को दूर करता है, भावी श्रेय

२. शिशुपालवध, १।१६. १९, २१, २४।

का कारण बनता है और अतीत में किये हुए शुभ कर्मों से संभव होता है; इस प्रकार यह तीनों कालों में मनुष्य की योग्यता प्रकट करता है। मुनिवर! पापों की निवृत्ति करनेवाले आपके दर्शन-मात्र से मैं कृतार्थ हो गया हूँ, फिर भी मैं आपकी गौरवशालिनी वाणी सुनना चाहता हूँ; बात यह कि श्रेय अथवा लाभ से किसे तृप्ति हुई है? आप स्पृहा-शून्य हैं, फिर भी मैं यह पूछने की धृष्टता करना चाहता हूँ कि आपके आगमन का प्रयोजन क्या है। यह धृष्टता उसी आत्मगौरव के कारण संभव हुई है जो हमें आपके आने से प्राप्त हुआ है।'

किरातार्जुनीय में महर्षि व्यास के आगमन के अवसर पर ऐसे ही कुछ वाक्य युधिष्ठिर द्वारा कहलाये गये हैं—

अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सवित्री।
तुल्या भवद्दर्शनसंपदेषा वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकायाः॥
श्रियं विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेयः परिस्तौति तनोति कीर्तिम्।
संदर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किं न धत्ते॥
निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीनं किमु निःस्पृहाणाम्।
तथापि कल्याणकरीं गिरं ते मां श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति॥

किरातार्जुनीय, ३।५, ७, ९

'आपकी दर्शन-रूपी संपत्ति, जो रजोगुण (अथवा धूल) को दूर करनेवाली है और बहुत-से पुण्यों के बिना प्राप्त नहीं होती, जो श्रेष्ठ फल को उत्पन्न करनेवाली है, वह बिना मेघों के आकाश से मिलनेवाली वर्षा के समान है। आप ब्रह्मा के समान लोकगुरु हैं, आपका दर्शन क्या नहीं करता—लक्ष्मी को खींच कर लाता है, पापों का विनाश करता है और श्रेय तथा कीर्ति का विस्तार। आपसे प्रश्न करने का कुतूहल निराधार ही है, क्योंकि आप-जैसे निःस्पृह लोगों का कौन-सा काम हमारे अधीन हो सकता है! फिर भी आपकी कल्याणकारिणी वाणी सुनने की इच्छा मुझे मुखर बना रही है।'

दशरथ, कृष्ण तथा युधिष्ठिर तीनों का उद्देश्य अतिथियों का स्वागत करते हुए अपनी-अपनी विनय का प्रदर्शन करना है। विनय संस्कृत व्यक्तित्व का एक श्लाघनीय गुण है। दशरथ का वक्तव्य विनय का प्रदर्शन तो करता है, पर उससे आगे स्वयं उनके व्यक्तित्व पर विशेष प्रकाश नहीं डालता। इसके विपरीत माघ तथा भारवि द्वारा दिये हुए विनय-प्रदर्शन के उल्लेख युधिष्ठिर तथा कृष्ण के व्यक्तित्व की विदग्धता एवं संस्कारसंपन्नता का द्योतन करते हैं। प्रतीत होता है जैसे दशरथ ने विश्वामित्र के स्वागत द्वारा एक रूढ़ि का निर्वाह मात्र किया है, उनके द्वारा विश्वामित्र की महत्ता अनुभूत हुई नहीं जान पड़ती। यहाँ अनुभूत होने से तात्पर्य है संवेद्य प्रत्यक्षीकरण, जो कि काव्यभाषा की निजी विशेषता है। कृष्ण तथा युधिष्ठिर के वक्तव्य अभ्यागतों के महत्त्व को अधिक संवेद्य बना देते हैं। उनके वाक्यों की रचना एक दूसरा प्रभाव भी उत्पन्न करती है——यह कि कृष्ण और युधिष्ठिर अवकाश की मनःस्थिति में अपने अतिथियों के व्यक्तित्वों का आकलन और उनके प्रति स्वागत-निवेदन कर रहे हैं। कृष्ण, नारद आदि जिस घुमाव-फिराव के साथ, आलंकारिक ढंग से, एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं, वह उक्त मनोभाव का प्रबल संकेतक है।

यह मनोभाव उत्कर्षकाल के काव्यों में सर्वत्र देखा जा सकता है; काव्यों के पात्रों में भी, और स्वयं कवियों में। 'शिशुपालवध' में द्वारका से युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित होने को प्रस्थान करते हुए कृष्ण बड़ी फुरसत के भाव से द्वारकापुरी का निरीक्षण करते हैं, फिर वे रैवतक पर्वत पर रुककर क्रीड़ा व रति-विहार करने का निश्चय करते हैं। इन सब चीजों के वर्णन में ——जिनमें छः ऋतुओं, जल-विहार, चन्द्रोदय, पान-गोष्ठी, सूर्योदय आदि के वर्णनों का समावेश है——कवि ने नौ-दस सर्ग ले लिये हैं। उसके बाद कहीं कृष्ण इन्द्रप्रस्थ पहुँचकर पांडवों से भेंट करते हैं। इसी प्रकार 'किरातार्जुनीय' के लेखक ने अर्जुन के प्रस्थान, तपस्या और उसमें गंधर्वों तथा अप्सराओं द्वारा विघ्न डाले जाने के प्रयत्न आदि का वर्णन छः-सात सर्गों में किया है।

जीवन की छोटी-सी घटना या स्थिति में बहुत-सा अर्थ देखने—प्रकट करने का स्वभाव और क्षमता अपेक्षाकृत बड़े साहित्यकारों में ही पायी जाती है। आधुनिक काल में मार्सेल प्रूस्त-जैसे उपन्यासकार अपनी नायिका के सोने या मुस्कराने के वर्णन में अनेक पृष्ठ भर डालते हैं। आज का उपन्यास एक प्रकार से प्राचीन महाकाव्य का उत्तराधिकारी है। उत्कर्ष-काल से संस्कृत-कवियों में विश्लेषणात्मक लंबे वर्णन की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी दिखाई देती है। यह उनकी साहित्य-संवेदना की सूक्ष्मता एवं समृद्धि दोनों का प्रमाण है।

वाल्मीकि ने विश्वामित्र को "महातेजाः" (बड़े तेजस्वी या तेजवाले) कहकर वर्णित किया है। नारद को अंतरिक्ष से उतारते हुए कवि माघ ने उनकी तेजस्विता को बड़े चमत्कारिक ढंग से प्रत्यक्ष बनाया है——

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः॥
चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥
शिशुपालवध १।२, ३

'सूर्य की गति तिरछी होती है, अग्नि की शिखा ऊपर की ओर उठती है; यह किस प्रकार का तेज या ज्योति है जो नीचे की ओर गिर रही है——इस प्रकार लोगों ने आकुल होकर (उतरते हुए नारद को) देखा। भगवान् कृष्ण ने पहले समझा कि यह केवल एक ज्योतिपुंज है; बाद में जाना कि कोई शरीरधारी सत्त्व है। जब अवयव अलग-अलग दीखने लगे तो धीरे-धीरे पहचाना कि यह मनुष्य है, और नारद मुनि हैं।'

रामायण-महाभारत-युग तथा उत्कर्ष-काल के जिस भेद को हम पाठकों के मस्तिष्क तक पहुँचाना चाहते हैं, उसे दो भिन्न दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि उत्कर्षकालीन कवियों की मानव व्यक्तित्व में ज्यादा दिलचस्पी है, और उस व्यक्तित्व द्वारा

सम्पन्न होनेवाली जय-पराजय उनके लिए अपेक्षाकृत कम महत्त्व रखती हैं। दूसरी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि इस युग के काव्य में जो संवेदना संचित व व्यक्त हुई है उसका विषय उपयोगिता की भूमि न होकर निरुपयोगी सौन्दर्य तथा नैतिक एवं दूसरे मूल्यों का वहन करनेवाली स्थितियाँ हैं।

अब हम दूसरा प्रश्न उठायेंगे—सौन्दर्य-बोध का जीवन-यात्रा में क्या स्थान है? हमारा उत्तर है, जिसे हम सौन्दर्य-बोध कहते हैं वह जीवन-संभोग का एक उपकरण है।. सुन्दर वह है जो उपयोगी न होते हुए भी हमारी चेतना को रसात्मक (Aesthetic) दृष्टि से समृद्ध बनाता है। सौन्दर्य-बोध से भिन्न दूसरी चीज नैतिक बोध एवं उदात्त की चेतना हैं, ये हमारे व्यक्तित्व को सिर्फ समृद्ध ही नहीं बनाते, अपितु उसके धरातल को भी ऊँचा करते हैं। संक्षेप में, वैयक्तिक एवं जातीय सांस्कृतिक चेतना के विकास में दो प्रक्रियाएँ चलती हैं; एक ओर व्यक्ति अथवा जाति की चेतना अधिक समृद्ध होती चलती है, दूसरी ओर वह ऊँच-नीच के प्रतिमानों या पैमानों के सम्बन्ध में अधिक सतर्क एवं विवेकशील होना सीखती है। यह सतर्कता जहाँ एक ओर हमें जीवन के विभिन्न गुणात्मक धरातलों में अन्तर देखना सिखलाती है, वहाँ दूसरी ओर उस जीवन की प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियों का समुचित मूल्यांकन करने की योग्यता भी देती है।

सौन्दर्य-दृष्टि—मानव-जगत्

शरीर-सौन्दर्य——अब हम उत्कर्षकालीन सौन्दर्य-चेतना के विभिन्न रूपों पर दृष्टिपात करेंगे। सौन्दर्य के दो प्रमुख क्षेत्र हैं मानव-जगत् और प्रकृति। मानव-जगत् में जो सौन्दर्य सीधे हमारे नेत्रों को आकृष्ट करता है और जिसका हमारी आनन्द-भावना से सीधा संबंध है उसका अधिष्ठान स्वयं मनुष्य का शरीर है। उत्कर्ष-काल में मानव-शरीर के महत्त्व को मुक्त कंठ से स्वीकार किया गया है। पार्वती से बात करते हुए बटु-रूपधारी शिव ने कहा—धर्म का पहला साधन शरीर ही है (शरीरमाद्यं

खलु धर्मसाधनम्––कुमारसंभव ५, ३३)। इस काल के कवियों में शरीर-सौन्दर्य––विशेषतः नारी-सौन्दर्य––के वर्णन की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी दिखाई देती है। नारी के नख-शिख-वर्णन के चलन का प्रारम्भ इसी युग में हुआ। कुछ हद तक इस प्रकार के वर्णन अश्वघोष के बुद्ध-चरित में भी मिलते हैं, किन्तु बुद्धचरित का उद्देश्य केवल साहित्यिक रस की सृष्टि नहीं है। वहाँ कुमार सिद्धार्थ के शोभन व्यक्तित्व के समर्थ संकेत हैं, और जहाँ-तहाँ स्त्रियों, अप्सराओं आदि के भी वर्णन हैं। किन्तु इन वर्णनों का प्रधान प्रयोजन बुद्ध की वैराग्य-भावना की तीव्रता एवं सशक्तता को दर्शित करना है। अश्वघोष ने सिद्धार्थ तथा यशोधरा के परिणय-प्रसंग को लेकर कोई वैसा लम्बा विवरण प्रस्तुत नहीं किया, जैसा कि कालिदास के 'रघुवंश' में इन्दुमती-स्वयंवर को लेकर किया गया है। फिर भी यह स्वीकार करना चाहिए कि अश्वघोष का काव्य सौन्दर्य-वर्णन की दिशा में वाल्मीकि की रामायण से कुछ आगे जाता है। यह बात तरह-तरह के छंदों के समावेश एवं आयासपूर्ण, सुचिन्तित शब्द-योजना से सिद्ध होती हे। चूँकि सिद्धार्थ के पिता राजकुमार को विषय-भोग की दुनिया में खींचकर रखना चाहते थे, इसलिए उन्होंने उनके चारों ओर उत्तेजक साथियों एवं सामग्री की योजना की। इनका वर्णन अश्वघोष के लिए जरूरी हो गया। इस प्रकार बुद्ध-चरित में नारी-सौन्दर्य के अनेक विविध एवं विस्तृत चित्र दिये गये हैं। स्वयं सिद्धार्थ के शारीरिक सौन्दर्य का भी जगह-जगह संकेत किया गया है।

जैसा कि हमने कहा, उत्कर्ष-काल के कवि नारी-रूप के वर्णन में विशेष रुचि दिखलाते हैं। इस दृष्टि से हमारे युग के तीन कवियों में कालिदास का स्थान सबसे ऊँचा है। कालिदास के नाटकों तथा मेघदूत में भी सुन्दर नारी-चित्र हैं, महाकाव्यों में इस दृष्टि से 'कुमारसंभव' अधिक महत्त्वपूर्ण है। मेघदूत में यक्ष ने मेघ को अपनी पत्नी के सौन्दर्य का परिचय दिया है, 'कुमारसंभव' में कवि ने पार्वती के शारीरिक रूप का विशद वर्णन प्रस्तुत किया है। इस वर्णन को हम नखशिख वर्णन कह सकते हैं।

इस प्रकार का वर्णन यह प्रकट करता है कि कवि की दृष्टि नायिका के अंग-अंग में रुचि लेती और उसकी लेखनी प्रत्येक अवयव का प्रत्यक्षीकरण करने का प्रयत्न करती है। हम यहाँ तीन-चार पद्य ही उद्धृत करेंगे——

> उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
> बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन।।
> एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः।
> आरोपितं यद् गिरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्कम्।।
> शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः।
> पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन।।
> प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्याः ।
> तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः।।
>
> कुमारसंभव, १।३२, ३७, ४१, ४६

'जिस प्रकार तूलिका (चित्रकार की कूँची) के रंगों से चित्र उद्भासित हो उठता है, जैसे सूर्य की किरणों से कमल खिल जाता है, वैसे ही नये यौवन से उसका सुगठित, अनुपातयुक्त शरीर पूर्ण सौन्दर्य में प्रस्फुट हो गया। उसके कटि-प्रदेश की शोभा का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि बाद में स्वयं शिव ने उसे अपने अंक में स्थान दिया——ऐसे अंक में जो किसी दूसरी नारी के लिए प्राप्य नहीं था। पार्वती के बाँहें शिरीष के फूलों से भी अधिक सुकुमार थीं. तभी तो पराजित होने पर भी, कामदेव ने उन्हें शिव के कंठ का बंधन बना दिया। आयताक्षी उमा का चकित-प्रेक्षण हवा में कँपते हुए नीले कमल के समान जान पड़ता था; इस प्रकार देखना उसने हिरनियों से सीखा था, या हिरनियों ने उससे?'

यौवन के आगमन से पुष्ट एवं आकर्षक बनते हुए नारी के अंगों में कालिदास की दिलचस्पी है। शिव ने जो उमा को स्वीकार किया उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण उनका सौन्दर्य भी था। पुरुष-शरीर में भी कालिदास

ने इसी प्रकार अपनी अभिरुचि दर्शित की है। यौवन की ओर उन्मुख रघु की शरीर-वृद्धि का एक चित्र देखिए--

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः॥
रघुवंश, ३।३२

'वृषभभाव को स्पर्श करते हुए बछड़े के समान, गजभाव को प्राप्त होते हुए कलभ (हाथी के बच्चे) की भाँति रघु ने क्रमशः शैशव को छोड़कर गंभीर (अचंचल) तथा सुन्दर पुष्ट शरीर पाया।'

कवि माघ ने एक जगह बलराम की शारीरिक विशेषताओं का संकेत किया है। कवि की दृष्टि मुख्यतः उन विशेषताओं पर है जिनका संबंध प्रणयक्रीड़ा अथवा तत्संबंधी अभिरुचि से रहता है। बलराम का जो चित्र कवि ने उपस्थित किया है उससे उनकी रजोगुणी प्रकृति के दोनों पहलू प्रकट होते हैं; उनका युद्धोत्सुक योद्धा का रूप, और कामपरायण प्रेमी का रूप--

ततः सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा।
ओष्ठेन रामो रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना॥
घूर्णयन्मदिरास्वादमदपाटलितद्युती।
रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ॥
ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया।
मुखामोदं मदरिया कृतानुव्याधमुद्वमन्॥
शिशुपालवध, २।१४, १६, २०

'तब शत्रु के द्वारा किये हुए अपकारों के स्मरण से उत्पन्न ताप से फड़कते हुए, रमणी के अधर-बिंब के चुम्बन में पटु, होठों से (बलराम ने कहा)। उस समय उनकी शराब के नशे से लाल आँखें, जिनके गोले रेवती के मुख के उच्छिष्ट से पवित्र हो चुके थे, घूम रही थीं। उनके मुँह से खास तरह की गंध निकल रही थी--वह गन्ध जिसमें रेवती के मुख में बसी मदिरा की सुरभि मिली हुई थी।'

बलराम उद्दाम जीवन-संभोग के प्रतीक हैं। 'मेघदूत' में भी उनके हालाप्रेम की चर्चा आयी हे। वे कृष्ण के बड़े भाई हैं; जाहिर है कि कोई कवि उन्हें निन्दनीय ठहराने की धृष्टता नहीं कर सकता। वस्तुतः उत्कर्ष-कालीन काव्यों के नायकों के लिए सुरा आदि का सेवन कोई अनहोनी बात नहीं है। रघुवंश में अज और दशरथ दोनों के संबंध में इस प्रकार के संकेत हैं कि वे मदिरा के प्रति विमुख नहीं थे। इन्दुमती के लिए विलाप करते हुए अज ने इस बात पर शोक प्रकट किया कि जो इन्दुमती उसके मुख द्वारा अर्पित स्वादिष्ठ मद्य पीती थी, वह अब श्राद्ध के समय आँसुओं से दूषित जलांजलि ग्रहण किया करेगी।[3] अज के ही संबंध में उसके विजयोत्तर शंखनाद का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है——

ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः।

रघुवंश, ७,६३

अर्थात् 'तब कुमार अज ने अपने उस अधरोष्ठ पर, जिसका रस प्रिया द्वारा आस्वादित हो चुका था, रखकर शंख को बजाया।' संकेत यह है कि इन्दुमती जैसी सुन्दरी के द्वारा चुम्बित होने से अज के होठों का महत्त्व बढ़ गया, और स्वयं अज को इस बात की चेतना थी।

कवि माघ ने अनेक सर्गों में नायक कृष्ण तथा उनके साथियों की जल-विहार आदि क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। शिवजी की समाधि भंग के लिए भेजने को जब इन्द्र ने कामदेव को बुलाया तो उसने इन्द्र के संभावित कार्य के संबंध में अनेक कल्पनाएँ कीं; यह कि शायद कोई तपस्वी अपने कठोर तप से इन्द्र को चिंतित बना रहा है, अथवा इन्द्र का किसी ऐसी स्त्री से प्रेम हो गया जो उसका कहना नहीं मानना चाहती, या फिर कोई मानिनी इन्द्र से नाराज़ हो गयी है और अपना मान नहीं छोड़ रही है। इन सब सम्भावनाओं की कल्पना करके कामदेव यह आश्वासन देता है कि इस

३. रघुवंश, ८, ६८।

प्रकार की समस्याओं का हल करना उसके लिए बहुत ही सहल है। उसकी उक्तियाँ इन्द्र के चरित्र पर, उसकी नारी-प्रियता पर, रोशनी डालती हैं। अपनी डींग हाँकते हुए वह कहता है––

कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम्।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम्॥
कुमारसंभव, ३, ७

'क्या कोई ऐसी सुन्दरी पतिव्रता स्त्री है जो अपने सौन्दर्य के कारण आपके चंचल मन में बस गयी है और जिसे आप लज्जा छोड़कर खुद अपनी खुशी से अपने गले में बाँहें डाले हुए देखना चाहते हैं?' मतलब यह कि इन्द्र का चित्त इस प्रकार का था कि किसी सुन्दरी स्त्री को देखकर उसमें आसक्त हो जाय। स्पष्ट ही यह नारी-सौन्दर्य के महत्त्व की घोषणा है।

शारीरिक सौन्दर्य के उद्घाटन में केवल अंगों का स्थित्यात्मक वर्णन ही नहीं होता। श्रेष्ठ कवि वर्णित व्यक्तित्व के गत्यात्मक सौन्दर्य की भी विवृति करते हैं। नारी के व्यक्तित्व में यह सौन्दर्य हाव-भावों के प्रदर्शन का रूप धारण कर लेता है, यह मानना ही पड़ेगा कि भारतीय कवियों, विशेषतः संस्कृत कवियों को, नारी-व्यक्तित्व की विभिन्न चेष्टाओं का बड़ा निकट परिचय है। ये चेष्टाएँ या हाव-भाव देश-विशेष की स्त्रियों के स्वभाव एवं चरित्र पर भी प्रकाश डालते हैं। 'किरातार्जुनीय' के दसवें सर्ग में अप्सराएँ तथा गंधर्व-युवतियाँ अर्जुन को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। प्रारम्भ में उनका उद्देश्य था, कृत्रिम भाव-भंगियों के प्रदर्शन द्वारा मोहित करके अर्जुन को तप-भ्रष्ट करना; किन्तु बाद में कुन्तीपुत्र के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर, वे सचमुच कामवश होकर तदनुकूल चेष्टाएँ करने लगीं। कुछ उदाहरण देखिए––

सललितचलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसंयमनाकुलैकपाणिः।
सुरपतितनयेऽपरा निरासे मनसिजजैत्रशरं विलोचनार्द्धम्॥

यदि मनसि शमः किमङ्ग चापं शठ विषयास्तव वल्लभा न मुक्तिः।
भवतु दिशति नान्यकामिनीभ्यस्तव ह्यदये हृदयेश्वरावकाशम्॥
इति विषमितचक्षुषाभिधाय स्फुरदधरोष्ठमसूयया कयाचित्।
अगणितगुरुमानलज्जयाऽसौ स्वयमुरसि श्रवणोत्पलेन जघ्ने॥

किरातार्जुनीय, १०।५२, ५५, ५६

'दूसरी ने, जो विलासपूर्वक चलते हुए कटि-प्रदेश से सुन्दर दीख रही थी और ज़िसका एक हाथ केशराशि को बाँधने में व्यस्त था, कामदेव के विजयी बाण के समान अधमुँदी आँखों के कटाक्ष को अर्जुन के प्रति निक्षिप्त किया। अर्जुन के ध्यान न देने से कुपित हुई एक युवती ने कहा—"रे धूर्त ! यदि तुम्हारे मन में शम या शान्ति है तो तुमने यह धनुष क्यों लगा रखा है ? निश्चय ही तुम्हें विषय प्यारे हैं, मुक्ति नहीं। जान पड़ता है तुम्हारे हृदय में कोई दूसरी कामिनी बसी हुई है जो औरों को जगह नहीं देती।" इस प्रकार टेढ़ी दृष्टि एवं फड़कते हुए अधरोष्ठ से क्रोधपूर्वक कहकर, बड़ों की, स्वाभिमान की और लज्जा-भावना की परवाह न करते हुए, युवती ने स्वयं अपने काम के कमल को अर्जुन के वक्षःस्थल पर फेंक कर मारा।'

किरातार्जुनीय के उक्त स्थल में विशुद्ध विलासिनी तरुणियों के हाव-भावों का संकेत है। अज-इन्दुमती के विवाह के प्रसंग में कालिदास ने कुलवती स्त्रियों की चेष्टाओं का चित्र खींचा है। ऐसी स्त्रियाँ भी सुन्दर पुरुष के प्रति आकृष्ट होकर कुछ क्षणों के लिए कठोर आत्म-नियंत्रण भूल जाती हैं, और आकर्षण-भावना को प्रकट करनेवाली सूक्ष्म चेष्टाएँ करने लगती हैं। काम-रूपेश्वर के हाथ में हाथ दिये कुमार अज ने भीतर के आँगन में प्रवेश किया, साथ ही उन्होंने मानो वहाँ की नारियों के मन में भी प्रवेश कर लिया। उस समय उसने रत्नों से संयुक्त, मधुपर्क आदि से मिश्रित पूजा का सामान और दो दुपट्टे "वनिताओं के कटाक्षों के साथ" ग्रहण किये।[४] अग्नि की वेदी के पास जब वर और वधू बैठे तो एक-दूसरे को देखने के लिए

४. रघुवंश, ७, १८।

उत्सुक उनके नेत्रों की पुतलियाँ बार-बार आँखों की कोरों की ओर जातीं और फिर लौट आतीं; उस समय उन्होंने लज्जा की यंत्रणा का अनुभव किया——

तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि॥
रघुवंश, ७, २३

कालिदास ने अज तथा इन्दुमति एवं शिव तथा पार्वती के विवाह-व्यापार का सरस वर्णन किया है। इन स्थलों में एकाध चित्र की पुनरावृत्ति भी हुई है। फिर भी यहाँ कवि के मनोविज्ञान एवं सौन्दर्य-बोध दोनों का मार्मिक प्रकाशन हुआ है। वर-रूप शिव ने पार्वती से ध्रुव देखने को कहा, जिसका प्रयोजन यह प्रतिज्ञा व आश्वासन है कि देखनेवाले का प्रेम ध्रुव की तरह अटल रहेगा। अपने मुख को ऊँचा करके लज्जा से सन्न हुए कंठ-वाली वधू ने किसी तरह कठिनाई से कहा——'देख लिया' अर्थात् मैंने ध्रुव का दर्शन कर लिया। इन स्थलों में भारतीय नारी का सांस्कृतिक सौन्दर्य भी पूर्णतया प्रस्फुटित हो सका है।

बलराम का उल्लेख करते हुए हमने कहा कि वे उद्दाम जीवन-संभोग के प्रतीक हैं। 'शिशुपालवध' के अनुशीलन से मन में यह छाप पड़ती है कि कवि की दृष्टि में बलराम उस समय की क्षत्रिय जाति के साधारण चरित्र को प्रतिफलित करते हैं। प्रायः कवि अतीत को अपने युग की आँखों से देखते हैं। यों तो महाभारत के क्षत्रिय योद्धाओं में तरह-तरह के चरित्र मिलेंगे, किन्तु महाभारतकार ने अपने नायकों को प्रायः संयत एवं सौम्य चित्रित किया है। अवश्य ही क्रोध आदि के अवसर पर उनके चेहरों में विकार आते हैं, किन्तु इन विकारों के प्रत्यक्षीकरण का विशेष प्रयत्न महाभारत में नहीं हुआ है। पांडवों से भिन्न अथवा उनके विपक्षी राजाओं के प्रति महाभारत-कार का रुख स्पष्ट ही सहानुभूति-शून्य है, किन्तु इस मनोवृत्ति का प्रकाशन खास तौर से उनके शारीरिक चित्रण से सम्बद्ध नहीं किया गया है। इसके

विपरीत कवि माघ ने कुछ स्थलों में योद्धाओं के उन शारीरिक विकारों का, जो क्रोध विद्वेष-भावना आदि में उत्थित होते हैं, विशद वर्णन किया है। वस्तुतः, इस विशिष्ट दृष्टि से शिशुपालवध के पन्द्रह-सत्रह सर्ग स्वयं संस्कृत साहित्य में भी बेजोड़ हैं। लक्ष्य करने की बात यह है कि इस प्रकार के वर्णन दोनों ही पक्षों के योद्धाओं के दिये गये हैं, जिससे हमारी यह धारणा पुष्ट होती है कि उनका विषय क्षत्रिय जाति के सभी वीर सदस्य हैं, किसी एक पक्ष के योद्धा नहीं।

शिशुपाल-वध के चौदहवें सर्ग में यह दिखलाया गया है कि राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ पुरुष मानकर उनकी पूजा की। इस पूजा का समर्थन मुख्यतः भीष्म ने किया था। उक्त पूजन-व्यापार ने शिशुपाल में भयंकर प्रतिक्रिया उत्पन्न की। चेदिराज शिशुपाल कृष्ण के इस सम्मान को न सह सका, कारण यह कि मानियों का मन दूसरों की वृद्धि के प्रति असहिष्णु होता है। शिशुपाल को बड़ा क्रोध हुआ——

अभितर्जयन्निव समस्तनृपगणमसावकम्पयत्।
लोलमुकुटमणिरश्मि शनैरशनैः प्रकम्पितजगत्त्रयं शिरः॥
स निकामघर्मितमभीक्ष्णमधुवदवधूतराजकः।
क्षिप्तबहुलजलबिन्दु वपुः प्रलयार्णवोत्थित इवादिशूकरः॥
क्षणमाश्लिषद्घटितशैलशिखरकठिनांसमण्डनः।
स्तम्भमुपहितविधूतिमसावधिकावधूनितसमस्तसंसदम्॥
अतिरक्तभावमुपगम्य कृतमतिरमुष्य साहसे।
दृष्टिरगणितभयासिलतामवलम्बते स्म समया सखीमिव॥

शिशुपालवध, १५।३, ५, ६, ९

'समस्त राजाओं की तर्जना-सी करते हुए उसने अपने सिर को कँपाया, जिससे तीनों जगत् काँपने लगे——वह सिर जिसकी मुकुटमणि की रश्मियाँ चंचल हो रही थीं। सारे राजाओं को अपने तेज से अभिभूत करता हुआ वह अपने पसीने-युक्त शरीर को कंपायमान करने लगा। उस समय वह प्रलय

समुद्र से उत्थित आदिवराह के समान, जिनके शरीर पर बहुत से जलबिन्दु पड़े हुए थे, दिखाई दिया। क्षण भर को उसने अपने शैलशिला के समान कठोर कंधे से सभास्तम्भ को ताड़ित किया; वह स्तम्भ काँपने लगा, जिससे सारी सभा काँप उठी। उसका मुखमंडल क्रोध से लाल हो गया था, वह भयंकर साहस का कार्य करना चाहता था, अतः उसकी निर्भीक दृष्टि समीप की तलवार पर पहुँच गयी, मानो अनुरागवश अपनी सखी पर पहुँच गयी हो।'

इसके बाद शिशुपाल ने युधिष्ठिर, भीष्म आदि की भर्त्सना करते हुए बहुत-सी बातें कहीं, जिनके उत्तर में भीष्म ने सब विरोधी राजाओं को चुनौती दे डाली। उस चुनौती से शिशुपाल के साथी राजाओं के चेहरे शरीर पुनः क्रोध से विकृत हो उठे। एक-एक राजा का नाम लेकर कवि ने इन विकृतियों का वर्णन किया है। बाणासुर की आँखें लाल हो गयीं और ब्रह्माण्ड को भयभीत बनाता हुआ उसका मुख कीलयुक्त (कीलाकार छाया सहित, परिधियुक्त) सूर्यमंडल के समान दीप्त हो उठा। द्रुम नाम का दैत्य, जो प्रभात के सूर्य के समान ताम्रवर्ण था और जिसके प्रफुल्ल कुसुम-जैसे नेत्र क्रोध से विशेष लाल हो रहे थे, अपने तेज से दीपित हुआ विषज द्रुम-सा (वृक्ष-विशेष जिसका रंग लाल होता है) दिखाई दिया। उत्तमौजा नाम का राजा कुछ कहना चाहता था, उसकी सफेद दन्तपंक्ति चमक रही थी, उस समय ऐसा जान पड़ा कि उसके राहु के समान विकृत मुख ने चन्द्रमा का ग्रास कर लिया है। दन्तवक्त्र ने जोर से अट्टहास किया, जिसकी ध्वनि बिजली से दलित होनेवाले शैलतट के समान थी (इस अट्टहास ने सूचित किया कि वह विशेष क्रुद्ध है)।[५]

शिशुपाल के घोर अपमान-भरे सन्देश को सुनकर यदुवंशियों की सभा में भी इसी प्रकार क्षोभ उत्पन्न हुआ। नितान्त अवज्ञा के भाव से बलराम जोर से हँस पड़े। उस समय चारों ओर फैलती हुई दशन-कान्ति ने क्रोध से लाल हुए उनके शरीर को फिर पहले की भाँति श्वेत बना दिया। प्रद्युम्न

५. शिशुपालवध, १५।४८–४९, ५१–५२।

रूप कामदेव के क्रोध-भरे चेहरे को देखना कठिन काम था। उस समय शरसहित वे ऐसे भयंकर हो रहे थे कि उन्हें स्वयं शिव भी उस तीसरे नेत्र से, जिसने पहले अनंग-दहन किया था, देखने का साहस नहीं कर सकते थे। लताओं-जैसी बड़ी भुजाओंवाले विदूरथ नाम के राजा ने बोलने की इच्छा से अपने बड़े मुख को, जिसमें मोटी बड़ी जीभ चल रही थी, खोला; जान पड़ा मानो पेड़ के कोटर में फणवाला साँप चलायमान है (मुखरूपी कोटर में जीभ साँप के फन की भाँति हिल रही थी)। शीघ्र ही स्वभावतः सुन्दर किन्तु संग्राम में भयंकर दीखनेवाले कृष्ण के पास उनके शस्त्र आकर उपस्थित हो गये और युद्ध के लिए सेना सजने लगी। विशालकाय हाथी चिंघाड़ने लगे, बड़े-बड़े पटह बाजे ध्वनित होने लगे, जीतनेवाले घोड़े हिनहिनाने लगे। उस समय लग रहा था कि भयंकर शब्द से आकाश फट जायगा।[६]

कवि माघ ने योद्धाओं के ये चित्र बड़े परिश्रम से सँवारकर उपस्थित किये हैं। युद्ध की उत्तेजना में भयंकर दिखाई देने लगना वीरों का श्रृंगार है, स्वयं कृष्ण भी, जो स्वभावतः सुन्दर हैं, युद्ध में भीषण दिखाई देने लगते हैं। महाकवि कालिदास ने अपने प्रिय नायकों का ऐसा चित्रण कहीं नहीं किया है—यद्यपि उन्होंने रघु, अज आदि के युद्धों का संक्षिप्त उल्लेख किया है। यहाँ एक बात लक्ष्य करने की है। रामायण-महाभारत में पाये जानेवाले अद्भुत युद्धों के वर्णन मानवीय दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखते। इसके विपरीत माघ कवि ने उत्तेजित वीरों के जो चित्र खींचे हैं वे पूर्णतया मानवीय हैं। काव्य-साहित्य में पाये जानेवाले वर्णन वहीं तक महत्त्वपूर्ण होते हैं जहाँ तक वे जीवन के यथार्थ को प्रतिफलित करते हैं। इस महत्त्वपूर्ण कसौटी के अनुसार उत्कर्षकाल के काव्य रामायण-महाभारत से निश्चय ही बाजी मार ले जाते हैं।

कालिदास को जीवन के भयंकर पक्षों में रुचि नहीं है; वे युद्ध के दृश्य में भी श्रृंगारिक सौन्दर्य खोज लेते हैं और इस प्रकार युद्ध की भीषणता को

६. वही, १७।४, १०, १७, २६, ३१।

सुन्दरता का पुट देते हैं। राम के द्वारा किये गये ताड़का के वध को कवि ने एक श्रृंगारी रूपक में बाँधने की कोशिश की है––

रामन्मथशरेण ताडिता दु:सहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा॥

रघुवंश, ११, २०

'राम-रूपी कामदेव के कठिन बाण से हृदय में ताड़ित होकर राक्षसी ताड़का, गन्धभरे रुधिररूप चन्दन से चर्चित, जीवितेश (प्रियतम अथवा यम) के स्थान को चली गयी।' (ध्वनि यह है कि वह काम-विवश रमणी की भाँति जीवितेश से मिलने गयी।) कालिदास ने भी अपने राजा नायकों की रजोगुणी प्रकृति का उद्घाटन किया है, किन्तु यह उद्घाटन मुख्यतः श्रृंगार के संदर्भ में हुआ है। कालिदास की सौन्दर्य-संवेदना में हम एक दूसरा तत्त्व भी पाते हैं, उन्हें ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति में प्रतिफलित होनेवाले सौन्दर्य में भी पूरी अभिरुचि है। संस्कृत में सौन्दर्य का एक पर्याय श्री भी है, कालिदास को (और कवि माघ को भी) ऐश्वर्य-रूप श्री या शोभा निश्चित रूप में आकृष्ट करती है। रघुवंश के इन्दुमती-स्वयंवर प्रकरण में इस कोटि के सौन्दर्य की सुन्दर विवृति हुई है। राजा भोज के द्वारा निर्दिष्ट ऊँचे मंच पर कुमार अज सीढ़ियों से चढ़कर वैसे ही पहुँच गये जैसे शिलाओं से रचित सोपानों पर चढ़ता हुआ सिंहशावक पर्वत के शिखर पर पहुँच जाता है। उस रत्नजटित आसन पर सुन्दर रंगों का बिछावन था, उस पर बैठकर कुमार वैसे ही शोभित हुए जैसे कि मयूर की पीठ का आश्रय लेनेवाले स्कन्द। दूसरे राजा भी इसी प्रकार मनोज्ञ वेष बनाये बैठे थे। उस समय––

तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पंक्तिषु विद्युतेव॥

रघुवंश, ६।५

'उन राजाओं की पंक्तियों में श्री का देदीप्यमान रूप-सौन्दर्य मानो सैकड़ों

टुकड़ों में बँटकर चमक रहा था, जैसे बादलों की पंक्तियों में अपने को बाँटकर बिजली चमकती है।'

ऐश्वर्य शोभाशाली होता है; यह चेतना भारवि और माघ में भी विकसित रूप में पायी जाती है। किरातार्जुनीय के पहले सर्ग में द्रौपदी चुभते हुए शब्दों में युधिष्ठिर को उनके खोये हुए ऐश्वर्य की याद दिलाती है—

पुराधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः॥
पुरोपनीतं नृप रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः॥
अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम्॥
किरातार्जुनीय, १।३८, ३९, ४०

'पहले आप कीमती पलँग पर सोते थे और बन्दी-भाटों की स्तुतियों एवं मङ्गल-गीतों से जगाये जाते थे; और अब कुश आदि कठोर घास से आच्छादित पृथ्वी पर सोते हैं और स्यारिनों की अमङ्गलमय आवाजों से जागते हैं। राजन्! पहले आपका यह शरीर द्विजातियों को खिलाकर बचे हुए अन्न से सुन्दर पुष्टि को प्राप्त हुआ था, अब आप बनैले फलों को खाकर गुजर करते हैं, जिससे आपका शरीर और यश दोनों क्रमशः क्षीण होते जाते हैं। आपके जो चरण पहले मणिजटित चौकी पर स्थित होकर नमस्कार करते हुए राजाओं की शिरो-मालाओं की रज से रञ्जित होते थे, वे अब वन में पशु-पक्षियों द्वारा कुतरी हुई कुश-घास पर रखे जाते हैं।'

माघ ने इन्द्रप्रस्थ में कृष्ण के प्रवेश का और सवारी में बैठकर ठाट-बाट से युधिष्ठिर आदि के साथ जाने का बड़ा प्रभावशाली वर्णन किया है। भीमसेन उनका चँवर डुला रहे थे और अर्जुन उनका छत्र उठाये हुए थे, नकुल तथा सहदेव उनके पीछे चल रहे थे। दोनों ओर की सम्मिलित

सेनाएँ उनके साथ चल रही थीं और देवता लोग विमानों में आकर उन्हें देख रहे थे।[७]

सांस्कृतिक सौन्दर्य

कुछ पहले हमने सांस्कृतिक सौन्दर्य का उल्लेख किया था। नर-नारियों के कुछ व्यापार संस्कृति-विशेष की पृष्ठभूमि में विशेष रूप से मनोज्ञ जान पड़ते हैं। यों लज्जा नारी का सार्वभौम स्वभाव है, फिर भी प्राचीन भारतीय नारी में यह विशेषता कुछ अधिक प्रस्फुट रही है। विवाह के अवसर पर वर को देखने भर के लिए जैसी कठिनाई इन्दुमती ने महसूस की, वैसी आज की यूरोपीय या अमरीकी नारी नहीं करती। आधुनिक भारत की शिक्षित युवती भी उतनी लज्जा का अनुभव नहीं करती।

भारतीय संस्कृति में मातृत्व का भी गौरवपूर्ण स्थान रहा। संभवतः इसका एक कारण यह था कि प्राचीन आर्य संतान के लिए बड़े चिंतित रहते थे। प्राचीन भारत में संतान सौभाग्य का चिह्न तो मानी ही जाती थी, यह भी समझा जाता था कि उसका, विशेषतः पुत्र का, धार्मिक महत्त्व है। संतान उत्पन्न करके ही पितृ-ऋण से उद्धार पाया जा सकता है; यही नहीं, पुत्रहीन व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। पुत्र अपने माता-पिता को एक विशेष नरक की प्राप्ति से बचाता है, ऐसा समझा जाता था।

संस्कृत काव्यों में नायक राजाओं के सामने अक्सर पुत्र-प्राप्ति की समस्या आ जाती है। दिलीप, रघु, दशरथ सबके सामने यह अवस्था उपस्थित हुई थी। बहुत-से प्रयत्नों के बाद जब किसी राजमहिषी को गर्भ रहेगा तो स्पष्ट ही वह एक महत्त्वपूर्ण घटना समझी जायगी। फलतः कालिदास ने दिलीप-पत्नी सुदक्षिणा के गर्भवती हो जाने पर उसमें आये

७. शिशुपालवध, १३।२०, २१, २३।

हुए शारीरिक परिवर्तनों का रसात्मक वर्णन किया है। गर्भ से शरीर भारी हो जाने पर सुदक्षिणा ने गहने पहनना कम कर दिया और उसका मुख पीला पड़ गया। उस दशा में वह ऐसे ही शोभित हुई जैसे सुबह थोड़े से तारोंवाली रात फीके चन्द्रमा से शोभित होती है। मिट्टी की गंधवाले उसके शरीर को एकान्त में सूँघते हुए दिलीप को तृप्ति नहीं होती थी। और--

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम्॥
रघुवंश ३।८

'दिनों के बीतने पर रानी के, स्थूलता में बढ़े हुए, नीले चूचुकोंवाले स्तन भ्रमरयुक्त कमलकोषों से भी अधिक सुन्दर दीखने लगे।' आगे कवि ने शिशु राम को उत्पन्न करके दुर्बल दीखनेवाली कौशल्या का वर्णन किया है। शैया पर पास लेटे हुए राम से कृश उदरवाली कौशल्या वैसे ही शोभित हुई जैसे शरद ऋतु में थोड़े जलवाली गंगा तट-देश में खिले कमलों से शोभायमान होती है--

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा॥ रघुवंश १०।६९

हमने कहा कि जीवन की कुछ स्थितियों का सौन्दर्य संस्कृति-विशेष का सापेक्ष होता है। इस संकृति का संबंध देश की स्थिति से भी रहता है। आज के भारत में, जब कि जन-संख्या की समस्या विकट रूप में उपस्थित है, संभवतः एक शिशु के उत्पन्न होने की घटना हमें उतनी महत्त्वपूर्ण दिखाई नहीं देगी; फिर भी, मानव-जाति के सार्वकालिक अस्तित्व का विचार करते हुए, हम मातृत्व के गौरव से इन्कार नहीं कर सकते। इस दृष्टि से उक्त गौरव की स्वीकृति केवल भारतीय संस्कृति का एक स्थानीय पक्षपात ही नहीं है। यह लक्ष्य करने की बात है कि ईसाई संस्कृति से प्रभावित

यूरोप में भी शिशु ईसा और उनकी माता के संबंध को लेकर सैकड़ों महत्त्व-पूर्ण चित्र अंकित किये गये हैं जो लंदन, पेरिस आदि के संग्रहालयों में देखे जा सकते हैं। यहाँ हम कहना चाहते हैं कि किसी भी प्रौढ़ संस्कृति का सौन्दर्य-बोध केवल एक देश या जाति की संपत्ति नहीं होता; उसका दूसरी जातियों के लिए भी अर्थ व महत्त्व होता है। जो जाति वस्तुतः उन्नत है, उसका सौन्दर्य-बोध भी विकसित कोटि का होगा और जो सौन्दर्य-बोध जितना ही समुन्नत व विकसित है, वह उसी हद तक सार्वभौम भी समझा जा सकेगा। एक जाति जहाँ तक अपने सौन्दर्य-बोध तथा नीति-बोध को सचमुच समुन्नत बनाती है, वहाँ तक वह मानो समस्त मानव-जाति की प्रतिनिधि के रूप में, संसार के समस्त रसिक जनों के लिए, सार्थक सौन्दर्य का साक्षात्कार एवं प्रकाशन करती है। यही कारण है कि एक देश के सहृदय पाठक दूसरे देशों के अच्छे साहित्य में रस ले पाते हैं—कालिदास की कविता यूरोपीय पंडितों को रसदायिनी लगती है, और गेटे तथा शेक्स-पियर की कृतियाँ भारतीय साहित्यप्रेमियों का मन मोहती हैं। यह स्थिति किसी संस्कृति की सार्वभौमता और उसके सार्वकालिक महत्त्व का प्रमाण एवं प्रतिमान भी मानी जा सकती है।

प्रश्न है, क्या विभिन्न देशों में संस्कृत व्यक्तित्व के अलग-अलग रूप कल्पित किये गये हैं, अथवा उन कल्पित रूपों में समानता भी है? हमारी आस्था है कि सांस्कृतिक दृष्टि से समुन्नत विभिन्न जातियाँ जहाँ कुछ बातों में एक-दूसरी से भिन्न होती हैं, वहाँ उनमें अनेक समानताएँ भी रहती हैं। उदाहरण के लिए प्राचीन यूनानी जाति में नैतिक दृष्टि से अच्छे समझे जाने वाले व्यक्तित्व के चार आवश्यक गुण माने जाते थे; विवेकशीलता (विज़डम), साहस (करेज), संयम (टेम्परेन्स) और न्याय-भावना। प्रायः ये सभी गुण हमारे यहाँ भी स्वीकृत सद्‌गुण माने जाते हैं। संयम अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखने और बुद्धि अर्थात् ज्ञान का उल्लेख मनु ने धर्म के दस लक्षणों में किया है, जिसे न्याय की भावना (जस्टिस) कहते हैं वह तो धर्म का निजी रूप ही है। कायरता सभी की दृष्टि में एक दुर्गुण है। इसी प्रकार ईसाई धर्म

ने जिन सद्गुणों को गौरवपूर्ण माना है वे भारतीय धर्म-चेतना के बहिर्भूत नहीं है।

वाणी-सौन्दर्य

किन्तु हम सौन्दर्य की बात कर रहे थे। व्यक्तित्व को सुन्दर बनानेवाली विशेषताओं में सुसंस्कृत वाणी का विशेष स्थान है। 'कुमार संभव' में पार्वती और उसके पिता हिमालय पर्वत के संबंध में लिखा है——

संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च।

अर्थात् 'जैसे संस्कारवती वाणी से विद्वान् व्यक्ति पवित्र एवं अलंकृत होता है, वैसे ही पार्वती से उनके पिता हिमवान् पूत तथा अलंकृत हुए।' कालिदास ने जगह-जगह संस्कृत वाणी के सौन्दर्य का उल्लेख किया है। देवताओं की स्तुति के बाद विष्णु ने किस ढंग से उन्हें उत्तर दिया, इसका वर्णन कालिदास के शब्दों में सुनिए——

पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थेव भारती॥
बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्वदनोद्गता।
निर्यातशेषा चरणाद् गङ्गेवोर्ध्वप्रवर्तिनी॥

रघुवंश, १०।३६, ३७

'उस प्राचीन कवि के मुख से निःसृत, समुचित स्थानों से उच्चरित शब्दोंवाली वाणी मानो फिर से संस्कृत होकर कृतार्थ हो गयी। भगवान् के मुख से निर्गत, दाँतों की चाँदनी से सहचरित सरस्वती वैसे ही शोभित हुई जैसे चरणों से निकलती हुई, कुछ निर्गत और कुछ रुकी हुई, ऊर्ध्वगामिनी गङ्गा।' कवि माघ ने भी बलराम तथा उद्धव से बातचीत करते हुए कृष्ण की शुद्ध उच्चरित वर्णोंवाली (शुद्धवर्णा) सरस्वती का संकेत किया है।

किन्तु वाणी का सौन्दर्य केवल उच्चारण में ही नहीं है, सुन्दर एवं

संस्कृत वाणी को अर्थपूर्ण भी होना चाहिए। संस्कृत कवियों में इस तथ्य की परिपूर्ण चेतना है। कवि भारवि ने कई स्थलों में अर्थवती वाणी को लक्षित करने का प्रयत्न किया है। दुर्योधन के राज्य-शासन के संबंध में सूचना लेकर जो वनेचर युधिष्ठिर के पास आया, उसकी बातचीत में कई विशेषताएँ थीं। उसमें सौष्ठव या शब्द-सौन्दर्य अथवा समुचित शब्दों का समावेश, शब्दों पर अधिकार था, और औदार्य (उदारता) अथवा अर्थ-संपत्ति भी थी। इसके अतिरिक्त वह 'विनिश्चित' अर्थवाली थी। इसका मतलब है कि वनेचर ने जो कुछ कहा वह प्रमाणिक एवं विश्वसनीय था।

युधिष्ठिर को दुर्योधन से अपना स्वत्व वापस लेने के लिए युद्ध करना चाहिए, इस उद्देश्य से पहले द्रौपदी ने और फिर भीमसेन ने उन्हें समझाया। दोनों के ही मन में जोश व असन्तोष था। भीमसेन को शान्तिपूर्वक समझाने की इच्छा रखते हुए युधिष्ठिर ने पहले उनके वक्तव्य की प्रशंसा की। उन्होंने कहा—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यपोहितं क्वचित्॥
उपपत्तिरुदाहृता बलाद् अनुमानेन न चागमः क्षतः।

किरातार्जुनीय, २।२७, २८

'विभिन्न पदों की स्पष्टता का त्याग नहीं किया गया, यह भी नहीं कि वक्तव्य में अर्थगौरव का समावेश नहीं हुआ; प्रत्येक वाक्य द्वारा कोई नयी बात कही गयी, तथापि उनके सम्बन्धनिर्वाह का पूरा ध्यान रखा गया। प्रबल युक्तियों का समावेश किया गया, फिर भी अनुमान अथवा तर्क द्वारा शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ।' कवि भारवि के भीमसेन एक भोजन-भट्ट संस्कारहीन पहलवान मात्र नहीं हैं; वे समझदार और शास्त्रवेत्ता हैं। उनकी बात का खंडन करने से पहले युधिष्ठिर यह आवश्यक समझते हैं कि उनके वक्तव्य की समुचित प्रशंसा की जाय।

संस्कृत-कवियों की दृष्टि में संस्कारसम्पन्न एवं अर्थवती वाणी व्यक्तित्व

का आभूषण है। इसका मतलब यह हुआ कि सुसंस्कृत व्यक्तित्व को विद्या-सम्पन्न होना चाहिए। व्यक्तित्व में एक दूसरी चीज है नैतिक उच्चता एवं साधुता। साधुता से तात्पर्य व्यक्तित्व की उस सदाशयता से है जो देन-लेन से संबंधित औचित्य की सीमा से ऊपर उठकर दूसरों के कल्याण में प्रवृत्त होती है। इस प्रकार की साधुता वीतराग तपस्वियों एवं संत प्रकृति के लोगों का गुण है। यह साधुता व्यक्तित्व को एक निराले सौन्दर्य से मंडित करती है; संस्कृत-कवि इस सौन्दर्य से भली-भाँति परिचित हैं। पांडवों ने तपस्वी व्यास को आते हुए देखा, उनके मुख पर सहज प्रसादभाव अथवा सौम्यता की सम्पूर्ण श्री (शोभा) प्रकट थी, जिससे वे अपरिचित जनों के चित्तों में भी स्नेह-मिश्रित श्रद्धा का भाव उत्पन्न कर रहे थे। उनकी छवि में एक अद्भुत शक्ति का समावेश था, जिसमें देखनेवालों के अंतःकरण को भी शान्तिपूर्ण बना देने की क्षमता थी। उनकी आँखों में अपूर्व माधुर्य एवं संपूर्ण विश्वास-वृत्ति प्रतिफलित थी, उनके विलोकन मात्र से लगता था मानो वे बातचीत कर चुके—

प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम्॥
अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम्।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसम्भाषमिवेक्षितेन॥

किरातार्जुनीय, ३।२, ३

रघुवंश के पहले सर्ग में कालिदास ने वसिष्ठ ऋषि के आश्रम का वर्णन किया है। आश्रम में निराकुल, सात्त्विक शोभा का वातावरण था, जहाँ पशु-पक्षी भी निर्भय, विश्वस्त और शान्त थे—

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः॥
सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम्॥

आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनाभूमिषु ॥
रघुवंश, १।५०, ५१, ५२

'उस आश्रम में ऋषिपत्नियों की संतान के समान हिरन कुटियों के दरवाजों को घेरे खड़े थे, इस आशा में, कि उन्हें जंगली धान में से अपना हिस्सा मिलेगा। पौधों को सींचने के बाद मुनिकन्याएँ वहाँ से हट गयीं थीं, ताकि क्यारियों से पानी पीनेवाले पक्षी विश्वास के साथ वहाँ आ जायँ। वहाँ पर्णशालाओं के आँगनों में (धूप में फैलाये हुए) तृणधान्य सन्ध्या के समय इकट्ठे कर दिये गये थे और बैठे हुए हिरन उन्हें खाकर जुगाली कर रहे थे।'

यहाँ आश्रम का दृश्य ही नहीं, अनुष्टुप छंद का सांगीतिक प्रवाह भी सात्त्विक सुषमा का वातावरण उत्पन्न करनेवाला है। 'शिशुपाल-वध' में इस कोटि के चित्र कहीं नहीं मिलते; कालिदास तथा भारवि की तुलना में वह कवि विशुद्ध रजोगुणी सौन्दर्य का उपासक जान पड़ता है।

प्रकृति-सौन्दर्य

हम जान बूझकर संस्कृत महाकाव्यों से संबंधित प्रकृति-सौन्दर्य के विषय को मानवीय जगत् के सौन्दर्योद्घाटन के बाद ले रहे हैं। कारण यह है कि संस्कृत काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य प्रायः मानव-जगत् से अलग प्रेक्षण व वर्णन का विषय नहीं है। वहाँ प्रकृति-सौन्दर्य का आकलन मुख्यतः मानवीय नायकों अथवा दूसरे प्राणियों की विहार-क्रीड़ा की पृष्ठभूमि के रूप में हुआ है। प्रकृति मुख्यतः उद्दीपन का कार्य करती है। संस्कृत काव्य का मनुष्य प्रकृति से विच्छिन्न नहीं है, उसी के आँगन में रहता हुआ वह जीवन की संभोग-सामग्री का उपयोग करता है। ऋतुओं का वर्णन शुरू करते हुए माघ ने भमिका में कहा है कि भगवान् कृष्ण रैवतक पर्वत पर रमण-क्रीड़ा करना चाहते थे, इसलिए पुष्प, फल आदि रूपवाली श्री ऋतुओं के साथ उनकी सेवा के लिए उपस्थित हो गयी। तात्पर्य यह कि प्रकृति का

पर्यवेक्षण और उसके दृश्यों में रस-ग्रहण मनुष्य के जीवन-संभोग के ही अंग हैं।

मनुष्य और प्रकृति एक-दूसरे से मिले हुए हैं, मनुष्य प्रकृति का भाग है। विशेषतः संस्कृत काव्य में नारी और प्रकृति एक-दूसरे से बहुत ज्यादा संपृक्त हैं। प्रकृति का उद्दीपन-कार्य नारी के साहचर्य से ही उत्पन्न होता है। दूसरे, संस्कृत कवि को, अथवा उसके नायक को, जहाँ प्रकृति रमणीय जान पड़ती है वहाँ वह प्रायः नारी-जैसी दिखाई देती है। संस्कृत कवि अक्सर प्रकृति की विभिन्न छवियों में नारीत्व का आरोप करते हैं। नारी और प्रकृति दोनों मिलकर मनुष्य की संभोगभावना को उत्तेजना व तृप्ति देते हैं। रघुवंश में राजाओं का वर्णन करती हुई सुनन्दा बार-बार इन्दुमती से कहती है कि वह राजा-विशेष के साथ प्रकृति की विशिष्ट रमणीय पीठिका में विहार करने को तैयार हो जाय––

अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु॥
अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु॥

रघुवंश, ६।३५, ५१

'हे केले के खंभे जैसे ऊरुवाली! क्या तुम्हारी यह इच्छा है कि इस राजा के साथ सिप्रा-नदी की तरंगों को छूकर आती हुई हवा से कँपाती हुई उद्यानों की पंक्ति में विहार करो?' 'वर्षा-ऋतु में गोवर्धन पर्वत की कन्दराओं में पानी की बूंदों से भीगे हुए, औषधियों की गंधवाले शिलातलों पर बैठकर मयूरों का नृत्य देखो।' नारी से संपर्कित होकर प्राकृतिक वस्तुएँ और भी उद्दीपक हो जाती हैं––

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम्।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः॥

रघुवंश, ९।२८

'ऋतु के साथ विकसित अशोक वृक्ष के नये फूल ही कामोद्दीपक नहीं थे; प्रियतमा के कानों में सजाये हुए पत्ते भी विलासी प्रेमियों की कामना को उद्दीप्त करते थे।' उद्दीपन एवं आकर्षण दोनों दृष्टियों से संस्कृत कवि प्रकृति तथा नारी को एक साथ रखकर देखते हैं। प्रायः नारी के अंगों के उपमान प्रकृति से लिये जाते हैं, प्रायः भौरों को, सखियों और प्रेमियों को रमणी तथा प्राकृतिक वस्तुओं में एक दूसरे की भ्रान्ति हो जाती है—

करौ धुनाना नवपल्लवाकृती वृथा कृथा मानिनि मा परिश्रमम्।
उपेयुषी कल्पलताभिशङ्कया कथं न्वितस्त्रस्यति षट्पदावलिः॥
सरोजपत्रे नु विलीनषट्पदे विलोलदृष्टेः स्विदमू विलोचने।
शिरोरुहाः स्विन्नतपक्ष्मसन्ततेर्द्विरेफवृन्दं नु निशब्दनिश्चलम्॥
अगूढहासस्फुटदन्तकेसरं मुखं स्विदेतद् विकसन्नु पङ्कजम्।
इति प्रलीनां नलिनीवने सखीं विदाम्बभूवुः सुचिरेण योषितः॥

किरातार्जुनीय, ८।७, ३५, ३६

'हे मानिनी! नये पल्लवों-जैसे हाथों को कँपाते हुए व्यर्थ परिश्रम मत करो, तुम्हें कल्पलता समझकर पास आयी हुई भ्रमरावली कहीं इस तरह थोड़े ही डरकर भाग जायगी!' 'ये भौरों से संयुक्त कमलपत्र हैं, अथवा चंचल दृष्टिवाली के नेत्र? ये झुकी हुई बरौनियोंवाली के केश हैं, अथवा शब्दहीन निश्चल भ्रमरवृन्द खिले हुए हास से दशनों-रूपी केसर को प्रकट करता हुआ यह मुख है अथवा विकासमान कमल? इस प्रकार कमलिनीवन में छिपी हुई सखी को स्त्रियाँ बड़ी कठिनाई से पहचान सकीं।'

नारी एवं प्रकृति की एकरूपता की यह भावना नारी-अङ्गों के उपमानों के विन्यास में भी प्रकट होती है। अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त ने शकुन्तला को देखकर उसका वर्णन करते हुए कहा—'किसलय-जैसे रङ्गवाला अधर है, कोमल शाखाओं का अनुकरण करनेवाली बाँहें हैं और अंग-अंग में फूलों-

जैसा लुभानेवाला यौवन गुँथा है।'[८] मुख की कमल से और केशों की भौंरों से उपमा कवियों को विशेष प्रिय है, किन्तु पुनरावृत्तियों के बावजूद वह कहीं-कहीं बड़ी नयी जान पड़ती है——

> तिरोहितान्तानि नितान्तमाकुलैरपां विगाहादलकैः प्रसारिभिः।
> ययर्वधूनां वदनानि तुल्यतां द्विरेफवृन्दान्तरितैः सरोरुहैः।।
>
> किरातार्जुनीय, ८।४७

'जल में नहाती हुई युवतियों के मुखमंडल इधर-उधर फैलती हुई अस्त-व्यस्त अलकों से अंशतः आवृत होकर भौंरों से आच्छन्न कमलों के समान दिखाई दिये।' मेघदूत में कालिदास ने भौंरों के उपमान का दूसरा ही उपयोग किया है; मेघ को देखकर कुतूहल से भरे दशपुर की वधुओं के कटाक्ष हिलते हुए श्वेत कुन्द-कुसुमों का पीछा कर रहे भौंरों की शोभा को चुराते प्रतीत होते हैं——

> कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषाम् आत्मबिम्बम्,
> पात्रीकुर्वन् दशपुरवधू-नेत्रकौतूहलानाम्।[९]

कालिदास की दृष्टि प्रकृति की मोहक छवियों में अक्सर नारीभाव का आरोप करती है——

> अभिनयान् परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा।
> अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि।।
> श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः।
> उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः।।
> शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः।
> विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहङ्गमाः।।
>
> रघुवंश, ९।३३, ३५, ३७

८. अभिज्ञानशाकुन्तल, अंक १, श्लोक १८; ९. मेघदूत, पूर्वमेघ ४७

'नयी कलियों से भरी आम की लता, जिसके कोमल पत्ते मलय-पवन द्वारा कम्पित हो रहे थे, ऐसी जान पड़ती थी मानो (नर्तकी की भाँति) अभिनय का अभ्यास कर रही हो; वह काम-क्रोध को जीतनेवालों का मन भी हर लेती थी। कानों को सुख देनेवाला भ्रमरों का गुञ्जन ही जिनके गीत थे, कोमल कुसुम ही जिनकी दन्तकान्ति थी, वे उपवन की लताएँ लय-पूर्वक गतिमान् हाथों के समान पवन के आघात से हिलते हुए कोमल पत्तों से शोभित हुईं। गृहों के भीतर बनी हुई वापियाँ, जिनमें कमल खिल रहे थे और जलपक्षी मद से कल शब्द कर रहे थे, ऐसी शोभित हुई जैसे मुसकान से सुन्दर दीखनेवाली वे स्त्रियाँ, जिनकी कमर पर ढीली करधनियाँ बज रही हैं।'

हमने अब तक जो कहा उससे पाठक यह निष्कर्ष न निकालें कि संस्कृत कवियों को स्वयं प्रकृति में रुचि नहीं है, अथवा यह कि उनकी वह रुचि श्रृंगार-भावना की सहकारी मात्र है। वस्तुतः उनकी नारी तथा प्रकृति दोनों में दीखनेवाली अभिरुचि का एक ही स्रोत है—उनकी जीवन-संभोग की वृत्ति। उनकी मनोवृत्ति में उस अवकाश-भावना का समावेश है जो सौन्दर्य के सतर्क एवं सूक्ष्म निरीक्षण और उस निरीक्षण में रस लेने के लिए अपेक्षित है। यह कथन भी कि संस्कृत कवियों ने प्रकृति को मुख्यतः श्रृंगार-भावना के उद्दीपन व पोषण के उपकरण के रूप में देखा है, उनकी सौन्दर्य-दृष्टि के संबंध में पूरा सत्य नहीं है। कुछ स्थलों में प्रकृति का सौन्दर्य शान्त रस का उद्रेक व पुष्टि भी करता है। साथ ही यह भी सही है कि संस्कृत कवि कभी-कभी प्रकृति के मनोरम चित्रों का विधान सिर्फ चित्रण के आनन्द के लिए भी करते हैं। ऐसी स्थिति में उनका इधर के रोमांटिक एवं छायावादी कवियों से मुख्य भेद यह रह जाता है कि जहाँ इधर के कवि प्रकृति में अक्सर किसी परा सत्ता की छाया देखते या देखने का दावा करते हैं, वहाँ संस्कृत कवियों को उसमें अक्सर नारीत्व तथा उससे संबद्ध हाव-भावों की ही अभिव्यक्ति दिखाई देती है। इटली के प्रसिद्ध विचारक क्रोचे के मत में सौन्दर्य का अन्यतम आधार संवेद्य चित्र या चित्रण की परिपूर्णता है। इस कसौटी पर जाँचने पर

संस्कृत काव्य के प्रकृति-वर्णन निश्चय ही उच्चकोटि के जान पड़ेंगे। विशेषतः माघ के शिशुपाल-वध में सन्ध्या, सूर्योदय आदि से संबंधित अनेक चित्र केवल चित्रण के लिए सन्निवेशित किये गये हैं। कवि ने नवें सर्ग में सन्ध्या तथा चन्द्रोदय का और ग्यारहवें सर्ग में प्रभात तथा सूर्योदय का नितान्त मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया है। नवम सर्ग के कुछ पद्य देखिए,—

गतवत्यराजत जपाकुसुमस्तवकद्युतौ दिनकरेऽवनतिम्।
बहलानुरागकुरुविन्ददलप्रतिबद्धमध्यमिव दिग्वलयम्॥
द्रुतशातकुम्भनिभमंशुमतो वपुरर्धमग्नवपुषः पयसि।
रुरुचे विरिञ्चिनखभिन्नबृहज्जगदण्डकैकतरखण्डमिव॥
पतिते पतङ्गमृगराजि निजप्रतिबिम्बरोषित इवाम्बुनिधौ।
अथ नागयूथमलिनानि जगत्परितस्तमांसि परितस्तरिरे॥
किमलम्बताम्बरविलग्नमधः किमवर्धतोर्ध्वमवनीतलतः।
विससार तिर्यगथ दिग्भ्य इति प्रचुरीभवन्न निरधारि तमः॥

शिशुपालवध, ९।८, ९, १८, २०

'जपाकुसुम के गुच्छे के समान द्युतिवाला सूर्य जब नीचे लटक गया तो दिशाओं का मंडल ऐसे शोभित हुआ मानो उसके मध्य में घनी लालिमावाली पद्मराग मणि के टुकड़े टाँक दिये गये हों। तपाये हुए सुवर्ण जैसी कान्तिवाला सूर्य का वपु (मंडल) पानी में आधा डूबा हुआ ऐसे शोभित हुआ मानो ब्रह्मा के नखों से दो टुकड़े किये हुए विशाल ब्रह्मांड-गोले का एक खंड हो। सूर्य-रूपी सिंह मानो अपने प्रतिबिंब को देखकर समुद्र में कूद गया, तब गज-यूथों-जैसे मलिन अंधकार ने चारों ओर से संसार को ढक लिया। नितान्त घना होता हुआ अंधकार आकाश से लगा हुआ नीचे की ओर गिर रहा था, अथवा पृथ्वीतल से ऊपर की ओर बढ़ रहा था, या फिर दिशाओं से निकलता हुआ तिरछा फैल रहा था—कुछ समझ में नहीं आ रहा था।'

माघ का प्रभात-वर्णन संस्कृत-साहित्य में बेजोड़ है। कुछ चित्र देखिए,

अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा
बहुलमधुपमाला कज्जलेन्दीवराक्षी।

अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती
रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव ।।
विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः ।
कृतचपलविहंगालापकोलाहलाभि—
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ।।
उदयशिखरिश्रृङ्गप्राङ्गणेष्वेव रिङ्गन्
सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः ।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः
परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः ।।
परिणतमदिराभं भास्करेणांशुबाणै—
स्तिमिरकरिघटायाः सर्वदिक्षु क्षतायाः ।
रुधिरमिव वहन्त्यो भान्ति बालातपेन
छुरितमुभयरोधोवारितं वारि नद्यः ।।
शिशुपालवध, ११।४०, ४४, ४७, ४९

'रक्तवर्ण कमलश्रेणी ही जिसके सुन्दर हाथ-पैर हैं, जिसके इन्दीवर-नयनों में भौंरे काजल-जैसे दीखते हैं, ऐसी पूर्वसन्ध्या (उषा) हाल में ही उत्पन्न हुई कन्या के समान पक्षियों की आवाज में बातें करती हुई रजनी-रूपी जननी के पीछे दौड़ रही है। दिग्वधुएँ बड़े कलश-जैसे सूर्य को लम्बी-मोटी रस्सियों-जैसी किरणों से समुद्र के जल के बीच से खींच रही हैं; पक्षीगण जो बोल रहे हैं वही मानो कलश के खींचने का शब्द हो रहा है। उदयाचल के शिखररूप आँगन में रेंगता हुआ बालक सूर्य, जिसे हँसते हुए कमलमुखों से पद्मिनियाँ देख रही हैं, जिसके कोमल किरण रूप हाथ फैले हुए हैं, पक्षियों के शब्दों द्वारा पुकारती हुई मातारूप दिव् की गोद में खेलता हुआ गिर रहा है। सूर्य ने अपने किरण रूप बाणों से सब दिशाओं में फैली अंधकार जैसी गजघटा (हाथियों की पंक्ति) को घायल कर दिया। कोमल स्वर्णालोक से नदियाँ ऐसी शोभित होती हैं मानो दोनों

तटों के बीच पकायी हुई मदिरा-जैसे रङ्गवाले रुधिर को बहाकर ले जा रही हैं।'

ऊपर के वर्णनों में भारतीय सौन्दर्य-संवेदना की एक अपनी निजी विशेषता लक्षित होती है। भारतवर्ष एक विशाल देश है, यहाँ के कवि धरती व आकाश के विस्तार को देखने के अभ्यस्त थे। फलतः उनके लिए सौन्दर्य-चित्रण में विशालता का समावेश करना सहल हो गया है। अर्थात् उनकी चेतना सुन्दर का ही नहीं, उदात्त का भी अनायासित आकलन करती है। सूर्य की बड़े कलश तथा छोटे बालक से तुलना करना यह प्रकट करता है कि वे बड़े आकारवाली वस्तुओं के छोटेपन से भी सुपरिचित हैं। संस्कृत कवियों द्वारा प्रदर्शित हिमालय पर्वत के वर्णन उनकी आकार-सम्बन्धी विराट् की भावना को बड़ी सफलता से प्रतिफलित करते हैं। हिमालय का वर्णन कालिदास तथा भारवि दोनों ने किया है। शिशुपालवध में हम रैवतक पर्वत का वर्णन पाते हैं। हिमालय की ऊँचाई का आभास देने के लिए कालिदास ने एक अनोखे चित्र का सहारा लिया है—

सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान् परिवर्तमानः।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः॥

कुमारसंभव, १।१६

'सप्तर्षियों के हाथों द्वारा चुनने से बचे हुए, हिमालय पर्वत के शिखरों पर स्थित सरोवरों में उगनेवाले कमलों को नीचे परिक्रमा करता हुआ सूर्य ऊपर की ओर जानेवाली किरणों से खिलाता है।' मतलब यह कि हिमालय की चोटियाँ विशिष्ट अवसरों पर सूर्यमंडल से भी ऊँची जान पड़ती हैं। रैवतक का वर्णन करते हुए कवि माघ कहते हैं—

आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गाम्
आक्रम्य संस्थितमुदग्रविशालश्रृङ्गम्।
मूर्ध्नि स्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेनम्
उद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम्॥

शिशुपालवध, ४।१९

'विस्तृत दिशा-रूप अंबर को जो धारण किये हुए है, विशाल ऊँचे शिखरों वाला जो पृथ्वी को आक्रान्त करके स्थित है, जिसके सिर में चन्द्रमा की कला टँक रही है, उस पर्वतराज को देखकर किस भूमिवासी को विस्मय नहीं होता ?' भारवि ने हिमालय की विशालता का बोध बड़े चमत्कारिक ढंग से कराया है--

तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः ।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा ।।
किरातार्जुनीय, ५।२

'विशाल हिमालय पर्वत एक ओर सूर्यमंडल द्वारा आलोकित है और दूसरी ओर सदैव रात्रि के अंधकार से ढका रहता है। वह उन शिव के समान जान पड़ता है जो सामने की दिशा में अपने हास की किरणों द्वारा अंधकार को छिन्न कर रहे हैं और जिनके पीछे काला (अँधेरा) गजचर्म है।' यहाँ हिमालय की शिव से उपमा विशेष अर्थवती नहीं हो सकी है; वह प्रकाश तथा अंधकार के रंगों का प्रत्यक्षीकरण तो कराती है, किन्तु हिमालय की विशालता को अधिक मूर्त नहीं बनाती। माघ का निम्न पद्य इस दोष से मुक्त है—

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ।।
शिशुपालवध, ४।२०

'जब रस्सियों-जैसी विस्तृत-ऊँची किरणोंवाला सूर्य उदित होता और वैसी ही किरणोंवाला चन्द्रमा अस्त होता है, उस समय यह पर्वत उस गजराज के समान जान पड़ता है जिसके दोनों बाजुओं में रस्सियों से बँधे घण्टे लटक रहे हैं।' जिस पर्वतराज के दोनों ओर लटके सूर्य तथा चन्द्रमा हाथी की पीठ से लटकते घण्टों-जैसे क्षुद्र दिखाई देते हैं, उसकी विशालता का कठिनता से ही अनुमान हो सकता है। इस चमत्कारी पद्य के रचयिता कवि को 'घण्टा-माघ' के नाम से याद किया जाता है।

हमने देखा कि उत्कर्ष-काल के महाकवि मानव-जगत् एवं प्रकृति-जगत् दोनों के सौन्दर्योद्घाटन में सिद्धहस्त हैं। वे जीवन के संभोग-पक्ष की सहज रसज्ञता स्वीकार कर उसका वर्णन करते हैं। अगले अध्याय में जीवन के नीति-पक्ष एवं विवेक-पक्ष के प्रकाशन में भी हम उन्हें उतने ही जागरूक एवं कुशल पायेंगे।

तीसरा अध्याय

नीति-बोध और जीवन-विवेक

विषय-प्रवेश

नैतिक बोध तथा आचरण के दो पहलू हैं। जिन्हें हम नैतिक गुण कहते हैं उनमें से साहस, उदारता आदि कुछ गुण व्यक्तित्व को आदर व श्रद्धा का पात्र बनानेवाले होते हैं, दूसरी कोटि के नैतिक गुण हमारे सामाजिक व्यवहार में, हमारे तथा दूसरे नर-नारियों के पारस्परिक संबंधों में, प्रतिफलित होते हैं। राजाओं की नैतिक विशेषताएँ उनकी प्रजा के सुख-दुःख का कारण बन जाती हैं। तथाकथित सामाजिक नैतिक गुणों का एक और कार्य भी है—अपने आश्रयभूत व्यक्तित्व को विजय, ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति के योग्य बनाना। यों व्यापक दृष्टि से कहा जा सकता है कि मनुष्य के सभी नैतिक गुणों का प्रकाशन सामाजिक जीवन की परिधि में होता है; साहस, उदारता आदि की अभिव्यक्ति किसी अकेले जीवन में संभव नहीं है। नीति-बोध से तात्पर्य मानव व्यक्तित्व की उन विशेषताओं की चेतना है जो मनुष्य को कम-बढ़ सफल एवं आदृत सामाजिक व्यक्ति बनाती हैं।

मनुष्य समाज में रहता है, इसलिए हम उसके उन गुणों पर ध्यान देते हैं जो मनुष्यों के बीच उसकी भली-बुरी स्थिति का निर्धारण करते हैं। किन्तु मनुष्य का जीवन केवल समसामयिक समाज में समाप्त नहीं हो जाता। मनुष्य मानव-जाति के इतिहास की अपेक्षा में भी रहता है, और विश्व-ब्रह्मांड के विस्तार में भी उसकी एक सचेत स्थिति हो सकती है। तात्पर्य यह कि संवेदनशील मानव-व्यक्ति अपने जीवन की गति-विधि को इतिहास तथा ब्रह्मांड की पीठिका में भी आलोचित करता है। यह आलोचना उसे आशावादी या निराशावादी, भाग्यवादी या पुरुषार्थवादी और ऐसे ही

दूसरे सम्बद्ध मनोभावों से अनुप्राणित करती हुई उसमें जीवन के प्रति एक समग्र दृष्टि उत्पन्न करती है। इस दृष्टि को हम जीवन-विवेक कह सकते हैं।

एक विकसित मन-बुद्धि वाली जाति का नीतिबोध एवं जीवन-विवेक भी बहुमुखी, व्यापक एवं अनुभवानुमोदित होता है। विभिन्न जातियाँ अपने-अपने ऐतिहासिक जीवन तथा अनुभवों के आलोक में अलग-अलग नीतिबोध एवं जीवन-विवेक का प्रतिपादन व साक्षात्कार करती हैं। फिर भी, यदि मानव-प्रगति नाम की चीज का न्यूनाधिक सीमित एवं निश्चित अर्थ है, तो मानना पड़ेगा कि विभिन्न ऐसी जातियों के, जो इतिहास की दृष्टि से प्रगतिशील रही हैं, नीतिबोध एवं जीवन-विवेक के रूपों में कुछ-न-कुछ समानता रहनी चाहिए। इस वक्तव्य का एक निष्कर्ष यह भी है कि उक्त बोध तथा विवेक की दृष्टियों से विभिन्न जातियों में भिन्नता के लिए भी गुंजाइश है। दूसरे, चूँकि विभिन्न जातियों की प्रगति के रूपों में कुछ-न-कुछ समानता रहती है, इसलिए मानना चाहिए कि एक उन्नत जाति के बोध और विवेक से दूसरी जाति या जातियाँ लाभ उठा सकती हैं। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि प्रायः सभी उन्नत जातियों के प्रबुद्ध नेता व सदस्य ज्ञान तथा सदाचार को महत्त्व देते हैं; जीवन-संभोग के रूपों तथा प्रकारों में भी विश्व की समुन्नत जातियों में बहुत-सी समानताएँ ढूँढ़ी तथा पायी जा सकती हैं। प्रत्येक उन्नत जाति अपने ऐतिहासिक जीवन में कुछ गलतियाँ भी करती हैं, किन्तु यह जरूरी नहीं कि विभिन्न जातियाँ एक-सी गलतियाँ करें। फिर भी एक जाति दूसरी जाति क: प्रमाणित भूलों से उसी प्रकार सीख ले सकती है जैसे कि उसकी उपयोगी विशेषताओं से।

हमारे देश के साहित्य में रघु तथा राम के वंशजों का चरित्र मर्यादा-बोध का स्रोत रहा है। अपने 'रघुवंश' महाकाव्य में कालिदास ने जगह-जगह रघुवंशियों की नैतिक चर्या तथा नीतिबोध का विवरण दिया है। इस विवरण में कवि की सौन्दर्य-दृष्टि तथा लोकमंगल-दृष्टि, दोनों ही पूर्णतया प्रतिफलित होती हैं। कालिदास द्वारा दिये गये रघवंशी वीरों के चरित्रसंबंधी विवरण

एवं चित्र भारतीय नीति-बोध के उदात्त उदाहरण उपस्थित करते हैं महा-भारत के कथानकों को लेकर चलनेवाले महाकाव्य उक्त बोध को अपेक्षाकृत अधिक संघर्ष की भूमि व पीठिका में उद्घाटित करते हैं।

कालिदास के अनुसार नैतिक व्यक्तित्व

महाकवि कालिदास ने रघुवंशी वीर नायकों के नैतिक व्यक्तित्वों को अनेक स्थलों में वर्णित किया है रघुवंश के पहले सर्ग के प्रारंभ में उक्त वीरों का सामान्य परिचय दिया गया है—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ॥
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ।
त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ॥
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥

रघुवंश, १। ५, ६, ७, ८

'रघुवंश के वीर राजा जीवन भर शुद्ध रहते थे, वे तब तक किसी काम को करते थे जब तक उसका फल प्राप्त न हो जाय। वे विधिपूर्वक यज्ञ आदि करते थे, भिक्षुकों की कामनाएँ पूरी करते थे, अपराध के अनुपात में दण्ड देते थे और समय पर सोकर उठते थे, वे त्याग के लिए धन एकत्रित करते थे, सत्य के लिए मितभाषी बने रहते थे, यश के लिए विजय-कांक्षा करते थे और संतान के लिए विवाह। वे बाल्यावस्था में विद्या का अभ्यास करते थे और यौवनकाल में विषयों की इच्छा; वृद्धावस्था में वे मुनियों की भाँति आचरण करते थे और अंत में योग द्वारा शरीर त्यागते थे। कवि के इस वर्णन से स्पष्ट है कि रघुवंशी राजा वर्णाश्रम-व्यवस्था के आदर्श अनुगामी थे। इसके अतिरिक्त वे सक्षम कार्य-साधक भी थे।

राजा दिलीप का आकार क्षत्रिय धर्म की आवश्यकताओं के अनुरूप था। वे बड़े बलवान् तथा तेजस्वी थे। आकार के समान ही उनकी प्रज्ञा या बुद्धि थी, और प्रज्ञा के अनुरूप शास्त्र-ज्ञान। शास्त्रों के अनुकूल उनके कर्म थे और तदनुरूप उन्नति या अभ्युदय। उनमें भीम गुण (जैसे तेजस्विता) और कान्त गुण (जैसे प्रताप, ऐश्वर्य, अनुकम्पा आदि) दोनों स्थित थे; फलतः वे आश्रित लोगों के लिए वैसे ही अधृष्य (जिसके सामने धृष्टता न की जा सके) और अभिगम्य (आश्रय या शरण लेने योग्य) थे जैसे जल-जन्तुओं तथा रत्नों से समुद्र अनादर के अयोग्य तथा आश्रय लेने लायक होता है। सेना तो मुख्यतः उनकी शोभा के लिए थी, प्रयोजन-सिद्धि के उपकरण मुख्यतः दो ही थे—अकुंठित भाव से शास्त्रों में विचरण करनेवाली बुद्धि और धनुष पर चढ़ी हुई डोरी।

पाठक ध्यान दें, राजा दिलीप में केवल सुन्दर व कोमल गुण ही नहीं थे; उनमें वे कठोर विशेषताएँ भी थीं जो एक शासक को रोबीला एवं अनादर के अयोग्य बनाती हैं। वे शास्त्रों के जानकार भी थे—बहुश्रुत थे। मध्ययुग के महाराणा प्रताप-जैसे वीर-प्रकृति राजा विशिष्ट शास्त्रज्ञ नहीं थे।

राजा दिलीप राज्य-संबंधी मंत्रणाओं को गुप्त रखते थे, उनके इंगित व आकार भी गुप्त संकल्पों को प्रकट नहीं होने देते थे। उनके साम, दान आदि के प्रयोग अपने परिणाम से ही अनुमानित हो सकते थे—जैसे पिछले जन्म के संस्कार सिर्फ अनुमान से ही जाने जाते हैं। वे ज्ञान होते हुए भी मौन रहते थे, शक्ति रहते हुए क्षमा करते थे और आत्मप्रशंसा के बिना दान देते थे। वे विषयों से आकृष्ट नहीं होते थे और शास्त्रों के पारदर्शी विद्वान् थे, उनकी धर्म में रति थी; फलतः वृद्धावस्था के बिना भी वे वृद्ध थे। शिष्ट आदमी शत्रु होने पर भी उन्हें प्रिय था—जैसे रोगी को औषधि प्रिय होती है। दुष्ट व्यक्ति प्रिय अर्थात् संबंधी होने पर भी वैसे ही त्याज्य था जैसे सर्प से काटी हुई उँगली।[१]

१. रघुवंश, १।१५–१६, १९–२०, २२–२३, २८।

रघुपुत्र अज ने उस राज्य को, जिसे राजाओं के बेटे दुष्ट कर्मों द्वारा भी अपने अधीन करने का प्रयत्न करते हैं, इसलिए स्वीकार किया कि पिता की वैसी आज्ञा थी, भोग-तृष्णा से नहीं। दो चीजें दो शुभ वस्तुओं से सहचरित होकर विशेष शोभित हुईं; अज के साहचर्य से पिता से प्राप्त समृद्ध राजा का पद, और विनय से सहचरित अज का यौवन। प्रजाओं में प्रत्येक यही सोचता था कि राजा की दृष्टि में सबसे अधिक मान्यता मेरी ही है; जैसे समुद्र के निकट सैकड़ों नदियों में से किसी की अवमानना नहीं होती, वैसे ही अज की प्रजा का कोई सदस्य अपने को अवमानित नहीं समझता था। वह न तो कठोर ही था, न बहुत मृदु। मध्यम मार्ग का अवलंबन करके उसने दूसरे राजाओं को झुकाया तो, पर नष्ट नहीं किया--जैसे पवन वृक्षों को न उखाड़कर सिर्फ झुका देता है।[२]

नवम सर्ग में कवि ने दशरथ के स्वभाव, शील आदि का वर्णन किया है। राजा दशरथ काम करनेवालों को समय से पुरस्कृत करके उनके श्रम का अपहार कर देते थे। वे अभ्युदय की कामना रखते थे, फलतः शिकार, मदिरा और नवयौवनवाली प्रियतमा, कोई भी उन्हें उचित मार्ग से नहीं हटा सकता था। इन्द्र के सम्मुख भी वे दीन वाणी नहीं बोलते थे, परिहास में भी झूठ नहीं बोलते थे, और शत्रुओं के प्रति भी कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे। कुछ राजाओं ने उनसे अभ्युदय प्राप्त किया और कुछ ने अवनति व विनाश; वे आज्ञा का उल्लंघन न करनेवालों के सुहृद थे और उनके लिए, जो स्पर्धा से गरजते थे, नितान्त कठोर। यद्यपि महाराज दशरथ चक्रवर्ती सम्राट् थे, तथापि यह देखकर कि राज्यश्री थोड़े-से बहाने से छोड़कर चल देती है, वे आलस्यहीन एवं पूर्णतया जागरूक बन गये।[३]

यहाँ हमने कालिदास की उक्तियों के आधार पर रघुकुल के तीन राजाओं के चरित्र एवं स्वभाव का वर्णन किया। कालिदास की दृष्टि में

२. वही, ८।२, ६, ८, ९।

३. रघुवंश ९।३, ७, ८, ९,१५।

तीनों ही आदर्श शासक हैं। इन चरित्रों में आप दो-तीन बातें पायेंगे उनमें से किसी में राज्य का लोभ नहीं है, फिर भी वे विजय-लालसा से खाली नहीं हैं। उनमें से प्रत्येक साधारण राजाओं को अपनी मातहती में लाकर अपने चक्रवर्तित्व की घोषणा करना पसन्द करता है, किन्तु किसी के राज्य का विनाश उन्हें उद्दिष्ट नहीं है। उन्हें इसका भी भान है कि राज्य की रक्षा अनवरत जागरूकता एवं सावधानी की अपेक्षा करती है। आदर्श शासक के व्यक्तित्व में, विशेषतः यौवन-काल में, विनय व स्वाभिमान दोनों ही चाहिए। तात्पर्य यह कि श्रेष्ठ राजा का चरित्र आवश्यक मात्रा में रजोगुण तथा सत्त्वगुण दोनों से युक्त होता है। रघुवंशी राजा वीर होते थे, वे अपनी योग्यता तथा पुरुषार्थ से सारे देश पर विजय-पताका फहराते थे। विजय एवं समृद्धि के लिए उन्हें कूटनीति या प्रवंचन का सहारा नहीं लेना पड़ता था। रघु के संबंध में कवि ने लिखा है—

नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम्।
पूर्वं एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः॥ रघुवंश, ४। १०

'नीति-विशारदों ने रघु को सत् और असत्, धर्मयुद्ध तथा कूटयुद्ध, दोनों ही के रास्ते सुझाये, किन्तु उसने पहले को ही ग्रहण किया, दूसरे को नहीं।' यह एक आदर्श राजा की आदर्श परिस्थितियों में संभव हो सकता है। किन्तु सब राजा इतने शक्तिशाली नहीं होते कि शत्रुओं के समक्ष सदैव विजयी ही हों, और न सबके लिए यही संभव होता है कि सदैव आदर्शों का निर्वाह कर सकें। व्यक्तिगत जीवन एवं राजनीति दोनों में अक्सर कार्यकर्ताओं को भलाई-बुराई के बीच समझौता करना पड़ता है। सच यह है कि रघुवंश के उक्त राजाओं में किसी को असली संघर्ष नहीं करना पड़ा, फलतः उनके चरित्र-संबंधी वर्णनों में यथार्थ दृष्टि का उचित समावेश नहीं हो सका है। देखने की बात यह है कि आदर्श राजाओं का वर्णन करते हुए भी कालिदास यह संकेत करना नहीं भूलते कि उन राजाओं के चरित्रों में रजोगुणी प्रवृत्तियों का भी समावेश रहता है। दूसरी लक्ष्य करने की बात यह है कि भारतीय संस्कृति के

इस प्रतिनिधि गायक की दृष्टि प्रायः उन सभी गुणों पर पड़ जाती है जो व्यक्तित्व को कार्यक्षम एवं महत्त्वशाली बनानेवाले हैं। हमारा अनुमान है कि किसी भी सभ्य देश का कोई भी कवि आदर्श राजाओं के इससे अधिक सुन्दर चित्र नहीं खींच सकेगा। हमारा यह भी विश्वास है कि कालिदास के आदर्श शासकों के ये चित्र दूसरे देशों के साहित्य-प्रेमियों को भी रुचिकर एवं श्लाघ्य प्रतीत होंगे। वे चित्र इतने आदर्श नहीं हैं कि धरती के वास्तविक शासकों पर लागू ही न हो सकें, फिर भी वे विश्व के मुट्ठी भर शासकों के ही प्रतीक बन सकेंगे।

'किरातार्जुनीय' तथा 'शिशुपालवध' के कथानक महाभारत के संघर्षपूर्ण सन्दर्भों से लिये गये हैं, इसलिए वहाँ भारतीय नीतिज्ञों की यथार्थ दृष्टि के लिए ज्यादा अवकाश है। वास्तविक संघर्ष की भूमि में पहुँचने पर शासकों को अधिक यथार्थवादी बन जाना पड़ता है। शासकों में पाये जानेवाले गुण दो प्रकार के होते हैं; एक वे जो उनके मनुष्य-रूप को प्रकाशित करते हैं, और दूसरे वे जो उनके शासक-रूप पर रोशनी डालते हैं। कालिदास के विवरणों में उक्त दोनों कोटियों के गुणों का समुचित उल्लेख है। प्रथम कोटि के गुणों की चेतना भारवि तथा माघ में नहीं है, ऐसा नहीं; किन्तु उनकी वर्णना का मुख्य विषय शासकों की वे विशेषताएँ हैं जो उन्हें शक्ति तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए सक्षम बनाती हैं। इस प्रसंग में एक रोचक प्रश्न यह उठता है कि वैसी विशेषताओं में नैतिकता को कितना अवकाश है। अनिवार्य रूप में उक्त कवि यह दर्शित करते हैं कि अंशतः वे ही राजा सफल व विजयी होते हैं जो नीति तथा न्याय के मार्ग को नहीं छोड़ते। अंतिम विश्लेषण में नीति का रास्ता ही सफलता का रास्ता भी है।

किरातार्जुनीय में नैतिक आदर्श

'किरातार्जुनीय' में तीन स्थलों पर उन नैतिक आदर्शों का उल्लेख है जो विजयकांक्षी शासक के लिए आवश्यक होते हैं। अनिवार्य रूप में ये आदर्श शासक तथा दूसरों के विभिन्न संबंधों में प्रतिफलित होते हैं। ये दूसरे

व्यक्ति तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं--शासक के सेवक, उसके सहायक व मित्र तथा उसके शत्रु। नीति के इन प्रवचनों अथवा उल्लेखों में यह सर्वत्र मान लिया जाता है कि शासक का ध्येय विजय एवं ऐश्वर्य है।

किरातार्जुनीय के पहले सर्ग में युधिष्ठिर के द्वारा नियुक्त गुप्तचर, जिसे वनेचर की संज्ञा दी गयी है, दुर्योधन के राज्य का निरीक्षण करके लौटा हुआ वहाँ का समाचार देता है। दुर्योधन ने राज्य को बेईमानी से प्राप्त किया है, किन्तु अब वह उस राज्य को नीति से दृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। यद्यपि युधिष्ठिर वन में हैं, फिर भी दुर्योधन उनसे डरता रहता है। भय का कारण है यह आशंका कि कहीं अपने वीर भाइयों की मदद से युधिष्ठिर अपना राज्य वापस न ले लें। दुर्योधन स्वभाव से कुटिल है, तथापि वह चाहता है कि दुनिया की नजर में अपने को युधिष्ठिर से अधिक गुणवान् सिद्ध कर दे। वह गुण-संपत्ति से, गुणों की महिमा से, शुभ यश का विस्तार कर रहा है। उसने काम, क्रोध आदि छः दोषों को जीत लिया है और इस कोशिश में है कि मनु के द्वारा उपदेशित प्रजापालन की पद्धति को, जिसका आधार सदाचार है, प्राप्त कर ले। रात-दिन के समय का ठीक से विभाग करके, आलस्यहीन होकर, वह नीति के साथ पुरुषार्थ कर रहा है। वह अहंकार का परित्याग करके सेवकों से ऐसा व्यवहार करता है जैसे वे उसके स्नेही मित्र हों, सुहृद मित्रों का ऐसे सत्कार करता है जैसे वे उसके संबंधी हों और संबंधियों के प्रति ऐसा भाव प्रदर्शित करता है मानो वे ही राज्य के असली मालिक हों। उसका निश्छल मैत्री-प्रदर्शन दान से वर्जित नहीं होता और दान सत्कार से वर्जित नहीं होता। उसके सत्कार अथवा आदर-प्रदर्शन का आधार गुणों का अनुराग ही होता है। वह अपराधी को विहित ढंग से दण्डित करता है--फिर चाहे अपराधी शत्रु हो अथवा पुत्र; वह धर्म के लिए ही दण्ड देता है, न कि किसी लाभ के लिए अथवा क्रोध के वशीभूत होकर। अपने लोगों को चारों ओर रक्षा-कार्य में नियुक्त करके, मन में शंका रखते हुए भी, वह ऐसा भाव बनाता है जैसे उसे उन पर पूरा भरोसा है; और वह अपने सेवकों को प्रभूत संपत्ति

देकर उनके प्रति कृतज्ञताज्ञापन करता है। तेजस्वी तथा मनस्वी धनुर्धर, जिन्होंने युद्ध में कीर्ति पायी है, उसके द्वारा सदैव धन से सत्कृत होते रहते हैं। वे लोग भी निःस्वार्थ भाव से, स्वामी के हित के विरुद्ध न जाते हुए, प्राण देकर भी उसका भला करने का प्रयत्न करते हैं। अपने सच्चरित्र गुप्तचरों द्वारा वह दूसरे राजाओं के कार्यों को जान जाता है, इसके विपरीत स्वयं उसकी चेष्टाओं का ज्ञान उनसे प्राप्त होनेवाले महत्त्वपूर्ण फल से ही होता है। उसे इसकी जरूरत ही नहीं पड़ती कि डोरी चढ़ाकर अपने धनुष को उँचा करे; न कभी वह क्रोध से अपने मुख को ही कुटिल बनाता है; उसके गुणों के अनुराग से ही दूसरे राजा उसकी आज्ञा को माला की भाँति शिरोधार्य करते हैं।[४]

दुर्योधन स्वभावतः धार्मिक वृत्ति का शासक नहीं था, फिर भी वह दूसरे राजाओं तथा प्रजा के साथ बर्ताव में धार्मिक एवं सदाशय होने का अभिनय करने की कला जानता था। भारवि ने दुर्योधन को बदनाम करने के लिए इस स्थूल उपाय का आश्रय नहीं लिया कि उसके राज्य-शासन की बुराइयों की चर्चा कराये। इसके विपरीत कवि ने वनेचर द्वारा दुर्योधन की प्रशंसा कराकर युधिष्ठिर तथा उनके भाइयों के मन पर यह अंकित कराने की कोशिश की कि दुर्योधन एक कुशल नीतिवेत्ता है, जिसे पराजित करने के लिए पांडवों को विशेष प्रयत्न करना पड़ेगा। इस स्थिति के उल्लेख ने द्रौपदी तथा भीमसेन को विशेष चिंतित बना दिया। यदि दुर्योधन ने धीरे-धीरे अपने राज्य को सुदृढ़ एवं सुरक्षित बना लिया, तो फिर पांडवों की विजय की क्या संभावना रहेगी ? युधिष्ठिर को समझाते हुए द्रौपदी ने कहा कि दुर्योधन बहुत चालाक और मायावी है, यदि पांडवों ने उसके साथ चालाकी एवं कपट का व्यवहार नहीं किया तो वे पराजय को प्राप्त होंगे। जो मायावियों के साथ माया का व्यवहार नहीं करते उन्हें शठ लोग घुसकर वैसे ही नष्ट कर देते हैं जैसे कवच से अरक्षित शरीरवालों को तीक्ष्ण बाण। युधिष्ठिर ने उस राज्यश्री को, जो

४. किरातार्जुनीय, १।८–१०, १२–१४, १९–२१।

उन्हें पैतृक अधिकार से प्राप्त हुई थी, छिन जाने दिया––जैसे कोई अपनी कुलवधू को छिन जाने दे। कोई भी व्यक्ति, जिसे अपने वंश का अभिमान है, ऐसा नहीं होने देगा। मनस्वी, स्वाभिमानी लोग ऐसे गन्दे रास्ते पर नहीं चलते; आश्चर्य है कि ऐसी परिस्थितियों में युधिष्ठिर को क्रोध नहीं आता। जिस व्यक्ति में सफल क्रोध करने की क्षमता होती है और जो आपत्तियों से लड़ने की योग्यता रखता है, वह मनुष्यों को स्वतः ही वश में कर लेता है, लेकिन जिसे क्रोध ही नहीं आता––जो उपयुक्त अवसर पर क्रोध नहीं कर सकता––उसकी मित्रता और वैर दोनों ही निरर्थक होते हैं; मित्र उसका आदर नहीं करते और वैरी उसका भय नहीं मानते। यह नहीं कि दुःख और आपत्तियाँ अपने में बड़ा दुर्भाग्य होती हैं––

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्॥

किरातार्जुनीय, १।४१

'आपकी यह (शोचनीय) दशा शत्रुओं के कारण है, इसलिए वह मुझे विशेष कष्ट देती है। जिन मानी वीरों की शौर्य-संपत्ति शत्रुओं द्वारा निहत नहीं होती, उनकी विपत्ति भी उत्सव के ही समान है।' तात्पर्य यह कि विपत्ति अपने में उतनी गर्हणीय नहीं है, किन्तु शत्रुओं से प्राप्त होनेवाली पराजय व विपत्ति लज्जा की चीज है। आगे द्रौपदी ने कहा––

विहाय शान्तिं नृप धाम तत् पुनः प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः॥
पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम्।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त हता मनस्विता॥

किरातार्जुनीय १।४२, ४३

'हे राजन् शान्ति का परित्याग करके आप फिर शत्रुओं के विनाश के लिए अपनी पुरानी तेजस्विता को धारण करें। शान्ति द्वारा काम-क्रोध आदि

शत्रुओं को जीतकर निःस्पृह मुनि लोग सिद्धि को प्राप्त होते हैं, न कि राजा—राजा लोग अपने वैरियों को शम आदि के द्वारा नहीं जीत सकते। आप जैसे यशस्वी लोग, जो तेजवानों में अग्रगण्य हैं, शत्रुओं से इस प्रकार अवज्ञा पाकर यदि संतोष कर लेंगे तो फिर मनस्विता आश्रयहीन होकर खत्म ही हो जायगी—तब स्वाभिमान एवं आत्मगौरव की वृत्तियों के लिए जगह ही नहीं रह जायगी।'

द्रौपदी का समर्थन करते हुए भीमसेन ने युधिष्ठिर के सामने निम्न उद्‌गार प्रकट किये—

'इससे बढ़कर कष्ट की बात क्या होगी कि शत्रुओं द्वारा आप ऐसी निन्दनीय स्थिति में पहुँचा दिये गये हैं और आपका वह पौरुष, जिसका महत्त्व देवता भी स्वीकार करते हैं, निष्फल एवं नष्ट हुआ जा रहा है। समझदार लोग शत्रुओं के उस बड़े अभ्युदय को भी सहन कर लेते हैं जो क्षयोन्मुख है—जिसका अन्त विनाश है; किन्तु वे, जो अपनी उन्नति चाहते हैं, शत्रु के उस भारी क्षय की भी उपेक्षा नहीं करते, जो फल-संपत्ति अर्थात् अभ्युदय की ओर उन्मुख है। समझदार शासक तभी उपेक्षा बरतता है जब वह जानता है कि शीघ्र ही शत्रु की अवनति होगी और अपनी उन्नति; अन्यथा वह स्थिति का प्रतिकार करता है। जो शासक अनुत्साह के कारण शत्रु की बढ़ती हुई प्रभु-शक्ति की उपेक्षा करते हैं उनके पास से लक्ष्मी शीघ्र ही भाग जाती है—इस भय से कि लोग उस (लक्ष्मी) की यह कहकर निन्दा न करें कि वह घटिया पुरुष से अनुराग करती है। उस स्वाभिमानी मनुष्य के लिए, जो अभीष्ट ऊँचे पद पर आरूढ़ होना चाहता है, अनर्थ को हटाने में समर्थ पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ आलम्बन है। जो व्यक्ति पुरुषार्थी नहीं है उसे विपत्तियाँ घेर लेती हैं, विपत्ति से घिरे मनुष्य को सौभाग्य (सौभाग्यपूर्ण भविष्य) छोड़ देता है, वैसे व्यक्ति की लघुता निश्चित है, और जिसमें गरिमा नहीं है वह कभी राज्यश्री के योग्य नहीं होता। इसलिए अब उन्नति की शत्रु उद्योग-शून्यता को छुट्टी दीजिए; समृद्धि सदैव पराक्रम के साथ रहती है, न कि विषाद के। सिंह सदैव उन मदवर्षी हाथियों से तृप्त होता है जिनका उसने खुद शिकार किया है; अपने तेज से जगत् को अभिभूत करता हुआ महान् पुरुष दूसरों से

मिलनेवाली समृद्धि की कामना नहीं करता। वस्तुतः मनस्वी लोग, जो स्वाभिमान को ही परमधन समझते हैं और विनाशशीलप्राणों से स्थायी यश प्राप्त करना चाहते हैं, बिजली की चमक के समान चंचल लक्ष्मी की प्राप्ति को गौण ही मानते हैं। (तात्पर्य यह कि मनस्वी लोगों के लिए मान-रक्षा ही ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, धन-संपत्ति उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं।) दुनिया के लोग राख के ढेर पर ही पैर रखकर चलते हैं, जलती अग्नि पर नहीं। इसलिए मानी लोग अपने प्राणों को सुख से त्याग देते हैं, किन्तु तेज का परित्याग नहीं करते। इसलिए हे राजन्! प्रमादरूप अंधकार को हटाकर आप पुरुषार्थ करने का संकल्प कीजिए। निश्चय जानिए, आपकी उत्साहहीनता ने ही शत्रुओं की सारी विपत्तियों को खत्म कर दिया है।[5]

भारवि ने द्रौपदी, भीमसेन तथा युधिष्ठिर तीनों को नीतिज्ञों के रूप में उपस्थित किया है। द्रौपदी तथा भीमसेन ने राजनीति के जिन आदर्शों का संकेत किया है वे अयुक्त नहीं कहे जा सकते। राजा का ध्येय शक्ति तथा विजय व समृद्धि है। इसे युधिष्ठिर भी अस्वीकार नहीं करते। यदि वे इसे न मानते तो उनके तथा द्रौपदी और भीमसेन के बीच कोई सामान्य भूमि नहीं रह जाती; उस दशा में उनके बीच किसी प्रकार का विचार-विनिमय संभव नहीं होता। दोनों को उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने उनकी बातचीत के प्रेरक उद्देश्यों से मतभेद प्रकट नहीं किया,सिर्फ यह बतलाया कि अभीष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उनका निर्देशित रास्ता विशेष उचित नहीं है। आगे हम देखेंगे कि 'शिशुपालवध' के कथाप्रसंग में भी ठीक यही समस्या उपस्थित होती है। द्रौपदी तथा भीमसेन की बातचीत में जोश व उत्साह अधिक है, वे उत्साहपूर्ण प्रयत्न के प्रशंसक भी हैं। इसके विपरीत युधिष्ठिर सूक्ष्म विवेक-बुद्धि पर और सूक्ष्मतर नीति पर ज्यादा जोर देते हैं। भीमसेन को समझाते हुए युधिष्ठिर ने कहा—आपकी बुद्धिमानी से भरी बातों को सुनने के बाद अभी तक मैं निर्णय पर नहीं पहुँच पा रहा हूँ। बात यह है कि जहाँ एक ओर सन्धि-विग्रह

५. किरातार्जुनीय, २।७–१०, १४–१५, १८–२०, २२।

आदि सुगम जान पड़ते हैं, वहाँ उनके सूक्ष्म प्रभेद सरलता से समझ में नहीं आते। कोई काम जल्दी में नहीं करना चाहिए, अविवेक से बहुत-सी आपत्तियाँ आ खड़ी होती हैं। जो सोच-समझकर काम करता है उसके गुणों से लुब्ध होकर संपत्तियाँ स्वयं उसका वरण कर लेती हैं। जो धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हुए कार्यरूप बीजों को विवेक के जल से सींचता है, वही बाद में फल देनेवाली क्रिया का अनुष्ठाता बनता है––जैसे शरद् ऋतु में लोग धैर्यपूर्वक की हुई सिचाई से प्राप्त सस्य का लाभ उठाते हैं। श्रेष्ठ विद्या शरीर को अलंकृत करती है; क्रोध आदि पर नियंत्रण उस विद्या को अलंकृत करता है; उस नियंत्रण की शोभा पराक्रम से होती है; वह पराक्रम नीति द्वारा प्राप्त सफलता से भूषित होता है। विजयकांक्षी शासक क्रोध के वेग को जीतकर, यह हिसाब लगाकर कि अभीष्ट फल-सिद्धि प्रभूत ही नहीं, भविष्य में फलनेवाली भी होगी, पुरुषार्थ को अनुकूल उपाय के साथ जोड़ते हैं। जो अपना उदय चाहता है उसे पहले अपनी बुद्धि से क्रोधरूप अंधकार को हटा देना चाहिए; उदय होने से पहले सूर्य भी रात्रि के अंधकार का नाश करता है। मतलब यह कि विजय तथा प्रभावपूर्ण कर्म के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि मनुष्य क्रोध पर नियंत्रण करे। बलवान् होते हुए भी जो शासक क्रोध से उत्पन्न होनेवाले अंधकार को नहीं दबाता, वह क्षयपक्ष के चन्द्रमा के समान क्रमशः अपनी समस्त शक्ति-संपत्ति-रूपी कलाओं को नष्ट कर देता है। इसके विपरीत जो राजा समवृत्ति है और समय पर मृदुता तथा क्रोध को प्रकट करता है, वह अपने तेज से लोक को वैसे ही आक्रान्त कर लेता है जैसे कि सूर्य विश्व को अपने प्रकाश से। जो विद्या ग्रहण करने के बाद भी शरीर में उभरनेवाले क्रोध आदि शत्रुओं को नहीं दबाते, वे ही लक्ष्मी पर यह कलंक लगाते हैं कि वह चञ्चल है।[६]

आगे युधिष्ठिर ने समझाया कि दुर्योधन अहंकारी तथा दर्पयुक्त प्रकृति का है; ऐसे व्यक्ति में कार्य-अकार्य का ज्ञान नहीं होता और वह क्रमशः न्याय

६. वही, २।२९–३२, ३५–३८, ४१।

व नीति के मार्ग से हट ही जाता है। उस दशा में लोग अवश्य ही उसके प्रति विरक्त हो जाते हैं। मदोद्धत दुर्योधन राजाओं की इच्छाओं का उल्लंघन करता हुआ उन्हें ऐसा (रुष्ट) बना देगा कि वे हमारे द्वारा फोड़े जा सकें; साधारण लोग भी तिरस्कार नहीं सह सकते, फिर राजा तो लोक से कहीं अधिक तेजवाले होते हैं। अहंकारी लोग करने योग्य काम नहीं करते। उनकी विनय थोड़े समय के लिए ही उनके अहंकार को दबा देती है; ऐसे लोगों को मिलनेवाला ऐश्वर्य व शक्ति अवश्य ही उनके दर्प तथा मद में वृद्धि कर देते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि विनय-शून्य शत्रु की बढ़ती हुई उन्नति की उपेक्षा करे; इस बीच में वह व्यक्ति स्वयं ही सरलता से जेय बन जाता है; बात यह है कि विनय से वियुक्त संपत्ति अंत में विपत्ति का ही कारण होती है।[७]

यहाँ युधिष्ठिर की युक्तियों की दिशा बहुत साफ है। वे जानते हैं कि दुर्योधन स्वतः, भीतर से, भला नहीं है। वह घोर अहंकारी है। इस समय उसने भलमनसाहत का बाना पहन रखा है, किन्तु यह अभिनय बहुत दिनों तक नहीं चल सकता। अंत में अपने अहंकार तथा अविनय के द्वारा वह अवश्य ही साथी राजाओं को नाराज़ कर देगा। तब मौका होगा कि पांडव लोग दुर्योधन पर आक्रमण करें और उससे अपना राज्य वापस ले लें। पाठक देखें कि यहाँ युधिष्ठिर यह मानकर चल रहे हैं कि अंततः विनयी एवं समझदार व्यक्ति ही दूसरों को सहायक-रूप में साथ रख सकता है। अहंकारी तथा दुष्ट व्यक्ति स्थायी मैत्री के योग्य नहीं होता और इसलिए शीघ्र ही अपने सहायकों द्वारा परित्यक्त हो जाता है। सफलता तथा समृद्धि की प्राप्ति के लिए यह जरूरी है कि मनुष्य में कुछ नैतिक गुण हों और उसमें विवेक तथा विनयशीलता हो।

माघ का नैतिक आदर्श

शिशुपालवध में बलराम तथा उद्धव की वक्तृताओं के माध्यम से कवि

७. वही, २। ४७, ४८, ४९, ५२।

माघ ने भी कुछ ऐसी ही सीख देने का प्रयत्न किया है, किन्तु वहाँ, जहाँ बलराम की नीति निरपवाद स्वार्थ-साधन पर बल देती है, वहाँ उद्धव की वक्तृता में भी नैतिकता की उपादेयता का उच्च आश्वासन नहीं मिलता। इस दृष्टि से भारवि का नीतिबोध माघ की अपेक्षा अधिक उदात्त जान पड़ता है।

कृष्ण के सामने समस्या थी——रात-दिन अधिक सशक्त एवं उद्दंड होते हुए शिशुपाल का निग्रह पहले करें, या पहले युद्धिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित हों ? बलराम की राय थी कि पहले शत्रु को खत्म कर दिया जाय, इसके विपरीत उद्धव का सुझाव था कि प्रतीक्षा की जाय और युधिष्ठिर के समारोह को सफलता से संपन्न होने दिया जाय। दोनों के विमर्श एवं विचाराभिव्यक्ति की भूमि एक ही है, अर्थात् आत्म-हित का साधन करनेवाली राजनीति। बलराम ने कहा——मन्त्रणा द्वारा किये हुए विचार को, सब तरह से ढककर रखने की कोशिश करते हुए भी, गुप्त रखना कठिन होता है; शत्रु लोग उसका भेद ले ही लेते हैं——जैसे अधीर प्रकृति का योद्धा, अपने अंगों को ढके रहने के बावजूद, शत्रुओं द्वारा वेध दिया जाता है। नीति के सिर्फ दो मूल तत्त्व हैं, अपना उदय और शत्रु की हानि; इसे स्वीकार करके ही विद्वान् लोग अपनी वाणी का विस्तार करते हैं। बड़े लोग महान् ऐश्वर्य से भी तृप्त नहीं होते; पूर्णरूप से भरा होने पर भी समुद्र चन्द्रमा के उदय की इच्छा करता है जो थोड़ी-सी संपत्ति से अपने को स्वस्थ या संतुष्ट मानने लगता है, उसके संबंध में कहना चाहिए कि विधाता भी उसकी थोड़ी संपत्ति से कृतार्थता अनुभव करता हुआ उस संपत्ति में वृद्धि करना बन्द कर देता है। जो पराई अवज्ञा के दुःख से जला हुआ भी जीवित रहता है, उसका जीवन व्यर्थ ही है, माता को कष्ट देनेवाले ऐसे व्यक्ति का जन्म न लेना ही अच्छा था। पर्वत में सिर्फ ऊँचाई है और समुद्र में सिर्फ गहराई; मनस्वी पुरुष में ये दोनों गुण होते हैं, जिसके कारण कोई उसका उल्लंघन नहीं कर सकता।[८]

८. शिशुपालवध, २।२९–३२, ४५, ४८।

इस सन्दर्भ में बतलाया गया है कि कृष्ण तथा शिशुपाल का वैर एक-दूसरे के विरुद्ध कार्यों से हुआ है; ऐसे वैरी कभी एक-दूसरे को क्षमा नहीं करते। क्रोधयुक्त मनुष्य में वैर-भावना जगाकर जो लोग निश्चिन्त हो रहते हैं, वे उनकी तरह हैं जो घर में जलती आग डालकर हवा की ओर मुख करके सोते हैं।[९] तात्पर्य यह कि कृष्ण को तुरत ही शिशुपाल पर आक्रमण कर देना चाहिए। शिशुपाल से मित्रता व शान्ति की बात करना एकदम बेकार है; इससे उसका क्रोध वैसे ही और बढ़ेगा जैसे कि पानी की बूँदें डालने से गर्म घी और भी जलने लगता है।

बलराम के बाद उद्धव ने अपना मत प्रकट किया। उद्धव ने जिस नीति का संकेत किया उसमें युधिष्ठिर का ऊँचा आदर्शवाद दिखाई नहीं देता। उद्धव की दृष्टि पूर्णतया यथार्थवादी है। किन्तु वे बलराम की उच्छृंखल मनोवृत्ति का समर्थन नहीं करते। शासक की उन्नति प्रज्ञा तथा उत्साह दोनों पर निर्भर करती है, सिर्फ उत्साह पर नहीं। जयकांक्षी राजा को युक्तियुक्त बुद्धि का आश्रय लेना चाहिए। बुद्धि की चोट सूक्ष्म किन्तु तीक्ष्ण होती है; तीक्ष्ण बुद्धिवाले लोग बाण की भाँति थोड़े ही स्थल में छूते हुए भीतर घुस जाते हैं। इसके विपरीत स्थूल वस्तु अधिक धरातल को छूती है, किन्तु पत्थर की तरह बाहर ही रह जाती है। केवल उत्साह स्थूल वस्तु है। वह वास्तव में अल्पप्राणता का द्योतक होता है। विचारशून्य लोग छोटा-सा काम शुरू करते हैं और उसके लिए बहुत ज्यादा व्यग्र हो जाते हैं; इसके विपरीत बड़ी बुद्धिवाले व्यक्ति बड़े काम शुरू करते हैं और फिर भी निराकुल बने रहते हैं। समझदार राजा जानता है कि न केवल तेज से काम चलता है और न एकान्त क्षमा से——ठीक वैसे ही जैसे रसज्ञ कवि जानता है कि केवल ओज अथवा केवल प्रसाद गुण काफी नहीं है। शत्रुओं के अपकार करने पर भी समझदार राजा अपने क्रोध को प्रकट नहीं करता; वह समय आने पर, असाध्य रोग की भाँति, अपना जोर दिखलाता है। बुद्धिमान् राजा न अकेले

९. वही, २।४२, ५५।

दैव पर निर्भर करता है न केवल पुरुषार्थ पर; वह दोनों का ध्यान करता है, जैसे श्रेष्ठ कवि शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा करता है। बुद्धिशाली राजा कभी-कभी खुद कुछ किये बिना ही दूसरों द्वारा उत्पन्न की गयी स्थितियों को अपने लिए लाभकारी बना लेता है।[१०]

हमने कहा कि उद्धव की नीति में नैतिक आदर्शवाद का पुट नहीं है। इस संबंध में उन्होंने एक ही बात कही कि युधिष्ठिर के यज्ञ के अवसर पर कृष्ण के लिए यह उचित नहीं कि वे शिशुपाल से युद्ध शुरू करके पक्ष-विपक्ष के सारे राजाओं को आंदोलित कर दें; ऐसा करते हुए वे ही अजातशत्रु युधिष्ठिर के पहले शत्रु दिखाई पड़ेंगे,[११] जिससे पांडवों की सहानुभूति भी खो जायगी। स्पष्ट ही यह विचार किसी बहुत ऊँची नीति की ओर संकेत नहीं करता। इसी प्रकार कृष्ण को यह स्मरण दिलाना कि उन्होंने अपनी बुआ को शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा करने का आश्वासन दिया है, विशेष नैतिक महत्व नहीं रखता। उसका सिर्फ यही मतलब है कि श्रेष्ठ व्यक्ति को अपने वचन का पालन करना चाहिए।

कालिदास से माघ की नीतिचेतना तक पर्यटन करते हुए ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय नीति-बोध क्रमशः अधिकाधिक यथार्थवादी होता जा रहा था। रघुवंश में आदर्शवादी नीतिवाद का चरम उन्मेष है, जब कि शिशुपालवध में यथार्थवादी स्वर की प्रधानता है। कालक्रम की दृष्टि से ही नहीं, नैतिक संवेदना के विचार से भी, भारवि की स्थिति उक्त दोनों कवियों के बीच में है। किरातार्जुनीय में राजनीतिक यथार्थवाद तथा आदर्शवाद का सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। वहाँ युधिष्ठिर यह शिक्षा देते पाये जाते हैं कि शक्ति तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए भी यह अनिवार्य है कि शासक अपने में कतिपय नैतिक गुणों की प्रतिष्ठा करे। सामाजिक एवं वैयक्तिक कल्याण का ऐश्वर्य तथा शक्ति से विशेष संबंध है; इस संबंध की

१०. वही, २।७६–७९, ८३–८४, ८६, ९१।

११. वही, २।१०२।

अनिवार्यता के अनुपात में ही व्यक्ति तथा समाज के जीवन में नैतिक व्यवस्था की जरूरत है। संक्षेप में उत्कर्षकालीन भारतीय कवियों की, नीतिबोध के क्षेत्र में, यही महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

इस नीतिबोध को हम आदर्शवादी कह सकते हैं। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि नीति के भारतीय आचार्यों में यथार्थ दृष्टि का पर्याप्त पुट नहीं है। राजनीति तथा जीवननीति के क्षेत्र में यथार्थवाद के दो पहलू हैं; एक का संबंध जीवन के अन्वेषणीय साध्यों से है और दूसरे का साधनों से। लौकिक सुख के लिए शक्ति व संपत्ति जरूरी हैं यह अवगति उत्कर्षकाल के सभी विचारकों में पायी जाती है। स्वयं युधिष्ठिर भी इसका अपवाद नहीं हैं। द्रौपदी तथा भीमसेन से विमर्श करते हुए वे कहीं इस तथ्य की सचाई में अविश्वास प्रकट नहीं करते। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि धन तथा शक्ति भी साधन ही हैं, साध्य नहीं। भारतीय नीतिकारों की यह स्थापना अस्वीकृत नहीं होगी। किन्तु वे जानते थे कि ये साधन जीवन के सुख-दुःख से ज्यादा गहरा संबंध रखते हैं। इसीलिए स्वयं व्यासजी ने भी पांडवों को यही सीख दी कि वे अपनी शक्ति का विस्तार करने की कोशिश करें। उन्होंने कहा––

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः।।

किरातार्जुनीय, ३ । १७

'आपको धरती अर्थात् राज्य पराक्रम से ही प्राप्त होगा, किन्तु इस समय शक्ति तथा अस्त्रबल दोनों दृष्टियों से आपके प्रतिपक्षी ज्यादा बलवान् हैं। इसलिए आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इन चीजों में उत्कर्ष प्राप्त हो जाय; युद्ध में विजय शक्ति तथा शस्त्रास्त्रों के उत्कर्ष पर ही निर्भर करती है।' व्यास के इस उपदेश को मानकर ही अर्जुन दिव्य अस्त्रों की प्राप्ति के लिए तप करने चले गये।

यहाँ पाठक एक बात लक्ष्य करें; राज्यश्री शक्ति से प्राप्त हो सकती है, दूसरे किसी उपाय से नहीं। स्वयं भगवान् कृष्ण पांडवों के संबंधी थे, किन्तु

पांडवों ने यह नहीं सोचा कि उन्हें राज्यप्राप्ति के लिए कृष्ण को प्रसन्न कर के उनकी कृपा का अवलम्ब लेना चाहिए। उत्कर्षकाल के कवि इस बात को विशेष महत्त्व देते हैं कि प्राचीन भारत के महत्त्वपूर्ण क्षत्रिय राजा उत्कर्ष के लिए स्वयं अपने पुरुषार्थ पर निर्भर करते थे। इस पुरुषार्थ में शस्त्रबल तथा शास्त्रबल दोनों का समावेश था। कालिदास के शब्दों में दिलीप-जैसे राजाओं के प्रयोजन की पूर्ति करनेवाली दो ही मुख्य चीजें थीं, शास्त्रों में अकुंठित बुद्धि और धनुष पर चढ़ी हुई डोरी।

बुद्धि तथा बल राज्य आदि की प्राप्ति के न्यायोचित साधन समझे जाते थे। साधनों में कूटनीति की भी गणना होती है, उसके प्रयोग में नैतिकता तथा अनैतिकता का प्रश्न खड़ा हो जाता है। द्रौपदी तथा भीमसेन एक सीमा तक इस पक्ष में हैं कि विजय-प्राप्ति के लिए शासक को नैतिकता का ध्यान छोड़ देना चाहिए; बलराम इस दिशा में और भी आगे बढ़ जाते हैं––

यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपत्विनः।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते॥

शिशुपालवध, २। ६५

'पांडुपुत्र युधिष्ठिर यज्ञ करें, इन्द्र स्वर्ग की रक्षा करें, सूर्य तपा करें; और हम अपने शत्रुओं को मारें––हर कोई अपने स्वार्थ की चिन्ता करता है।' तात्पर्य यह कि युधिष्ठिर के यज्ञ का विचार करके कृष्ण शिशुपाल के वध से विरत हों या उस कार्य को स्थगित कर दें; यह उचित नहीं। यह नीतिबोध का घोर यथार्थवादी पक्ष है। उत्कर्षकाल के कवि, विशेषतः भारवि और कालिदास, इस कोटि की नीति का समर्थन नहीं करते।

जीवन-विवेक

राजनीति, कूटनीति और लोकनीति में भी यह मानकर चलना आवश्यक होता है कि ऐश्वर्य तथा शक्ति जीवन के आवश्यक मूल्य हैं। लौकिक जीवन की सफलता के लिए उनका महत्त्व असंदिग्ध है। कोई भी व्यक्ति व जाति,

जिसे सफल जीवन की कामना है, इन मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकती। दूसरा तथ्य यह है कि उक्त मूल्यों की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ जरूरी है, और यह पुरुषार्थ अनेक गुणों की अपेक्षा रखता है। किन्तु राजाओं तथा जातियों के जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं जब, सब प्रकार के प्रयत्नों के बावजूद, पराजय एवं असफलता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे अवसर पर विवेकी व्यक्ति तथा जाति किस प्रकार धैर्य धारण करें? अथवा वैसी परिस्थिति में वे धैर्य व संतुलन को खोकर यह महसूस करने लगें कि उनका लौकिक जीवन निस्सार हो गया? निस्सारता की भावना किसी व्यक्ति के लिए आवश्यक धैर्य का साधन बन सकती है, किन्तु कोई जाति वैसी भावना को लेकर अग्रसर नहीं हो सकती। इस प्रकार की स्थिति में जो चीज किसी जाति को, और व्यक्ति को, सहारा दे सकती है, वह है जीवन-विवेक––अर्थात् जीवन के हानि-लाभों के प्रति एक संतुलित दृष्टिकोण, ऐसा दृष्टिकोण जो हमें अपना संतुलन बनाये रखने में सहायता दे और हमारी प्रयत्न करने की क्षमता को अनावश्यक सीमा तक कुंठित न कर दे। किरातार्जुनीय के युधिष्ठिर में हम ऐसी संतुलित विवेक-दृष्टि पाते हैं। भीमसेन को समझाते हुए उन्होंने कहा––

> क्व चिराय परिग्रहः श्रियां क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता।
> शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः॥
>
> किरातार्जुनीय, २। ३९

'बहुत काल तक लक्ष्मी को पकड़कर रखना कहाँ? और दुष्ट इन्द्रियरूपी घोड़ों को वश में रखना भी कहाँ? शरत्काल के बादलों की तरह शीघ्र ही चल देने के स्वभाववाली संपत्ति-श्री बड़ी छलनेवाली होती है; जिनकी इन्द्रियाँ चंचल हैं, वे उसकी ठीक से रक्षा नहीं कर सकते।' इस वक्तव्य में दो ध्वनियाँ हैं, एक यह कि लक्ष्मी का उपभोग संयमहीन लोगों के लिए नहीं है; और दूसरी यह कि धन व ऐश्वर्य किसी का सदैव साथ नहीं देते। जो व्यक्ति या जाति इस विवेक से संपन्न होती है वह खराब परिस्थितियों की उपस्थिति में अनावश्यक दर्जे तक धैर्य का परित्याग नहीं करती। किसी भी

जाति के इतिहास में हार-जीत के अनेक अवसर आते रहते हैं; प्रायः व्यक्तियों के जीवन में भी उतार-चढ़ाव आ ही जाते हैं; ऐसे मौकों पर जो अपना विवेक व संतुलन कायम रखते हैं वे फिर अपने भाग्य एवं भविष्य पर नियंत्रण कर लेते हैं। किसी भी दशा में अधैर्य तथा निराशा की वृत्तियाँ व्यक्ति या जाति के लिए हितकर नहीं होतीं।

इस कोटि का विवेक प्राचीन हिन्दू जाति के जीवन-दर्शन व जीवन-चर्या, दोनों में निहित पाया जाता है। कालिदास ने रघुवंश के प्रत्येक राजा के संबंध में यह लिखा है कि एक अवस्था पर पहुँचने के बाद उसने अपना राज्य पुत्र के हवाले कर दिया और स्वयं निवृत्ति के मार्ग को अपनाकर मोक्ष-साधना में लग गया। दिलीप, रघु, दशरथ आदि सभी ने पुत्र के युवा हो जाने पर अपने को राज्यशासन से विच्छिन्न कर लिया। यह विच्छेद भारतीय जीवन-दृष्टि का व्यावहारिक रूप है। विच्छेद व्यावहारिक भी हो सकता है और केवल मानसिक भी। जब कुमार अज ने, राज्य से विरक्त होते हुए पिता रघु से यह याचना की कि आप मेरा परित्याग न कीजिए, तो रघु ने इतना मान लिया कि वे वन की ओर नहीं जायँगे—नगर के बाहर ही आश्रम बनाकर रह लेंगे। किन्तु उन्होंने एक बार त्यागी हुई राज्यश्री को फिर ग्रहण नहीं किया, जैसे साँप एक बार केंचुली छोड़कर उसे फिर नहीं ग्रहण करता।[१२] संक्षेप में भारतीय जीवन-विवेक का यही मुख्य तत्त्व है—जीवन के भोगैश्वर्यों को स्वीकार करते हुए भी यह न भूलना कि अंततः वे सब अस्थायी एवं नाशवान् हैं। संसार के सुख महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इतने मूल्यवान् नहीं हैं कि उनके बिना जीवन एकदम ही निरर्थक हो जाय। भारतीय विचारकों की यह शिक्षा थी कि ऐश्वर्य तथा सुख के लिए प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक प्रयत्न करना चाहिए; किन्तु वे वस्तुएँ इतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं कि उनके लिए सारे सद्गुणों को छोड़ दिया जाय और समस्त सद्वृत्तियों का बलिदान कर दिया जाय। वस्तुतः ऐश्वर्य एवं शक्ति की प्रमुख

१२. रघुवंश ८। १३।

उपयोगिता यह है कि वे जीवनचर्या को सरल बना दें और हमें अभावजन्य कष्टों से बचाये रखें; वे साक्षात् व्यक्तित्व के उत्कर्ष एवं आत्मा के सुख का उपकरण नहीं हैं।

भारतीय विवेक-चेतना की यह स्पृहणीय विशेषता है कि वह धन-संपत्ति आदि का तिरस्कार न करते हुए भी उन्हें जीवन का चरम ध्येय अथवा आनन्द का चरम साधन नहीं मानती। तभी तो राम के लिए यह संभव हुआ कि वे एकाएक यह खबर पाकर कि उन्हें राज्य छोड़कर वन जाना है, अपना संतुलन कायम रख सके——

दधतो मंगलक्षौमे वसानस्य च वल्कले।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः।।

रघुवंश, १२। ८

'लोगों ने विस्मित होकर देखा; राज्याभिषेक के लिए मंगल वस्त्र पहनते हुए राम के मुख का जैसा रंग था, वैसा ही उस समय भी रहा जब उन्होंने वल्कल-वस्त्र ग्रहण किये।' जब राजा अज अपनी प्रियतमा इन्दुमती के लिए बहुत रो रहे थे तब ऋषि वशिष्ठ ने उनके पास निम्न सन्देश भिजवाया——

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमध्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ।।
स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम्।।

रघुवंश, ८।८७, ८९

'मरना तो जीवधारियों की प्रकृति (स्वभाव) है, जीवित रहना ही विकृति है——विकृति अर्थात् संयोग की चीज। ऐसी स्थिति में यदि कोई क्षण भर भी जीवित रहता है तो समझना चाहिए कि यह लाभ ही लाभ है। विद्वान् आदमी जानता है कि अन्त में स्वयं उसका शरीर और आत्मा भी पृथक् हो जायँगे; ऐसी दशा में बाहरी विषयों से होनेवाला वियोग उसे कैसे पीड़ा दे सकता है?'

जिसे हम जीवन-विवेक कहते हैं उसका संबंध किसी व्यक्ति या जाति की दार्शनिक-आध्यात्मिक दृष्टि से होता है। जीवन-विवेक का अभिप्राय है मूल्यों के सापेक्ष महत्त्व का आभास। जीवन में हम अनेक मूल्यों का उपभोग करते हैं, और विशिष्ट अवसरों पर, प्रत्येक मूल्य महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। धन और पद, संतान और स्त्री, स्वजाति और स्वदेश इन सभी का कम-बढ़ महत्त्व होता है। जीवन-विवेक का तात्पर्य उस मनोभाव से है जो विभिन्न मूल्यों को आनुपातिक महत्त्व के तारतम्य से व्यवस्थित करके देखता है। प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक जाति का जीवन-विवेक कुछ अलग होता है। प्रश्न है, ऐसी स्थिति में यह कैसे निर्णय किया जाय कि कौन-सा जीवन-विवेक कितना प्रौढ़ व ऊँचा है? प्रश्न का उत्तर इस प्रकार होगा। अंततः वैयक्तिक अथवा जातीय जीवन का इतिहास ही वह कसौटी है जिस पर विशिष्ट जीवन-विवेक की उच्चता को जाँचा जा सकता है। श्रेष्ठ जीवन-विवेक वह है जो हमारे अच्छे तथा ऊँचे प्रयत्नों को आगे बढ़ने की प्रेरणा दे, और जो निराशा तथा विषाद की भावनाओं से हमारी रक्षा कर सके। उत्कर्षकालीन भारतीय महाकाव्यों के नायक तथा दूसरे मान्य पुरुष इस अर्थ में ऊँचे विवेक से संपन्न कहे जा सकते हैं। वे संपत्ति तथा विजयोत्कर्ष की चिन्ता करते हैं, किन्तु यदि किसी कारण ये चीजें उनकी पकड़ से निकल जायँ तो वे हताश या हतोत्साह नहीं होते। इन चीजों का उचित महत्त्व जानते हुए भी वे उनमें ऐसी आसक्ति नहीं रखते कि उनके बिना जीवन को निरर्थक समझने लगें। वे ऐश्वर्य तथा शक्ति का मूल्य समझते हैं, किन्तु उनसे कहीं ऊपर व्यक्तित्व के उत्कर्ष को स्थान देते हैं। मनस्विता, तेजस्विता, पराक्रमशीलता और इन सबके साथ मौलिक धार्मिकता, उदारता व सदाशयता, ये वे गुण हैं जो व्यक्तित्व को ऊँचा तथा महत्त्वशाली बनाते हैं। श्री व ऐश्वर्य इन गुणों के सहकारी अथवा फलभूत पदार्थ हैं। इन गुणों को धारण करने के अतिरिक्त उत्कर्षकालीन काव्य के नायक उस ऐतिहासिक अथवा दार्शनिक परिप्रेक्षित से भी संपन्न हैं जो जीवन की हार-जीतों में गहरे सन्तुलन को बनाये रखने में सहायक होता है।

इस परिप्रेक्षित व दृष्टिकोण का भारतीय दर्शन तथा अध्यात्म की चिन्ताधारा से घना संबंध है। भारतीय मनीषियों में एक ओर तो यह भावना है कि इस संसार के भोगैश्वर्य सान्त या सीमित हैं, जिनमें संवेदनशील विवेकी पुरुष को सीमित आसक्ति ही रखनी चाहिए; दूसरी ओर उन्हें यह भी आभास है कि व्यक्तियों तथा जातियों के इतिहास की गति चक्रनेमि (पहिये के घेरे) जैसी होती है, उसकी स्थिति कभी ऊँची और कभी नीची होती ही रहती है।[१३] ये दोनों ही विचारणाएँ आपत्तिकाल में धैर्य देनेवाली हैं। जो व्यक्ति या जाति ऐसे विवेक से संपन्न होती है वह प्रयत्न के क्षेत्र में अपने को कभी निराश व निरुत्साहित नहीं महसूस करती।

आध्यात्मिक समन्वय

जीवन-विवेक-सम्बन्धी भारतीय दृष्टि को यदि हम संक्षेप में प्रकट करना चाहें तो हम कह सकते हैं कि वह समन्वय की दृष्टि है। भारतीय संस्कृति की पीठिका में इस वक्तव्य के कई अर्थ किये जा सकते हैं। सबसे प्रचलित अर्थ या व्याख्या यह है कि भारत के विचारक जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक उपायों, पंथों या मार्गों की उपादेयता स्वीकार करते हैं। भारतीय दर्शन में मोक्षप्राप्ति के चार उपाय या मार्ग प्रसिद्ध हैं, अर्थात् ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग। विभिन्न साधकों में स्वभाव तथा क्षमताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं; उनके अनुरूप वे बौद्धिक, रहस्यात्मक, आवेगात्मक एवं प्रयत्नात्मक विभिन्न साधनों का अवलम्ब ले सकते हैं। भारतीय चिन्तन के अनुसार साधनों की यह विभिन्नता स्वयं जीवन के चरम ध्येय या साध्य में विभिन्नता सिद्ध नहीं करती। ध्येय एक ही है, यद्यपि उस तक ले जानेवाले रास्ते अलग-अलग हैं।

१३. कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।
उत्तरमेघ, ३६

इस मन्तव्य का एक दूसरा पक्ष भी है। भारतवर्ष में अनेक दर्शन बने जिनके सिद्धान्त एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। किन्तु जीवन के चरम लक्ष्य के संबंध में उनकी मान्यताएँ बहुत-कुछ समान थीं। जब हम समन्वय की बात करते हैं तो हम यह भी मान लेते हैं कि विभिन्न मतवाद तथा पन्थ भी मनुष्य को एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिए हैं। इस तथ्य को कालिदास ने इस प्रकार प्रकट किया है——

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥
रघुवंश, १०। २६

'विभिन्न आगमों (त्रयी, सांख्य आदि) पर आधारित अनेक पंथ या उपाय अन्त में आप में ही पर्यवसान पाते हैं, जैसे गंगा नदी के अनेक प्रवाह अन्त में समुद्र में प्रविष्ट हो जाते हैं।' संभवतः कालिदास के समय में भी शैवों, वैष्णवों आदि के भेद उत्पन्न हो गये थे। कालिदास ने अपनी कृतियों के स्तुति-प्रसंगों द्वारा इन भेदों को दूर करने में योग दिया है। अनुमान किया जाता है कि कालिदास मुख्यतः शिव के उपासक थे। रधुवंश का प्रारम्भ शिव-पार्वती की स्तुति से होता है और कुमारसंव का विषय शिव पार्वती का परिणय तथा कुमार कार्तिकेय की उत्पत्ति है। किन्तु कालिदास ने रघुवंश में विष्णु की तथा कुमार-संभव में ब्रह्मा की स्तुतियाँ भी करायी हैं। स्पष्ट ही कालिदास इन तीनों देवों को एक परमात्मा की मूर्तियाँ समझते हैं।

हमने भारतीय समन्वयवाद के प्रचलित अर्थ का परिचय दिया। किन्तु उस समन्वय-दृष्टि के दूसरे, अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू भी हैं, जिनका ईश्वर, मोक्ष आदि से संबंधित आस्थाओं से आवश्यक लगाव नहीं है। ईश्वर की सत्ता एवं मोक्ष की स्थितियों में सन्देह किया जा सकता है; किन्तु उस सन्देह का अर्थ जीवन-मूल्यों में अनास्था नहीं है और, हमारी राय में, भारतीय समन्वय-दृष्टि का ज्यादा महत्त्वपूर्ण रूप जीवन-मूल्यों से संबंध रखता है।

यहाँ एक स्पष्टीकरण जरूरी है। उत्कर्षकाल के हमारे तीनों महाकवि अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक अथवा प्रकाण्ड व्याख्याता शंकराचार्य के पूर्ववर्ती हैं। उनके समय में अद्वैतवाद का वह रूप, जिसे शंकराचार्य ने निरूपित किया, प्रचलित नहीं था। शांकर वेदान्त का एक प्रमुख मन्तव्य मायावाद है—यह सिद्धान्त कि दृश्यमान जगत् मायिक या मिथ्या है। कहा जा सकता है कि यह मायावाद उपनिषदों का अभिमत अद्वैत सिद्धान्त नहीं है। उपनिषदों में जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति बतलाया गया है। वहाँ इस प्रश्न का कि एक ब्रह्म से अनेकात्मक जगत् की उत्पत्ति कैसे होती है, कोई बढ़िया तर्कपूर्ण समाधान नहीं दिया गया है। उपनिषदों के मायावाद को तर्कसम्मत बनाने के लिए शंकराचार्य को मायावाद का आविष्कार करना पड़ा। यह मायावाद भारतीय संस्कृति के उत्कर्षकाल में प्रचलित नहीं था। उत्कर्षकालीन कवि, उपनिषदों की भावना में, जगत् को ब्रह्म की अभिव्यक्ति समझते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्म एक तथा निर्गुण होते हुए भी अनेकात्मक गुणयुक्त जगत् का कारण बन जाता है। कहा जा सकता है कि स्वयं बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' अथवा वेदांतसूत्रों का भी यही अभिमत है। उत्कर्षकाल के कवि इस सिद्धान्त से परिचित हैं; वे सांख्य दर्शन से भी सुपरिचित हैं। किन्तु उनका सांख्य गीता में प्रतिपादित सेश्वर सांख्य के अधिक निकट है; वह ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं का सांख्य नहीं है। ब्रह्मा की स्तुति में कालिदास ने कहलाया है—

द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु॥

कुमारसंभव, २। ११

'तुम (रसात्मक) द्रव भी हो और कठिन संघातरूप भी हो, तुम स्थूल-सूक्ष्म भी हो और लघु-गुरु भी हो, व्यक्त भी हो और अव्यक्त भी; तुममें सब प्रकार की विभूतियाँ हैं।' उत्कर्षकालीन कवियों की यह धारणा है कि जगत् के मूल कारण ब्रह्म या भगवान् में एक साथ ही

विरोधी गुणों की स्थिति है; उनके मन में यह भावना नहीं है कि यह जगत् मिथ्या है—

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः॥
अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम्॥

रघुवंश, १०।१७, १८

'जैसे आकाश से गिरा हुआ एक ही जल विभिन्न स्थलों में पहुँचकर तरह-तरह के रसों या स्वादों से युक्त हो जाता है, वैसे ही आप (विष्णु), स्वयं में विकारहीन होते हुए भी, सत्त्व, रजस् आदि के संयोग से अनेक अवस्थाओं को प्राप्त हो जाते हैं। आप स्वयं में अपरिच्छिन्न हैं पर लोकों का परिच्छेद करते हैं, स्वयं निःस्पृह हैं किन्तु कामनाओं को पूर्ण करते हैं, स्वयं पराजित न होनेवाले आप जयशील हैं और अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त जगत् के कारण हैं।' ऐसे ही विरोधी विशेषणों के साथ पार्वती ने, बटुक रूपधारी शिव के आरोपों का उत्तर देते हुए, स्वयं शिव का वर्णन किया है।

कवियों की इन दार्शनिक धारणाओं का उनकी जीवन-मूल्यों संबंधी दृष्टि से गहरा संबंध है। जीवन के भोगों और उनकी सीमाओं की चेतना; इन दोनों के प्रति उनका जो मनोभाव है, उसे एक विशेष कोटि की समन्वय-दृष्टि कहा जा सकता है। इस समन्वय-दृष्टि का सबसे बढ़िया प्रकाशन उनके द्वारा की गयी अवतार-पुरुषों अथवा सगुण ईश्वर-मूर्तियों की कल्पनाओं में मिलता है। इन पुरुषों तथा मूर्तियों की कल्पनाओं में सौन्दर्य एवं उसके उपभोग से उत्थित होनेवाले आनन्द और विवेकपूर्ण अनासक्ति, इन दोनों का गहरा सामंजस्य दिखाया गया है। यहाँ हम 'सुभाषितरत्न-भाण्डागार' के दो सुन्दर पद्य उद्धृत करना चाहेंगे, पहले में ब्रह्म या परमात्मा अनासक्त पुरुष का और दूसरे में आनन्द-सहचरित सौन्दर्य के उपभोक्ता का स्वच्छन्द आरोप किया गया है—

विष्णुर्वा त्रिपुरान्तको भवतु वा ब्रह्मा सुरेन्द्रोऽथवा,
भानुर्वा शशलक्षणोऽथ भगवान् बुद्धोऽथ सिद्धोऽथवा।
रागद्वेषविषार्तिमोहरहितः सत्त्वानुकम्पोद्यतो,
यः सर्वैः सह संस्कृतो गुणगणैस्तस्मै नमः सर्वदा॥
शक्यं यन्न विशेषतो निगदितुं प्रेम्णैव यच्चिन्तितम्,
मृद्वङ्गीवदनेन्दुमण्डलमिव स्वान्ते विधत्ते मुदम्।
यन्मुग्धानयनान्तचेष्टितमिवाध्यक्षेऽपि नो लक्षितं,
तत्तेजो विनयादमन्दहृदयानन्दाय वन्दामहे॥

'उसको चाहे विष्णु कहिए या शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा; अथवा बुद्ध या सिद्ध; जो रागद्वेष के विष से, आर्ति (दैन्य या दुःख) तथा मोह से रहित है, जो जीवों के प्रति अनुकम्पा रखता है, और जो सब श्रेष्ठ गुणों से संस्कृत या युक्त है, उसे सदैव नमस्कार हो। जिसे किसी विशेषण से वर्णित नहीं किया जा सकता, जो सिर्फ प्रेमपूर्ण चिन्तन का विषय है, जो कोमलांगी रमणी के चन्द्रमा जैसे मुखमंडल की भाँति अंतर में आनन्द का विधान करता है, मुग्धा की नयनकोरों की चेष्टाओं के समान जो निकट होते हुए भी लक्षित नहीं होता, उस तेज की, हृदय के प्रचुर आनन्द के लिए, हम विनयपूर्वक वन्दना करते हैं।'

मंगलाचरण के ये श्लोक किसी अवतार-पुरुष अथवा त्रिमूर्ति के संबंध में नहीं हैं; इनका विषय परब्रह्म है। निराकार निर्गुण ब्रह्म का ध्यान व वन्दना करते हुए भी भारतीय कवियों के लिए यह संभव था कि वे तुलना के लिए कामिनी के चन्द्रवदन एवं कटाक्षों का सन्निवेश कर दें। भारतीय सांस्कृतिक चेतना में श्रृंगार और वैराग्य, संसार और मोक्ष दोनों एक निबिड़ आलिंगन में आबद्ध दिखाई देते हैं। तभी तो भर्तृहरि जैसे कवि के लिए संभव हुआ कि वे एक साथ ही 'श्रृंगार शतक' एवं 'वैराग्यशतक' की रचना करते हुए यह सिद्ध कर दें कि वे बड़े भारी लोकनीति के ज्ञाता भी हैं।

भारतीय आश्रमव्यवस्था, और वर्णव्यवस्था भी, दूर तक यह स्वीकार करती हैं कि व्यक्तिगत जीवन तथा जातीय जीवन में सभी प्रकार के

मूल्यों के उपभोग के लिए स्थान होना चाहिए। वेदान्त के प्रचार के पूर्व कम-से-कम हिन्दुओं में, मीमांसा का यह सिद्धांत सर्वमान्य सा था कि प्रत्येक मनुष्य को ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रमों के बाद ही वानप्रस्थ तथा संन्यास की स्थितियों में प्रवेश करना चाहिए। मीमांसकों के अनुसार जो व्यक्ति ऋषियों, देवताओं तथा पितरों के ऋणों का परिशोधन किये बिना ही मोक्ष की इच्छा करता है वह अधोगति को प्राप्त होता है।[१४] बाद के वेदान्तियों ने यह सिद्ध करने की लम्बी-चौड़ी कोशिश की कि सिर्फ ज्ञान से, कर्मों का आश्रय लिये बिना ही, मुक्ति हो सकती है। उन्होंने यह भी कहा कि मनुष्य को जिस दिन वैराग्य हो जाय उसी दिन संन्यास ले लेना चाहिए। किन्तु ये मान्यताएँ उत्कर्षकालीन भारतीय संस्कृति में प्रचलित नहीं थीं। वे गीता की स्पष्ट शिक्षाओं के भी विरुद्ध हैं––जैसा कि लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीता-रहस्य' में सिद्ध किया है। वेदांतियों की यह शिक्षा आधनिक मनोविज्ञान के भी प्रतिकूल है। जो व्यक्ति जीवन के सुख-भोगों से परिचित हुए बिना उन्हें छोड़ देता है वह बाद में उनकी कल्पनाओं द्वारा पीड़ित होते हुए शान्ति एवं सन्तुलन खो बैठता है। उसे लगातार अपनी वासनाओं से युद्ध भी करना पड़ता है; जो मानसिक शक्ति एवं शान्ति का विघातक है। इसलिए संवेदनशील लोगों के लिए सही रास्ता यही है कि वे जीवन के प्रयत्नों तथा सुख-भोगों से एकदम अलग न होते हुए उनके प्रति विवेकपूर्ण सन्तुलन एवं अनासक्ति का भाव बनाने व बरतने का प्रयत्न करें। अध्यात्म की उदात्त भूमिका में भारतीय संस्कृति की यही प्रमुख मान्यता एवं शिक्षा जान पड़ती है।

१४. अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथात्मजान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥
ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य १.१.१. पर भामती में उद्धृत।

चौथा अध्याय

संस्कृत भाषा

किसी जाति या देश के काव्य-शास्त्र की प्रगति का भाषा से घना संबंध होता है। जिस जाति के पास समृद्ध एवं शक्तिशाली भाषा का माध्यम है वही कला तथा चिन्तन के क्षेत्रों में विस्तृत उपलब्धियाँ कर सकती है। इसका यह मतलब नहीं कि काव्यशास्त्र की प्रगति के लिए भाषा ही पर्याप्त साधन है। वस्तुतः अन्तिम विश्लेषणों में भाषा स्वयं जाति-विशेष की ही सृष्टि होती है और उसके चरित्र को प्रतिफलित करती है। भाषा आकाश से देश-विशेष की धरती पर नहीं बरस पड़ती, वह तो एक तरह से सहज प्राप्त वस्तु ही होती है। भाषा हमारी परम्परा का अंग है। वह स्वयं में महत्त्वपूर्ण परम्परा है, और परंपरा के संक्रमण का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिसंपन्न माध्यम है। छापने की कला ने इस माध्यम को और भी महत्त्वपूर्ण बना दिया है। आज हम यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि मनुष्य जाति भाषा के बिना अपनी सभ्यता व संस्कृति को कायम रख सकती है।

किन्तु भाषा गढ़ी भी जाती है। वह प्रत्येक लेखक या विचारक, जो दुनिया को नये विचार देता है, नयी भाषा का निर्माण करता है। श्रेष्ठ लेखक उतना नये शब्दों को नहीं गढ़ता जितना कि पुराने शब्दों के नये संगठनों को। इस प्रकार के नये संगठन काव्य-साहित्य की जान हैं। ये संगठन पद-पद पर नये चित्रों, अलंकारों तथा भावनाओं का विधान करते हैं। वे काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने का भी एक प्रधान साधन हैं। एक दूसरे अर्थ में भी लेखक तथा विचारक नयी भाषा का निर्माण करते हैं। शास्त्रों की प्रगति के साथ नये पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता होती है,

जिनकी मदद से अभिव्यक्ति में संक्षेप, कसावट एवं एतावत्त्व (Exactness) आता है। इस प्रकार एक प्रगतिशील जाति लगातार नये शब्दों तथा व्यंजनाओं का अविष्कार करती चलती है। आधुनिक काल में भाषा-विकास के अन्य कारण भी उपस्थित हो गये हैं। विविध भाषाओं का सम्मिलन होने पर वे एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं, एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में पहुँचने लगते हैं और उनके अर्थ-प्रकाशन के तरीके एक-दूसरी को प्रभावित करने लगते हैं। इन दोनों ही रूपों में हिन्दी भाषा उर्दू, फारसी, अंग्रेज़ी आदि से प्रभावित हुई है। स्वयं अंग्रेज़ी भाषा ने हज़ारों शब्द लैटिन, फ़्रेंच आदि भाषाओं से ग्रहण किये हैं और उनके मुहावरों से भी प्रभाव लिये हैं। भौतिक विज्ञानों की प्रगति ने यूरोपीय भाषाओं के शब्दकोश तथा व्यंजना-शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि एवं विस्तार किया है। यही बात न्यूनाधिक दूसरे शास्त्रों, जैसे नृ-विज्ञान, समाज शास्त्र, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि के प्रभावों के विषय में भी कही जा सकती है। वस्तुत: जो जाति विभिन्न क्षेत्रों में लगातार मौलिक अन्वेषण व चिन्तन करती रहती है, वह तदनुरूप भाषा का विकास भी करती चलती है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि किसी देश या जाति की भाषा उसके सदस्यों के सर्जनशील बौद्धिक-आत्मिक जीवन का प्रतिफलन मात्र है। साथ ही यह भी कहना ठीक ही है कि जो जाति, इतिहास के किसी युग में, एक समृद्ध भाषा की परम्परा को प्राप्त किये रहती है, वह साहित्य तथा चिन्तन के क्षेत्रों में ज्यादा कीमती काम कर पाती है।

संस्कृत भाषा का महत्त्व

संस्कृत भाषा अपने लम्बे इतिहास में उक्त दोनों ही अर्थों में महत्त्व-शालिनी रही। बाद की शताब्दियों में सैकड़ो चिन्तकों तथा साहित्यकारों ने उसके रूप को पुष्ट एवं पल्लवित किया। किन्तु वह शुरू से ही एक विलक्षण भाषा थी। जिस आर्य जाति ने उसे प्रारंभ में गठित किया, वह बड़ी ही प्रतिभा-सम्पन्न जाति रही होगी। किसी भाषा की उत्पत्ति एवं

समृद्धि के अनेक कारण होते हैं। पता नहीं, किन-किन कारणों ने मिलकर संस्कृत भाषा को उसका नितान्त जटिल, बहुमुखी एवं व्यापक रूप दिया। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन कारणों में एक विशेष महत्त्वपूर्ण कारण आर्य जाति का निरीक्षणशील एवं जिज्ञासु स्वभाव और उसकी विलक्षण सर्जनशील प्रतिभा थी। संस्कृत भाषा में सैकड़ों धातुएँ, तरह-तरह की क्रियाएँ और भाँति-भाँति के प्रत्यय पाये जाते हैं। इन दृष्टियों से वह हमारी परिचित भाषाओं से बहुत भिन्न है। अंग्रेजी तथा हिन्दी में प्रायः सभी क्रियाएँ एक ढर्रे पर विभिन्न कालों का बोध कराती हैं। संस्कृत में भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, चुरादि; अनेक वर्गों के धातु-समूह हैं जिनके रूप भिन्न-भिन्न नियमों से बनते हैं। संस्कृत में लकार या कालबोधक रूप भी विविध और जटिल है। विभिन्न प्रत्ययों के योग से एक-एक धातु के अनेकों रूप बन जाते हैं जो विभिन्न कोटियों के अर्थों का द्योतन करते हैं। इसी प्रकार संज्ञावाची शब्दों से भी, प्रत्ययों की मदद से, अनेक नये शब्द उपलब्ध होते हैं। हम यहाँ इन प्रत्ययों की गणना नहीं करेंगे, किन्तु यह देखने की बात है कि प्रत्ययों की बहुलता संस्कृत भाषा के शब्द-कोश को अपरिमित विस्तार दे देती है। अकेली दृश् या दृशिर् धातु से निम्नलिखित शब्द बनते हैं; दृक्, द्रष्टा, दर्षक, दृष्टि, दर्शन, दर्शनीय, द्रष्टव्य, दृष्ट, दर्शयिता, दृश्य, दुर्दर्श, इत्यादि। यह प्रसिद्ध ही है कि उप-सर्गों के योग से एक ही धातु अनेक अर्थों को देने लगती है। प्रहार, आहार, संहार, विहार, परिहार आदि शब्द एकदम भिन्न अर्थों को प्रकट करते हैं, यद्यपि उनमें प्रयुक्त धातु एक ही है।

पर्यायों की प्रचुरता

संस्कृत भाषा पर्यायवाची शब्दों में खास तौर से समृद्ध है। इस भाषा में इतने पर्याय कहाँ से आये; यह शोध का रोचक विषय हो सकता है। संस्कृत में पाये जानेवाले पर्याय आर्य जाति की निरीक्षण आदि अनेक विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं। सर्प शब्द एक विशेष प्रकार से चलने

की क्रिया को लक्ष्य करके बना है, इसके पर्यायों में निम्न शब्दों की गिनती है; उरग (छाती या पेट के बल चलनेवाला), पन्नग (जो पड़ा हुआ चले), जिह्मग (टेढ़ा चलनेवाला), गूढपाद (छिपे हुए पैरोंवाला), दीर्घ-पृष्ठ (लंबी पीठवाला), दंदशूक (डसनेवाला), बिलेशय (बिल में रहने या सोनेवाला), आशीविष (जिसकी दाढ़ में ज़हर हो), कंचुकी (केंचुली-वाला), पवनाशन (हवा खानेवाला), द्विरसन (दो जीभोंवाला), चक्षुः-श्रवा (आँखों से सुननेवाला, आँखें ही जिसके कान हैं), विषधर, कुंडली इत्यादि। ये नाम साँप की विभिन्न विशेषताओं को प्रकट करते हैं। जिस जाति ने उक्त प्राणी को इतने नाम दिये हैं उसमें निरीक्षण की सूक्ष्म शक्ति तो थी ही, साथ ही शब्द-क्रीड़ा की प्रवृत्ति भी थी।

इसी प्रकार संस्कृत में जल के अनेक पर्याय हैं और उनकी मदद से कमल, समुद्र आदि के कोटियों पर्याय बन जाते हैं। ऐसे ही किरण के पर्यायों से अनेक सूर्यवाची शब्द बनते हैं। पाठक यदि सूर्य के पर्यायों पर ध्यान दें तो वे देखेंगे कि उन पर्यायों की सृष्टि में आर्य जाति की सूक्ष्म-चेतना का भरपूर प्रदर्शन है। अमरकोश में सूर्य के निम्न पर्याय गिनाये गये हैं; सूर, सूर्य, अर्यमा, आदित्य, द्वादशात्मा, दिवाकर, भास्कर, सप्ताश्व, अहस्कर, विभाकर, भास्वान्, विवस्वान्, हरिदश्व, उष्णरश्मि, विकर्तन, अर्क, मार्तण्ड, मिहिर, अरुण, पूषण, द्युमणि (या वियन्मणि, आकाशमणि), दिनमणि, तरणि, मित्र, चित्रभानु, विरोचन, विभावसु, ग्रहपति, त्विषांपति, अहर्पति, सहस्रांशु, चंडांशु, जगच्चक्षु, कर्मसाक्षी, तपन, सविता, रवि, धामनिधि, अंशुमाली, अब्जिनीपति, भानु, हंस इत्यादि। हम स्थलसंकोच के कारण और नाम नहीं गिना रहे हैं। यह नामावली हिन्दू जाति की सौन्दर्य-संवेदना तथा ऋतु-संवेदना से ही नहीं, उसके नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक विश्वासों से भी संबंध रखती है। पता नहीं दूसरी किसी भाषा में नभोमणि, वासरमणि और कर्मसाक्षी तथा जगच्चक्षु-जैसे सूर्य के पर्याय उपलब्ध हैं या नहीं।

यहाँ एक और बात लक्ष्य करने की है। उक्त कोटियों के पर्याय,

जिनमें अधिकांश सौन्दर्य-संवेदना से संबंधित हैं, वही जाति गढ़ सकती है जो हमेशा या अक्सर उपयोगिता के भार से दबी हुई नहीं रहती। ऐसी ही जाति के सदस्य रस लेकर वैसे पर्यायों का प्रचार व प्रयोग कर सकते हैं। हमारा अनुमान है कि उक्त कोटि के बहुत-से पर्यायवाची शब्दों का उपयोग उत्कर्षकाल के आस-पास हुआ। रामायण-महाभारत में सौन्दर्य-बोधक पर्यायों की उतनी प्रचुरता नहीं मिलती, यद्यपि वहाँ भी काफ़ी पर्याय-शब्द प्रचलित पाये जाते हैं।

अब यहाँ हम इस अध्याय के विषय के दूसरे पहलू पर आते हैं। यही नहीं कि संस्कृत भाषा में पर्यायवाची शब्दों की बहुतायत है; **वहाँ असंख्यों पर्याय-शब्द निरन्तर प्रयोग से जीवित रहते दिखाई पड़ते हैं।** संस्कृत के कवि, विशेषतः उत्कर्षकाल और उसके बाद के भी साहित्यकार, एक ही अर्थ के द्योतक विभिन्न शब्दों के प्रयोग को चमत्कार-सृष्टि तथा पांडित्य-प्रदर्शन दोनों के लिए आवश्यक समझते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा प्रेरक हेतु भी उपस्थित हो जाता है; विविध छन्दों की योजना से उत्पन्न आवश्यकताएँ। संस्कृत के व्याकरण की भाँति उसका छन्दःशास्त्र भी कठिन व कठोर नियमों के प्रतिपादन के लिए प्रसिद्ध है। छन्दः शास्त्रियों की प्रसिद्ध उक्ति है—'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभंगं न कारयेत्', अर्थात् माष का मष भले ही कर दे, पर छन्दोभंग न करे। संस्कृत के अधिकांश छन्द ह्रस्व-दीर्घ वर्णों के निश्चित क्रम के अनुसार चलते हैं, इन क्रमों में विपर्यय का प्रश्न ही नहीं उठता। फलतः छन्द की ज़रूरतें पूरी करने के लिए कवि लोगों को अक्सर न्यूनाधिक परिचित पर्यायों का आश्रय लेना पड़ जाता है।

पर्यायों के प्रयोग का दूसरा हेतु संस्कृत कवियों की संगीत-संवेदना एवं यमक, अनुप्रास आदि का प्रेम है। शीघ्र ही हम इसके उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

हमने कहा कि संस्कृत काव्य में विभिन्न धातुओं तथा शब्दों के असंख्य रूप एवं पर्याय निरन्तर जीवित रहते हुए दिखाई पड़ते हैं। कोशकार ही

नहीं, कवि और उनके टीकाकार भी संस्कृत की विस्तृत शब्द-राशि से जीवन्त परिचय रखते हैं। उत्कर्षकाल के कवियों में कालिदास सबसे सरल तथा सरस हैं, किन्तु उनकी कृतियों में भी भाँति-भाँति के पर्यायों का प्रचुर समावेश हुआ है। ऐसा भी नहीं कि वे कठिन अथवा अल्प-परिचित पर्यायों के प्रयोग से घबराते हों। कुछ उदाहरण देखिए——

१. तस्यासी**दुल्वणो** मार्गः पादपैरिव दन्तिनः।

२. प्रणिपातप्रतीकारः **संरम्भो** हि महात्मनाम्।

३. तद्योध**वारबाणाना**मयत्नपटवासताम्।

४. तत्र **जन्यं** रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत्।

५. **आयोधना**ग्रसरतां त्वयि वीर याते
किं वा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति।

इन पद्यखंडों में स्थूलाक्षर पर्याय अपेक्षाकृत कठिन एवं कम परिचित कोटि के हैं। विभिन्न कोशों के अनुसार उल्वण शब्द का अर्थ है प्रकट, स्पष्ट, विशद, स्फुट; वारबाण कंचुक का पर्याय है; संरम्भ का अर्थ है क्रोध; जन्य तथा आयोधन युद्ध के पर्याय हैं। रघुवंश के पहले सर्ग में एक सुन्दर श्लोक है——

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम्॥ रघुवंश, १।८३

'कोपलों के समान कोमल लालिम रंगवाली नन्दिनी गौ के माथे में कुछ टेढ़ा सफेद रोओं का अंक था, उसे वह वैसे ही धारण कर रही थी जैसे नये चन्द्र को सन्ध्या।' यहाँ वक्र या टेढ़े के लिए "आभुग्न" शब्द का प्रयोग किया गया है जो अपेक्षाकृत कम प्रयुक्त पर्याय है।

कविता की भाषा का एक प्रधान लक्ष्य चमत्कार की सृष्टि है। चमत्कार का एक उपकरण नये शब्दों, मुहावरों आदि का प्रयोग भी है। वर्तमान हिन्दी कविता, जिस पर प्रयोगवाद का प्रभाव है, नये शब्दों तथा व्यंजनाओं के समावेश को विशेष महत्त्व देती है। आज बीसवीं सदी के

छठे दशाब्द में, छायावादी काव्य की पदावली नये कवियों को खटकने लगी है और वे भरसक उसके प्रयोग से बच रहे हैं। इसी प्रकार छायावादी कवियों ने, तीस पैंतीस वर्ष पहले, व्रजभाषा के शब्दों का बहिष्कार किया था। काव्य में नयी शब्दयोजना का एक ही लक्ष्य होता है; पुरानी भाषा तथा शैली की प्रतिध्वनियों को बचाते हुए नयी चमत्कारयुक्त शैली की सृष्टि करना। इस देश में संस्कृत कविता का प्रचलन सैकड़ों वर्षों तक रहा। काव्य-चमत्कार के लिए संस्कृत कवियों ने यह ज़रूरी नहीं समझा कि ये नयी भाषा अथवा नये शब्दों का अवलंब लें। वे पर्यायों की प्रचुरता तथा छन्दों आदि के प्रयोग से उपलब्ध होनेवाली ग्रथन की नवीनता से लगातार अभीष्ट चमत्कार उत्पन्न करते रहे। सुन्दर पर्यायों के समावेश से संस्कृत छन्दों में सन्निवेशित साधारण बात भी चमत्कारपूर्ण दिखाई देने लगती है। पहले सर्ग के प्रारम्भ में कवि माघ ने ज्योति तथा प्रकाश या प्रकाशन, चमक या चमकने आदि अर्थों का द्योतन करने के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग करके नारद के वर्णन से संबंधित पद्यों को बड़ा आकर्षक बना दिया है––

१. पतत्यधो **धाम** विसारि सर्वतः
किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः।
२. दधानमम्भोरुहकेसर**द्युती**-
र्जटा शरच्चन्द्रमरीचि**रोचिषम्**।
३. महामहानीलशिला**रुचः** पुरो
निषेदिवान् कंसकृषः स विष्टरे।
४. स तप्तकार्तस्वर**भास्वराम्बरः**
विदिद्युते वाडवजातवेदसः शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः।
५. रथाङ्गपाणेः पटलेन **रोचिषामृषित्विषः** संवलिता विरेजिरे।
शिशुपालवध, १।२, ५, १६, २०, २१

स्थूलाक्षर शब्दों के अतिरिक्त भी अनेक वैसे शब्द इस स्थल में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे चकासतम्, विभान्तम् इत्यादि। इसके अतिरिक्त कवि ने

प्रकाश से निकट संबंध रखनेवाले अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। कुल मिलाकर पाठक के मन पर नारद के व्यक्तित्व की ज्योतिर्मयता की विशद छाप पड़ती है।

संस्कृत के कवि पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से जिन प्रभावों को उत्पन्न कर लेते हैं, उनकी सृष्टि के लिए दूसरी भाषाओं में अनेक वर्णनात्मक पदोच्चयों तथा उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग अपेक्षित होगा। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में सूर्य के लिए एक ही शब्द प्रचलित है अर्थात् सन्, वहाँ दिनमणि अथवा वियन्मणि से संकेतित होनेवाले चित्र को खड़ा करने के लिए वर्णनात्मक पंक्ति या पदोच्चय का सन्निवेश करना पड़ेगा।

माघ-काव्य में अपरिचित या अल्प परिचित पर्यायों का प्रयोग कालिदास से कहीं अधिक मात्रा में पाया जाता है। अग्नि के लिए तनूनपात्, सूर्य के लिए अनूरुसारथि, यमराज के लिए कीनाश, क्षुद्र के लिए क्षोदीयान् जैसे शब्दों का प्रयोग शिशुपालवध में हुआ है।

एक ही धातु से निकले हुए अनेक शब्द पदों तथा व्यंजनाओं की विविधता का आभास उत्पन्न करते हैं। संस्कृत की पदावली में इस तरह भी अनेकरूपता की समृद्धि बढ़ी हुई दिखाई देती है। **विदिद्युते** और **व्यद्योतिष्ट** क्रियाओं में एक ही धातु के भूतकालिक रूप हैं, किन्तु वे दो भिन्न शब्दों की भाँति विविधता उत्पन्न करते हैं। निम्न पंक्तियों में एक ही धातु से उपलब्ध चार रूपों का प्रयोग किया गया है—

१. स निकामघर्मितमभीक्ष्णमधुवदवधूतराजकः।
२. स्तम्भमुपहितविधूतिमसावधिकावधूनितसमस्तसंसदम्।

शिशुपालवध १५।५,६

यहाँ अधुवत्, अवधूत, विधूति तथा अवधूनित ये चारों पद धूञ् धातु से विविध प्रत्ययों के संयोग द्वारा प्राप्त हुए हैं, किन्तु उनकी पास-पास स्थिति हमें खलती नहीं।

संस्कृत भाषा में कुछ शब्द ऐसे हैं जो नियमित रूप में किसी धातु आदि से प्राप्त नहीं होते। ऐसे शब्द व्याकरण में विशेष नियमों से सिद्ध होते हैं और अपेक्षाकृत कम परिचित रहते हैं। संस्कृत के कवि इस कोटि के शब्दों का प्रयोग करने से भी नहीं चूकते। कालिदास की निम्न पंक्तियों में ऐसे ही कुछ पदों या शब्दों का प्रयोग किया गया है—

१. प्रत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः **सौस्नातिको** यस्य भवत्यगस्त्यः। ६,६१
२. भृग्वादीननुगृह्णन्तं **सौखशायनिकानृषीन्**। १०, १४
३. इति रामो **वृषस्यन्तीं** वृषस्कन्धः शशास ताम्। १२, ३४

ये तीनों पंक्तियाँ रघुवंश की हैं। जो यह पूछते हैं कि 'आपने सुख से स्नान कर लिया?' और 'आप सुख से सोये?' उन्हें क्रमशः 'सौस्नातिक' एवं "सौखशायनिक" कहते हैं। वृषस्यन्ती का अर्थ है कामुकी या कामपीड़िता। उत्कर्षकाल के काव्य में ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं जिनके अर्थ का परिज्ञान विशेष जानकारी की अपेक्षा रखता है। विशिष्ट सन्दर्भ में ऐसे शब्दों का प्रयोग संक्षेप के साथ अर्थगौरव उत्पन्न करने में सहायक होता है। रघु की प्रशंसा में कालिदास ने लिखा है—

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः।
आददे ॥ रघुवंश, ४।८

अर्थात् रघु यथापराध दंड देता था, जिससे प्रजा उससे प्रसन्न रहती थी। यहाँ "युक्तदंडता" व्यंजना एक प्रकार का मुहावरा है जो राजनीति तथा शासन के विशिष्ट क्षेत्र से सम्बन्ध रखता है। इसी तरह निम्न पंक्ति में

लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता।—सर्ग ४।१४

"लब्धप्रशमन" शब्द का प्रयोग किया गया है जो एक शासन-संबंधी मुहावरे को प्रकट करता है। जिस राज्य पर विजय प्राप्त कर ली गयी है उसका प्रशमन या स्थिरीकरण अपेक्षित होता है, जो कुछ लोगों के अनुरंजन और कुछ के दंड द्वारा संभव बनाया जाता है। ऐसे शब्दों के प्रयोग से वक्तव्य में एक खास तरह की प्रामाणिकता एवं अर्थगौरव आ जाता है।

अब तक हमने संस्कृत भाषा के शब्दकोष के संबंध में चर्चा की। शब्द भाषा-शरीर के घटक-रूप (cells) हैं। फिर भी भाषा व संस्कृति दोनों के विकास में शब्दों का स्थान अपेक्षाकृत गौण ही है। किसी भाषा की शक्ति व समृद्धि का समुचित परिचय केवल उसके शब्दकोष की जानकारी से नहीं हो सकता। संस्कृत का अधिक महत्त्व इस ऐतिहासिक परिस्थिति में है कि उसका कलेवर तरह-तरह के ज्ञान-विज्ञानों के विकास से पल्लवित व पुष्ट हुआ। व्याकरण, निरुक्त, गणित, ज्योतिष, पिंगल, राजनीति, दर्शन, यहाँ तक कि कामशास्त्र-जैसे विषयों का भी संस्कृत भाषा के माध्यम में ऊँचा विकास हुआ। एक ओर जहाँ संस्कृत की कविता ऐन्द्रिय चित्रों से भरी पड़ी है, वहाँ दूसरी ओर उसके दर्शन ने प्रकृति, परमाणु, पुरुष, ब्रह्म, अध्यास-जैसे सूक्ष्म प्रत्ययों को उत्पन्न किया है। उसके माध्यम में एक ओर जहाँ कणिक तथा कौटिल्य-जैसे यथार्थदर्शी नीति-विशारदों के मन्तव्य प्रतिपादित हुए, वहाँ दूसरी ओर भगवद्गीता तथा योगवासिष्ठ जैसे धार्मिक ग्रन्थ भी प्रस्तुत किये गये, जिनमें निष्काम कर्मशीलता तथा त्याग की ऊँची से ऊँची शिक्षाएँ मौजूद हैं। संस्कृत वाङमय कितना लम्बा चौड़ा है और उसमें उच्चकोटि के ग्रन्थों की कितनी बड़ी संख्या है; इसका कुछ बोध इस तथ्य से हो सकता है कि संस्कृत भाषा का साहित्य विस्तार एवं मात्रा में यूनानी तथा लैटिन दोनों भाषाओं के सम्मिलित साहित्य से अधिक है। जहाँ तक हमारे देश का प्रश्न है, यहाँ किसी दूसरी भाषा में इतना ऊँचा तथा विस्तृत साहित्य नहीं बना, जैसा कि संस्कृत में। इन्हीं कारणों से यह माना जाता है कि भारतीय संस्कृति के उच्चतम रूपों को समझने के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

संगीतमयता

संस्कृत के प्रायः सभी देशी-विदेशी विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि यह भाषा बड़ी संगीतमय है। संस्कृत काव्य के संगीत का दृढ़ आधार है उसकी शास्त्रीयता अर्थात् नियमबद्धता। जैसा कि हमने संकेत किया था,

संस्कृत के छन्द कठिन नियमों के अनुशासन में बँधकर चलते हैं। यों तो सभी भाषाओं के छन्द नियमानुशासित रहते हैं, किन्तु संस्कृत में यह अनुशासन बहुत ही कठोर बन गया है। विशेषतः ह्रस्व-दीर्घ वर्णों के निश्चित क्रम पर आधारित छन्दों का निर्वाह काफ़ी कठिन होता है। संस्कृत में छन्दों की संख्या बड़ी लम्बी है, यद्यपि काव्यों में सीमित छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। पिंगल के छन्दःशास्त्र में सैकड़ों छन्दों का उल्लेख है और नये छन्दों को बनाने के तरीके भी बतलाये गये हैं। संस्कृत के आचार्यों ने राग-रागिनियों के संबंध में भी विस्तृत चिन्तन किया। विभिन्न कोटियों के पद्यों में राग-रागिनियों के समावेश के ढंग भी आविष्कृत किये गये।

किन्तु केवल छन्दों की विविधता किसी भाषा या उसके काव्य को संगीतमय नहीं बना देती। संस्कृत काव्य जो विशेष संगीतमय जान पड़ता है, उसके मुख्य कारण दो हैं; एक संस्कृत कवियों की विकसित शब्द-मैत्री की संवेदना, और दूसरी सघन या निविड़ शब्दार्थ-योजना, जिससे थोड़े शब्दों में बहुत-सा अर्थ भर दिया जाता है। वस्तुतः काव्य के कलेवर में शब्द-संगीत तथा अर्थ-संगीत को विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। एक ही छन्द में प्रस्तुत किये गये दो पद्यों में बड़ा गुणात्मक भेद हो सकता है। कालिदास ने अपने मेघदूत में मन्दाक्रान्ता छन्द का जैसा संगीतात्मक प्रयोग किया है, वैसा कोई दूसरा कवि नहीं कर सका। इस छन्द में कवि को विवश होकर समास-बहुल शैली का आश्रय लेना पड़ा है, फिर भी उसमें प्रसाद गुण का पर्याप्त सन्निवेश हो सका है। कालिदास के हाथों में अनुष्टुप् छन्द भी विशेष संगीतपूर्ण बन गया है। जहाँ तक शब्दमैत्री का प्रश्न है, संस्कृत काव्य विश्व-साहित्य में बेजोड़ है। श्रेष्ठ कवियों की प्रायः प्रत्येक पंक्ति में किसी न किसी अनुप्रास का पुट रहता है। कालिदास ने क्लिष्ट यमकों की योजना कम ही की है; उनके यमक व अनुप्रास दोनों आयासहीन जान पड़ते हैं। उनकी रचना में शब्द और अर्थ दोनों मिलकर एक अपूर्व प्रसाद गुण से सहचरित सामंजस्य की सृष्टि करते हैं——

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु
निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः।
आभाति लब्धपरभागतयाधरोष्ठे
लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम्।।

रघुवंश, ५ ७

इस पद्य में तवर्ग के अक्षरों की गिनती कीजिए और ध, भ आदि झश् प्रत्याहार के अक्षरों की भी। मालिनी छन्द में निम्न पद्य की सांगीतिक झनकार भी कम मनोहारिणी नहीं है—

इति विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैः कुमारः
सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झांचकार।
मदपटनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः
सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः।।

रघुवंश, ५, ७५

पहले पद्य में तवर्ग के अतिरिक्त विभिन्न वर्गों के चौथे अक्षरों का संचय है; दूसरे में पाँचवें अक्षरों, विशेषतः नकार, का अधिक प्रयोग हुआ है। भारवि तथा माघ में भी शब्द-मैत्री के सुन्दर उदाहरण सर्वत्र सुलभ हैं। भारवि की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

१. स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः। १,१
२. धुन्वन् तनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः। ३, १९
३. निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम्। ३,२१

इन पंक्तियों में प्रथम में व की, दूसरी में नकार तथा ध-भ की और तीसरी में ध-र की आवृत्तियाँ उन्हें विशेष संगीत-संपन्न बना देती हैं। माघ की भी कुछ पंक्तियाँ देख लीजिए—

१. निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानतीनतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभःसदः। १, ११
२. तमर्घ्यमर्घ्यादिकयादिपूरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत्। १, १४
३. ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः। १, ३८

पहली पंक्ति में नकार की, दूसरी में प-र्य की और तीसरी में क्ष की आवृत्तियाँ पाठक की चेतना को अपूर्व शब्द रस से चमत्कृत करती हैं। शेक्सपियर की "हाउ हाई हिज़ हाइनेस होल्ड्ज़् हिज़ हाटी हेड" पंक्ति में अनुप्रास का चमत्कार अवश्य है, पर वह सांगीतिक ओज व झनकार नहीं है जो संस्कृत कवियों की पंक्तियों में पायी जाती है। इस भिन्नता का प्रधान कारण यह है कि संस्कृत के कवि अनुप्रासों के समावेश के लिए अर्थ की निविड़ता तथा गौरव का त्याग नहीं करते, उनके काव्य में, पर्यायों की प्रचुरता के कारण, कठिन से कठिन अर्थ को कम-से-कम शब्दों में प्रकट करने की प्रक्रिया के साथ ही साथ तरह-तरह की शब्द-मैत्री का सहज समावेश होता चलता है।

हमारे देश की आधुनिक व उनसे पुरानी भाषाएँ अंततः संस्कृत से ही निःसृत हुई हैं, फलतः उनके काव्य में भी संस्कृत की अनुप्रास-परम्परा पायी जाती है। उदाहरण के लिए ब्रजभाषा के काव्य में अनुप्रास-विधान की व्यापक प्रवृत्ति रही है। बिहारी-जैसे सतर्क कवियों में अनुप्रासों का सन्निवेश काफ़ी स्वाभाविक हो सका है। किन्तु साधारण कवियों में अनुप्रास अक्सर स्वयं में साध्य बन जाता है, और इस प्रकार अर्थगौरव को क्षत करने का कारण हो जाता है। पद्माकर की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं——

बीथिन में ब्रज में नबेलिन में बेलिन में,
बनन में बागन में बगरचौ बसन्त है।

यहाँ स्पष्ट ही कवि ने अनुप्रास के चमत्कार को अपना प्रधान ध्येय बना लिया है। अर्थ की दृष्टि से पंक्तियों की रचना विशेष उपयुक्त नहीं है, 'बीथियों' के बाद 'ब्रज' का उल्लेख जो कि समस्त क्षेत्र का वाचक है, और उसके बाद बीच में 'नबेलियों' तथा 'बेलियों' का संकेत करते हुए पुनः बनों, बागों आदि का नाम लेना उचित नहीं जान पड़ता। संस्कृत के पद्यों की अपेक्षा इन पंक्तियों में एक दूसरा दोष भी है——इनकी लय नितान्त शिथिल है और इनकी गति में उस सांगीतिक दृढ़ता का अभाव है जो संस्कृत के वर्णवृत्तों में सहज ही सन्निविष्ट हो जाती है। पद्माकर की पंक्तियों में

एक दुर्बल स्त्रैणता है, जिसका माघ आदि की रचनाओं में कहीं आभास नहीं मिलेगा।

सन्धि-रचना और समास-विधान

संस्कृत छन्दों की सांगीतिक दृढ़ता को एक दूसरे स्रोत से भी पुष्टि मिलती है—संस्कृत शैली की सन्धि-रचना एवं समास-विधान से। ये चीज़ें अर्थ व संगीत दोनों में सघनता का पुट ला देती हैं। समासों के प्रयोग द्वारा संस्कृत कवि थोड़े स्थान में बहुत-सी बात कह देता है, और सन्धियाँ उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों में अभिन्नता की स्थापना कर देती हैं। कदाचित् विचारों का प्रकाशन जितने संक्षेप में संस्कृत भाषा में हो जाता है, वैसा कम भाषाओं में संभव है। यों सभी भाषाओं के अच्छे लेखक अपने वक्तव्य को संक्षेप में प्रकट करने के अभ्यस्त होते हैं। नीचे हम विभिन्न संस्कृत कवियों से चमत्कारपूर्ण संक्षिप्त व्यंजनाओं के कुछ उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं—

१. अथ काञ्चनशैलशृङ्गवर्ष्मा **गजमेघर्षभबाहुनिःस्वनाक्षः**

२. स हि काञ्चनपर्वतावदातो हृदयोन्मादकरो वराङ्गनानाम्।
श्रवणाङ्गविलोचनात्मभावान् वचनस्पर्शवपुर्गुणैर्जहार।
बुद्धचरित, ५।२६, ४२

३. इमां हि रम्यां **गजयूथलोडितां निपीततोयां गजसिंहवानरैः।**
रामायण, अ० कांड, ९५, १८

पहले दो पद्यों में कुमार गौतम (बुद्ध) का वर्णन है। उनकी बाँहें, स्वर और आँखें क्रमशः हाथी (की सूँड़), मेघ और वृषभ की जैसी थीं। सुवर्ण पर्वत के समान कान्तिमान् कुमार ने अंगनाओं के कान, अंग, नेत्र व मनोभाव क्रमशः अपने वचनों, रूप व गुणों से हर लिये। राम ने सीता से मंदाकिनी नदी के संबंध में कहा कि इसमें हाथियों के झुंड लोटते हैं, और गज-सिंह-वानर इसका पानी पीते हैं।

महाभारत में व्यावहारिक विवेक व नीति-संबंधी बातें संक्षेप में कहने की कला पराकाष्ठा पर पहुँची दिखाई देती है—

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः॥
क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तम्भो मान्यमानिता।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥
ईर्षुर्घृणी न संतुष्टः क्रोधनो नित्यशंकितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिनः॥

उद्योगपर्व, ३३।१३, १७, ९०

'जिस साधनहीन दुर्बल पुरुष का बलवान् से विरोध है उसे, जिसका धन (सर्वस्व) हर लिया गया है उसे, कामी तथा चोर को नींद नहीं आती।' यहाँ 'हृतस्व' शब्द बहुव्रीहि समास के कारण संक्षेप का बढ़िया उदाहरण बन गया है। अगले श्लोक की एक पंक्ति में छः दोष गिना दिये गये हैं; क्रोध, हर्ष, दर्प, लज्जा, उद्दंडता, अपने को मान्य समझना, ये जिसे पुरुषार्थ से भ्रष्ट नहीं करते वही पंडित (समझदार) है। संक्षेप की यही विशेषता बादवाले पद्य में भी है। जो ईर्ष्यालु है, जो घृणा करनेवाला है, जो असंतुष्ट है, जो क्रोधी है, जो नित्य शंकाशील है और जो पराये भाग्य पर जीवन निर्वाह करता है—ये छः व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकते।

बहुव्रीहि समास का चमत्कार कालिदास के मेघदूत में विशेष लक्षित होता है। अलकापुरी का संकेत करते हुए कवि ने उसे

बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या

अर्थात् 'बाह्य उद्यान में स्थित शिव के सिर में विद्यमान (चन्द्रमा की) चाँदनी से धौत (धोये गये) प्रासादोंवाली' कहा है। यहाँ संपूर्ण पंक्ति अलका का विशेषण है और एकदम स्पष्ट है। मेघदूत में इस कोटि की दर्जनों व्यंजनाएँ आसानी से मिल सकती हैं। वस्तुतः बहुव्रीहि समास की मदद से बननेवाले विशेषण संस्कृत काव्य का एक स्पृहणीय उपकरण हैं।

जहाँ

उद्वूढलोकत्रितयेन सांप्रतं गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया

में स्थूलाक्षर विशेषण बहुव्रीहि समास से युक्त है (जो तीनों लोकों को वहन या धारण किये है), वहाँ

जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकैः

पंक्ति में संक्षेप का कारण तत्पुरुष समास है। (अर्थ है--तीनों लोकों का एक स्थपति अर्थात् निर्माता।)

जैसा कि हमने कहा था, संस्कृत का व्याकरण बड़ा पूर्ण है। शायद ही किसी देश ने ऐसा प्रतिभासंपन्न वैयाकरण उत्पन्न किया होगा जैसे कि पाणिनि थे; उन्होंने संस्कृत-जैसी जटिल भाषा के रूपों को नियमों के अनुशासन में लाने का प्रयत्न किया। इस अनुशासन के फलस्वरूप संस्कृत भाषा सदियों तक अपना रूप स्थिर रख सकी, जब कि विभिन्न प्राकृत भाषाएँ उत्पन्न होकर विकसित व परिवर्तित होती रहीं। व्याकरण के कठोर नियंत्रण का दूसरा फल यह हुआ कि संस्कृत भाषा की व्यंजना एकदम सुनिश्चित एवं स्पष्ट बन गयी। यह स्पष्टता व निश्चयात्मकता शास्त्रीय भाषा की आवश्यक विशेषता है। फलतः संस्कृत में शास्त्रीय साहित्य का खूब विकास हुआ। इस दृष्टि से विभिन्न प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ ही नहीं, आधुनिक भारत की भाषाएँ भी अभी तक संस्कृत का मुकाबला नहीं कर सकतीं। इस देश की दूसरी भाषाएँ मुख्यतः साहित्य का माध्यम बनकर रह गयीं।

किन्तु साहित्य की दृष्टि से व्याकरण के अनुशासन का एक खराब असर भी हुआ। साहित्य में सर्वत्र बहुत-सी स्पष्टता प्रिय नहीं लगती। नारी के समान, साहित्यिक भाषा का सौन्दर्य, एक सीमा तक, रहस्यमय संकेतात्मकता से बढ़ जाता है, यद्यपि यह ठीक है कि रहस्यात्मकता सिर्फ भाषा-रूप माध्यम का गुण नहीं है। कालिदास की

कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बम्

(डोलते हुए कुन्द पुष्पों का अनुगमन करते भौंरों की शोभा चुरानेवाले

कुतूहल भरे नयन-निक्षेप) जैसी पंक्तियाँ, भाषा की चुस्ती के बावजूद, देखने की क्रिया के एक ऐसे सौन्दर्य का संकेत करती हैं जिसकी रूपरेखा स्थिर व सुस्पष्ट नहीं है। फिर भी एक जीवित भाषा में रहस्यात्मकता के संकेत का प्रधान उपकरण शब्दों का ऐसा संगठन होता है जो बहुत स्पष्ट अर्थ नहीं देता, जो भाषा द्वारा पाठक अन्तःकरण में रहस्यमय चेतना का स्फुरण करता है। संस्कृत भाषा का सही प्रयोग जितनी सतर्कता माँगता है, वह इस कोटि के भाषा-संगठनों की सृष्टि में बाधक हो जाती है। संस्कृत कवि को भाषा नामक अस्त्र का उपयोग करते समय लगातार सजग रहना पड़ता था, वह उसके साथ किसी तरह की आज़ादी नहीं ले सकता था; फलतः वह उस अवसर पर अपने को भूलकर अनिर्दिष्ट, अर्धनिरूपित मनोदशाओं की उत्सृष्टि नहीं कर सकता था। यही कारण है कि संस्कृत काव्य में प्रयुक्त अलंकार, उसके साम्य-वैषम्य विधान, कुछ ज्यादा स्पष्ट व तीखे जान पड़ते हैं। नारद तथा कृष्ण की वर्ण-विषमता दिखाने के लिए कवि माघ ने एक की बर्फ के और दूसरे की कोयले के पहाड़ से तुलना कर डाली है। चित्रों को तीव्र व पैना बनाने के लिए संस्कृत के कवि, विशेषतः बाद के कवि, अक्सर अतिशयोक्ति का आश्रय लेते दिखाई देते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति का भी बाद की पीढ़ियों पर प्रभाव पड़ा। किन्तु सूर-जैसे कवियों में, भाषा एवं चित्रों की रचना में, अधिक स्वतःस्फूर्तता व लचक और उससे सहचरित संकेतात्मकता उपलब्ध होती है।

बिनु गुपाल बैरन भईं कुंजैं
तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विसम ज्वाल की पुंजैं,
बृथा बहति जमुना खग बोलत बृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं।

इस पद में भाषा की जो सहजता और भावनाओं का जैसा अतर्कित लोच व प्रवाह है वैसा संस्कृत साहित्य में दुर्लभ है। संस्कृत कविता के प्रत्येक छन्द में प्रत्येक पद सतर्क एवं सुचिन्तित योजना का अंग होता है। आश्चर्य यह है कि इन सब सीमाओं के बावजूद संस्कृत कवि इतनी अनुभूति-प्रवण एवं रसमयी काव्य-रचना कर सके।

उत्कर्षकालीन संस्कृत काव्य में अनुशासन, नियमबद्धता एवं मर्यादा-वादिता का गौरव है। जीवन और काव्यसृष्टि दोनों क्षेत्रों में संस्कृत के कवि डिसिप्लिन तथा मर्यादा पर ज़ोर देते हैं। दिलीप की प्रशंसा करते हुए कालिदास ने लिखा है कि उसकी प्रजा मनु के समय से आती हुई लीकों से वैसे ही नहीं हटती थी जैसे चतुर सारथि द्वारा संचालित रथ के पहियों के घेरे लीक से बाहर नहीं जाते। माघ ने अवश्य ही बलराम के मुख से कहलाया है—

अन्यदुच्छृंखलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम्।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः॥

शिशुपालवध, २।६२

'उच्छृंखल, नियमों को न माननेवाला व्यक्ति दूसरा ही होता है और शास्त्रों के नियंत्रण में चलनेवाला दूसरा; प्रकाश और अंधकार कभी एक जगह नहीं रह सकते।' मतलब यह है कि शास्त्र-नियंत्रित व्यक्ति घटिया होता है। नियमों को मानकर चलना हमेशा वांछनीय नहीं होता; इस तथ्य से कवि माघ परिचित हैं। फिर भी उन्होंने बलराम के वक्तव्य को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया है, जिससे सिद्ध होता है कि अंततः उनकी सहानुभूति उच्छृंखल सत्त्व के साथ नहीं है—अथवा वह सहानुभूति अधूरी है।

संस्कृत कवियों में श्रीहर्ष के ही नायक-नायिका ऐसे हैं जो भावावेश में आकर सामाजिक मर्यादाओं के बंधन को भूल जाते हैं, किन्तु हमें याद रखना होगा कि श्रीहर्ष भारतीय संस्कृति के उत्कर्षकाल के गायक नहीं हैं।

तृतीय खण्ड

भारतीय संस्कृति का मध्ययुग

पाँचवाँ अध्याय

मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति; श्रीहर्ष और तुलसीदास

इस अध्याय में हम दो महाकाव्यों के आधार पर भारतीय संस्कृति के मध्ययुगीन रूप को समझने का प्रयत्न करेंगे। पहला महाकाव्य श्रीहर्ष का 'नैषधीय चरित' है जो संस्कृत का अंतिम महाकाव्य माना जाता है। श्रीहर्ष एक प्रसिद्ध वेदान्ती विचारक भी था; उसने 'खंडन-खंड-खाद्य' नामक प्रसिद्ध वेदान्त-ग्रन्थ लिखा है। यहाँ वेदान्त से हमारा तात्पर्य शंकर द्वारा प्रवर्तित मायावाद-संयुक्त अद्वैत वेदान्त से है। श्रीहर्ष का समय बारहवीं सती का उत्तरार्ध है; वह संभवतः कन्नौज के विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र की सभा का राजकवि था। हमारे देश के इतिहास में यह वह समय था जब इस देश पर मुसलमानों के हमले शुरू हो गये थे। हिन्दुस्तान पर पहला महत्त्वपूर्ण मुसलमानी हमला एक हजार ईसवी के लगभग महमूद गज़नबी द्वारा किया गया। उसने पंजाब के राजा जयपाल को पराजित किया। सन् एक हजार अठारह में महमूद ने कन्नौज पर हमला किया और लूट का बहुत-सा धन लेकर चला गया। सन् एक हजार छब्बीस में उसने काठिया-वाड़ में प्रसिद्ध सोमनाथ के मंदिर पर आक्रमण किया। वहाँ भी वह मन्दिर की बहुत-सी संपत्ति लूटकर ले गया। सन् ग्यारह-सौ पचहत्तर ईसवी में गज़नी में दूसरे राजा मुहम्मद गोरी ने इस देश के कुछ भागों पर हमला किया। सन् ग्यारह-सौ तिरानबे ईसवी में उसने प्रसिद्ध चौहान सम्राट् पृथ्वीराज को हराकर क्रमशः अजमेर, दिल्ली आदि पर अधिकार जमा लिया। बाद में मुहम्मद गोरी के गुलाम कुतुबुद्दीन ने ग्यारह-सौ चौरानबे ईसवी में कन्नौज के राजा जयचन्द को पराजित किया।

नैषधीय चरित का काव्यत्व

इस ऐतिहासिक विवरण से एक बात स्पष्ट है; अब हिन्दू जाति, विभिन्न कारणों से, अवनति की ओर अग्रसर हो रही थी। श्रीहर्ष का काव्य इस ह्रास-कालीन युग की उपज है। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' 'नैषधीयचरित' के प्रायः चार-सौ वर्ष बाद अकबर के राज्यकाल में लिखा गया। यदि हम मुसलमानों के शासनकाल को मध्ययुग की संज्ञा दें तो कहना होगा कि नैषधीय चरित इस युग के प्रारम्भ की रचना है और रामचरितमानस उस समय की, जब मध्ययुगीन सभ्यता अपने उच्चतम शिखर पर थी।

नैषधीय चरित का लेखक, विशुद्ध कवित्व की दृष्टि से, भारवि, माघ आदि से घटकर नहीं है। संस्कृत भाषा पर उसका पूर्ण अधिकार है, और उसमें नये शब्द-संगठनों, व्यञ्जनाओं तथा चित्रों को उत्सृष्ट करने की क्षमता है। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वह उत्कर्षकालीन कवियों के समकक्ष नहीं कहा जा सकता। श्रीहर्ष का सौन्दर्यबोध तथा नीतिबोध बहुत दूर तक परम्परा का——उत्कर्षकालीन उदात्त परंपरा का——अनुसरण करता है। ऐसे बोध के प्रकाशन में जहाँ-तहाँ पर्याप्त नवीनता तथा चमत्कार है। किन्तु इस बोध के साथ वह अपने युग के विशिष्ट बोध को अनजाने ही मिश्रित कर देता है, जिससे प्रसंगविशेष का समग्र प्रभाव मिश्रित, कुछ घटिया कोटि का बन जाता है। कहने का मतलब यह कि 'नैषधीय चरित' में ऊँचे तथा घटिया सौन्दर्य-बोध का संकुल मिश्रण है। जहाँ उसके बढ़िया सौन्दर्य-बोध का स्रोत भारतीय काव्य की उदात्त परम्परा है, वहाँ मानना चाहिए कि उस बोध की कमियों तथा जिह्मताओं का हेतु उसके युग का अपेक्षाकृत निचला सांस्कृतिक धरातल है।

श्रीहर्ष का काव्य इस तथ्य का अर्थपूर्ण निदर्शन है कि किसी कवि या लेखक की संवेदना अनिवार्य रूप में उसकी युगीन चेतना से प्रभावित होती है। श्रीहर्ष के सौन्दर्यबोध की कमियों का लगाव काव्य की विषयवस्तु तथा उसके रूपाकार (फार्म) या शैली दोनों से ही है। पहले फार्म या

शैली की ओर ध्यान दीजिए। 'रघुवंश' में उन्नीस सर्ग हैं, 'किरातार्जुनीय' में अठारह और 'शिशुपालवध' में बीस। 'नैषधीय चरित' में पूरे बाईस सर्ग हैं, यद्यपि उसकी कथा का विस्तार उक्त तीनों महाकाव्यों से छोटा है। कथा की दृष्टि से 'रघुवंश' की विषयवस्तु सबसे विस्तृत है, और वही सबसे छोटा भी है। इसका मतलब यह हुआ कि रघुवंश का लेखक अपने वर्णनों में कहीं भी अनावश्यक विस्तार नहीं करता। साथ ही उसे वर्णन के लिए तरह-तरह के विषय या प्रसंग भी सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरण के लिए रघुवंश में कवि बिना किसी कृत्रिमता के वसिष्ठाश्रम, रघु की दिग्विजय, इन्दुमती स्वयंवर, अज-विलाप, वसन्त-वर्णन, समुद्र-वर्णन आदि के अवसर पा सका है। भारवि तथा माघ इनमें से कई प्रसंगों के वर्णन का मौका नहीं पा सके, किन्तु उन्होंने कतिपय नये प्रसंगों की सफल परिकल्पना की। किरातार्जुनीय में युधिष्ठिर के साथ वनेचर, द्रौपदी, भीमसेन और व्यास के संवाद ऐसे ही प्रसंग हैं। शिशुपालवध में कृष्ण के साथ नारद, बलराम तथा उद्धव के वार्तालाप भी रोचक व स्वाभाविक बन सके हैं। इस कोटि के संवादों ने भारवि तथा माघ की विशिष्ट संवेदनाओं के प्रकाशन के सुन्दर अवसर उपस्थित किये। राजनीति तथा धर्मनीति से संबंधित प्रसंगों के समावेश से किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध में निश्चय ही अर्थ-गौरव आ सका है। इसी प्रकार शिशुपालवध में शिशुपाल तथा कृष्ण के भी पक्ष के वीरों की रोषपूर्ण भंगिमाओं का चित्रण बड़ा प्रभावशाली एवं मौलिक है। फिर भी कहना पड़ता है कि भारवि तथा माघ अपने काव्यों में उतना बढ़िया प्रसंग-निर्वाह नहीं कर सके हैं जैसा कि 'कुमारसंभव' तथा 'रघुवंश' में हुआ है। किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध दोनों में प्रकृति, पान-गोष्ठी आदि के अनेक वर्णन अप्रासंगिक जान पड़ते हैं, जिनका समावेश काव्य-कलेवर में वृद्धि के लिए ही किया गया है।

इस दृष्टि से श्रीहर्ष भारवि तथा माघ से कहीं अधिक दोषी है। 'नैषधीय चरित' में सर्गों की संख्या अधिक है; इतना ही नहीं, उसके सर्ग बड़े लम्बे भी हैं। 'नैषध' के पहले सर्ग में १४५ पद्य हैं, दूसरे में ११०, तीसरे में

१३६, चौथे में १२३ और इसी प्रकार आगे भी। इसके विपरीत 'किरातार्जुनीय' के पहले सर्ग में सिर्फ ४६ पद्य हैं, दूसरे में ५९, तीसरे में ६०, चौथे में ३८, इत्यादि। 'शिशुपालवध' के पहले सर्ग में ७४ पद्य हैं, दूसरे में दो पंक्तियों वाले ११५ श्लोक तथा तीन दूसरे पद्य, तीसरे में ८२, चौथे में ६८ और इसी प्रकार आगे। 'नैषधीय चरित' पद्यसंख्या में 'किरातार्जुनीय' से दूने से कम नहीं होगा और 'शिशुपालवध' से भी बहुत बड़ा है। आश्चर्य की बात तो यह है कि वक्तव्य अथवा कथा की दृष्टि से श्रीहर्ष को उतनी भी बातें नहीं कहनी हैं जितनी की 'किरातार्जुनीय' तथा 'शिशुपालवध' में कही गयी हैं। अर्थगौरव की दृष्टि से श्रीहर्ष का काव्य उत्कर्ष-काल के तीनों ही महाकवियों की कृतियों से घटकर है।

प्रश्न है, श्रीहर्ष के काव्य की इस विशालता का क्या रूप व रहस्य है। किस प्रकार, किन चीजों के समावेश से, उसका कलेवर इतना बड़ा बन सका है? हमारी समझ में इस कलेवरवृद्धि के दो मुख्य रूप तथा हेतु हैं। प्रथमतः श्रीहर्ष में अनुकरण की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी हुई है, दूसरे उसने अपने काव्य में कुछ ऐसी बातों का समावेश किया है जिनका सम्बन्ध उसके विशिष्ट युग अथवा उसकी मनोवृत्ति से है।

श्रीहर्ष ऐसा मानता प्रतीत होता है कि अच्छी चीज की अच्छाई केवल गुण पर नहीं, मात्रा पर भी निर्भर करती है। कालिदास आदि ने अपने काव्यों में जिन रोचक प्रसंगों का समावेश किया है, उनमें से कुछ का समावेश नैषधीय चरित में हुआ है, किन्तु यहाँ उन प्रसंगों को अनावश्यक विस्तार दे दिया गया है। उदाहरण के लिए रघुवंश के पाँचवें सर्ग में तरुण अवस्था के बन्दी-भाटों द्वारा अज को जगाने के लिए कुछ पद्य गवाये गये हैं। ये पद्य बड़े सुन्दर हैं, उनकी संख्या सिर्फ आठ है। इसके अनुकरण में श्रीहर्ष ने सम्पूर्ण उन्नीसवाँ सर्ग राजा नल को जगाने के प्रसंग को लेकर रच दिया है, और इस सर्ग में हरिणी-जैसे बड़े छन्द में साठ पद्य हैं, और दूसरे बड़े छन्दों में बाकी सात पद्य। इन्दुमती-स्वयंवर के प्रसंग में सुनन्दा द्वारा नायिका को अनेक राजाओं के सामने उपस्थित किया गया है, इन राजाओं के वर्णन

में कालिदास ने लगभग चालीस पद्य व्यय किये हैं। श्रीहर्ष ने दमयन्ती-स्वयंवर के इस प्रसंग का वर्णन पूरे तीन सर्गों में किया है, इनमें से दूसरे राजाओं का वर्णन है और तीसरे में पाँच नलों का। इन सर्गों से पहले सरस्वती आदि का भी लम्बा वर्णन है--राजाओं का परिचय देने का कार्यभार स्वयं सरस्वती ने ग्रहण किया था। इसी तरह श्रीहर्ष ने दूसरे प्रसंगों के भी वर्णन जरूरत से ज्यादा लम्बे प्रस्तुत किये हैं। सम्पूर्ण इक्कीसवें सर्ग में सौ से अधिक पद्यों में नल द्वारा देव-पूजा तथा विभिन्न अवतारों की स्तुतियों का उल्लेख या वर्णन है। मानो एक रूप में भगवान् की स्तुति कर लेना पर्याप्त नहीं है। यहाँ स्मरण रहे कि रघुवंश तथा कुमारसंभव में विष्णु व ब्रह्मा की स्तुतियाँ रावण तथा तारकासुर से पीड़ित देवताओं द्वारा विशेष अवसर पर की गयी हैं।

नायक का सौन्दर्य वर्णन

श्रीहर्ष ने नल तथा दमयन्ती के सौन्दर्य-वर्णन में भी बड़े विस्तार का प्रदर्शन किया है। 'कुमारसंभव' में कालिदास ने पार्वती के सौन्दर्य-वर्णन में सिर्फ उन्नीस श्लोक लिखे हैं। इसके विपरीत नैषधीय चरित में दमयन्ती का वर्णन करनेवाले श्लोकों की संख्या कई सौ होगी, कारण यह है कि यह वर्णन कई जगह अनेक दर्शकों की दृष्टि से कराया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीहर्ष के ये वर्णन बहुत कुछ गतानुगतिकता तथा पिष्टपेषण के बावजूद आकर्षण बन सके हैं। इस सम्बन्ध में श्रीहर्ष का नयापन इस बात में है उसने नल के शारीरिक सौन्दर्य का भी लम्बा-चौड़ा वर्णन प्रस्तुत किया है। यह वर्णन उत्कर्षकालीन काव्य की मर्यादाओं के विरुद्ध है। वहाँ नारी-सौन्दर्य की ही विवृति का विशेष प्रयत्न मिलता है; पुरुष-नायकों के संबंध में स्वभाव, चरित्र आदि की विशेषताओं का उल्लेख ही महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। वस्तुतः श्रीहर्ष द्वारा वर्णित नल के सौन्दर्य में कुछ हद तक स्त्रैणता का पुट दिखाई देता है। श्रीहर्ष ने नल का नख-शिख वर्णन करने का कुछ वैसा ही प्रयत्न किया है जैसा नायिकाओं के संबंध में किया जाता है--

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा
क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां
न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः॥

नैषधीय चरित, १।२०

'उसके चरणों ने कमलों के प्रति घृणा (जुगुप्सा या दया) धारण की; कोपलों में उसके हाथ की शोभा की छाया का लेश भी कहाँ था? और शरद का पूर्ण चन्द्रमा उसके मुख की दासता के योग्य भी न था—समानता का तो प्रश्न नहीं उठता?' नल के सौन्दर्य-वर्णन में सर्वत्र कवि ने इसी प्रकार अतिशयोक्ति से काम लिया है। फिर भी यह मानना पड़ता है कि वह सौन्दर्य-वर्णन जहाँ-तहाँ प्रभाशवशाली हो सका है—

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया
निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभ्रुवां
नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोभवत्॥
न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं
जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम्।
तदात्मताध्यातधवा रते च का
चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम्॥

नैषधीय चरित, १।२६, ३०

'राजा नल कामदेव के समान सुन्दर था और उसके प्रति चित्त में काम-वासना का उद्रेक होता था; इस प्रकार तीनों भुवनों की सुन्दरियों के मन में उस नरपति में दो प्रकार का काम-विभ्रम होता था। ऐसी कौन-सी स्त्री थी जो नल का स्वप्न नहीं देखती थी और धोखे से नल का नाम नहीं ले लेती थी? कौन-सी नारी थी जो रति के समय अपने पति को नल के रूप में ध्याती हुई काम-विवश नहीं हो जाती थी?'

अतिशयोक्ति के बावजूद ऊपर के पद्य हृदय पर प्रभाव डालते हैं। पहले सर्ग के प्रारम्भ में श्रीहर्ष ने नल के दूसरे गुणों का भी वर्णन किया है—उसकी शूरता का, उसके शास्त्र-ज्ञान का, उसकी उदारता एवं दान-शीलता का; किन्तु ये वर्णन परम्परा-भुक्त से हैं। सोलह वर्ष की अवस्था से पहले ही नल ने सारी पृथ्वी को जीत लिया था; यह सूचना केवल सूचना जान पड़ती है, वह हमारी रसानुभूति का अंग नहीं बन पाती। कालिदास ने एक पूरे सर्ग में रघु की दिग्विजय का वर्णन किया है, उन्होंने रघु तथा इन्द्र के संघर्ष का भी उल्लेख किया है। फलतः हमें रघु की वीरता का रसात्मक बोध होता है। 'इन्दुमती-स्वयंवर' में अज तथा दूसरे राजाओं के युद्ध का भी वर्णन है। श्रीहर्ष के लंबे काव्य में ऐसा वर्णन कहीं नहीं दिया गया है। संपूर्ण काव्य की कथा मुख्यतः यही प्रभाव उत्पन्न करती है कि नल एक बहुत सुन्दर एवं अनुरागी पुरुष थे।

दमयन्ती तथा नल दोनों के ही सौन्दर्य का वर्णन कई जगह किया गया है। हंस के द्वारा दमयन्ती के सामने नल के रूप की प्रशंसा करायी गयी है। नैषधीय चरित में हंस को कुछ ज्यादा महत्त्व दिया गया है और उसे लेकर बहुत से पद्य लिखे गये हैं। हंस के द्वारा किया गया नल के रूप का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण तो है ही, साथ ही पौराणिक व्यक्तियों के संकेतों से युक्त और हलका भी है। ब्रह्मा के प्रति क्रोध प्रकट करते हुए हंस कहता है—

धिक् तं विधेः पाणिमजातलज्जं
निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम्।
मन्ये स विज्ञः स्मृततन्मुखश्रीः
कृत्वार्धमौज्झद्धरमूर्ध्नि यस्तम्॥

नैषधीय चरित, ३।३२

'विधाता के उस लज्जाहीन हाथ को धिक्कार है जो हर पूर्णिमा की रात में पूर्ण चन्द्र को निर्मित कर देता है। (जब नल का सुन्दर मुख मौजूद

है तो फिर पूर्ण चन्द्र के निर्माण की क्या जरूरत है ?) मानना चाहिए कि नल के मुख की शोभा को याद करते हुए ही ब्रह्मा ने शिवजी के माथे पर चन्द्रमा को अर्धरचित ही छोड़ दिया था।' इस प्रकार की उत्प्रेक्षाएँ हलके चमत्कार से युक्त भले ही हों, किन्तु सौन्दर्य-बोध तथा रसानुभूति को आगे बढ़ाने में बिलकुल ही सहायक नहीं होतीं। नीचे के दो पद्य भी ऐसे ही, बल्कि इससे भी खराब हैं—

अस्मत् किल श्रोत्रसुधां विधाय
रम्भा चिरं भामतुलां नलस्य।
तत्रानुरक्ता तमनाप्य भेजे
तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा॥
स्वर्लोकमस्माभिरितः प्रयातैः
केलीषु तद्गानगुणान्निपीय।
हा हेति गायन्यदशोचि तेन
नाम्नैव हाहा हरिगायनोऽभूत्॥

नैषधीय चरित, ३।२६, ३७

'हमसे नल के अतुल सौन्दर्य के बारे में सुनकर रम्भा नाम की अप्सरा नल में बड़ी अनुरक्त हो गयी; किन्तु, क्योंकि वह उसे नहीं पा सकती थी, इसलिए उसने उस राजा के नाम की गन्ध से युक्त होने के कारण नलकूबर को स्वीकार कर लिया। नल के सुन्दर संगीत को सुनने के बाद स्वर्ग में पहुँचकर इन्द्र के गायक के गीत सुनते हुए हमारे मुख से अफसोस के साथ निकल गया—हा, हा ! फलतः इन्द्र के गायक का नाम 'हा-हा' पड़ गया। (कोश के अनुसार हाहा शब्द का अर्थ है स्वर्ग का गन्धर्व या गायक)।' इस कोटि की हलकी उत्प्रेक्षाओं से उन्हीं का मनोविनोद हो सकता है जिनकी अभिरुचि बालकों-जैसी है। जो दमयन्ती हंस की ऐसी बातें सुनकर नल पर मुग्ध हो गयी, उसकी रुचियाँ कितनी विकसित रही होंगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। वस्तुतः श्रीहर्ष के नल और दमयन्ती के व्यक्तियों में

शारीरिक सौन्दर्य से भिन्न मनस्विता, गरिमा आदि गुणों का उचित समावेश नहीं हो सका है।

मानवीयता का ह्रास

उपर्युक्त कोटि के वर्णन एक महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक प्रश्न उपस्थित करते हैं; क्यों ये वर्णन उदात्त एवं प्रभावशाली नहीं जान पड़ते? श्रीहर्ष की वाणी में विदग्धता की कमी नहीं है, उसमें अलंकारों के विधान की भी पर्याप्त क्षमता है। उसका भाषाधिकार माघ से घटकर नहीं है। दयमन्ती के स्वयंवर में भारती या सरस्वती इन्द्र आदि के समक्ष राजकुमारी से ऐसे बात करती है कि उसके वक्तव्य एक साथ ही नल नामक राजा तथा उसका वेश धारण करनेवाले इन्द्र या दूसरे देवता पर लागू हो जायँ। दूसरे स्थलों में भी श्रीहर्ष ने अपने भाषा-ज्ञान का पर्याप्त परिचय दिया है। भाषा के साथ ही उसका पौराणिक कथाओं पर भी विस्तृत अधिकार है। इन कथाओं का ज्ञान उसके काव्य के लिए घातक सिद्ध हुआ है। नैषधकार जहाँ-तहाँ पौराणिक घटनाओं के संकेत प्रस्तुत कर देता है। जान पड़ता है जैसे वह मानव-जगत् को पौराणिक कहानियों के लोक की मदद से प्रकाशित करना चाहता हो। फल यह हुआ है कि बहुत-से स्थलों में उसके काव्य की मानवीयता, मानवोचित आकर्षण, बहुत-कुछ क्षत हो गया है। श्रीहर्ष को यह ज्ञात नहीं कि काव्य-साहित्य का असली व एक मात्र विषय मानव-जीवन एवं मानव-जगत् है। पुराणों के आख्यान भी हमें वहीं तक अच्छे लगते हैं जहाँ तक उनमें मानव-जीवन से संबंधित स्थितियों की दिलचस्पी मिलती है; काव्य के लिए पौराणिक गाथाएँ स्वयं में साध्य तथा महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। किसी कवि की महत्ता का माप उसका मानव-जीवन-सम्बन्धी अनुभव या बोध होता है, किसी दूसरे प्रकार का ज्ञान या बोध नहीं। श्रीहर्ष के वर्णन अक्सर मानवीयता की सीमा का उल्लंघन करते हैं।

हम पहले संकेत कर चुके हैं कि नैषधीय-चरित के कतिपय वर्णन आवश्यकता से अधिक लम्बे हैं। दमयन्ती-स्वयंबर का वर्णन करनेवाले कई

सर्ग इसी कोटि में आते हैं। इस स्वयंवर में कवि ने अपने पौराणिक ज्ञान का बड़ा ही दुरुपयोग किया है। कालिदास द्वारा वर्णित इन्दुमती के स्वयंवर में सिर्फ मानव राजा या शासक उपस्थित हुए थे; दमयन्ती के स्वयंवर में इन्द्र आदि नल-रूपधारी देवताओं के अतिरिक्त वासुकि नाग-जैसे अमानवीय सत्त्व भी आ पहुँचे थे। वस्तुतः दमयन्ती को जिन परिणयप्रार्थी व्यक्तियों के सामने पहुँचाया गया है, उनमें सर्वप्रथम सर्पराज वासुकि ही हैं। पाठक अनुमान कर सकते हैं कि ऐसे जीव का वर्णन कहाँ तक मानवोचित रस-भावना की सृष्टि कर सकता है। इसी प्रकार विभिन्न राजाओं के वर्णन के बीच में जगह-जगह उज्जयिनी, काशी आदि नगरियों का वर्णन है, जिसका प्रकृत प्रसंग से विशेष सम्बन्ध नहीं है। काशी नगरी पापों को काटनेवाली है और मोक्ष देनेवाली है; यह संकेत एक ऐसी युवती के लिए कोई महत्त्व नहीं रखता जो ऐहलौकिक सुखोपभोग के लिए उपयुक्त पति का वरण करने चली है।

प्रकृति-वर्णन

श्रीहर्ष के प्रकृति-वर्णनों में भी इसी तरह अनावश्यक पौराणिक तथा दूसरी कोटि के विवरणों का समावेश किया गया है। उन्नीसवें सर्ग में बन्दियों द्वारा प्रभात-वर्णन कराया गया है; यह वर्णन एकदम ही उबानेवाला है। जान पड़ता है, श्रीहर्ष में प्रकृति-सौन्दर्य के आकलन एवं वर्णन की क्षमता बड़ी सीमित है; कवि का मन उस सौन्दर्य में रमता हुआ बहुत कम दिखाई देता है। ऐसे स्थल में सिर्फ प्राचीन काव्य का ज्ञान पर्याप्त नहीं होता। यहाँ भी श्रीहर्ष ने मुख्यतः पौराणिक कथाओं एवं अरोचक धर्म-विधानों के ज्ञान का नीरस परिचय दिया है। पाठकों की जानकारी के लिए हम सिर्फ दो पद्य उद्धृत करेंगे—

व्रजति कुमुदे दृष्ट्वा मोहं दृशोरपिधायके
भवति च नले दूरं तारापतौ च हतौजसि।
लघु रघुपतेर्जायां मायामयीमिव रावणि-
स्तिमिरचिकुरग्राहं रात्रिं हिनस्ति गभस्तिराट्॥

प्रथममुपहृत्यार्घं तारैरखण्डिततण्डुलै-
स्तिमिरपरिषद्दूर्वापर्वावलीशबलीकृतैः।
अथ रविरुचां ग्रासातिथ्यं नभः स्वविहारिभिः
सृजति शिशिरक्षोदश्रेणीमयैरुदसक्तुभिः।।
नैषधीय चरित, १९।८, १४

'अंधकार-रूपी केशों को पकड़कर सूर्य रात्रि को वैसे ही मारता है जैसे रावणपुत्र मेघनाद ने मायामयी सीता को मारा था––उस समय, जब कुमुद (पुष्पविशेष तथा कुमुद नाम का वानर) मोह या मूर्च्छा को प्राप्त हो रहा है, नल (राजा नल और उस नाम का वानर जो राम की सेना में था) आँखें बन्द किये हुए हैं और तारापति (चन्द्रमा या सुग्रीव) का तेज नष्ट हो चुका है। आकाश सूर्य की कान्तियों का आतिथ्य-सत्कार कर रहा है; तिमिर-समूह-रूपी दूब की गाँठों से जिनका रंग शबल (चितकबरा) हो रहा है ऐसे नक्षत्र-रूपी साबित चावलों से उन्हें अर्घ देकर (पूजकर) ओस की बिन्दुओं के चूर्णरूप जल-भीगे सत्तू भोजन के लिए अर्पित कर रहा है।'

यहाँ पहले पद्य में रामकथा के कुछ पात्रों का संकेत है, जिसका प्रकृत वर्णन से दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। पाठक इस स्थल की तुलना माघ के सूर्योदय व प्रभात के वर्णनों से करें। इसी प्रकार दूसरे पद्य में बाँधा हुआ रूपक भी अर्थहीन है। दोनों ही पद्य हमारी चेतना में सौन्दर्य का उन्मेष करने में असमर्थ हैं।

श्रीहर्ष द्वारा चित्रित सौन्दर्य तथा प्रणय-प्रसंगों में एक नयी चीज देखी जाती है, अर्थात् नायक-नायिकाओं में प्रत्याशित संयम-शीलता की कमी। नायक-नायिकाओं से भिन्न व्यक्तियों में संयम की शिथिलता का संकेत कालिदास, माघ आदि में भी मिलता है। रघुवंश में राह से गुजरते हुए कुमार अज को देखने के लिए नगर की स्त्रियाँ बड़ी उत्कंठा और त्वरा से गवाक्षों या खिड़कियों की ओर दौड़ती दिखलायी गयी हैं। इस प्रकार दौड़कर पहुँचने की जल्दी में कोई अपने केशपाश को बाँधना भूल गयी, कोई करधनी के धागे में मणियों को पिरोना; किसी ने एक आँख में अंजन लगा लिया था

तो दूसरी में लगाये बिना ही कुमार को देखने दौड़ पड़ीं।[१] इस प्रकार का वर्णन कालिदास से पहले अश्वघोष के 'बुद्धचरित' में मिलता है,[२] यद्यपि वहाँ यह वर्णन उतना चमत्कारपूर्ण नहीं हो सका है जैसा कि रघुवंश में। माघ के 'शिशुपालवध' में भी श्री कृष्ण के इन्द्रप्रस्थ-प्रवेश के अवसर पर प्रदर्शित पुरनारियों की चेष्टाओं का वर्णन किया गया है। नैषधीय-चरित के पन्द्रहवें सर्ग में श्रीहर्ष ने इन वर्णनों का यथास्थान अनुकरण किया है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, श्रीहर्ष ने कालिदास आदि के द्वारा वर्णित प्रसंगों का यथासंभव समावेश तो किया ही है, अक्सर उन प्रसंगों को ज्यादा लम्बा भी बना दिया है।

किन्तु नैषध में, कथा की प्रकृति के अनुरूप, कहीं-कहीं नये प्रसंगों का समावेश भी हुआ है। अवश्य ही ये सब प्रसंग काव्य की प्रगति और उसके सौन्दर्य के लिए हितकर नहीं हुए, फिर भी कुछ प्रसंगों की सुन्दरता तथा प्रभावशीलता निर्विवाद है। ऐसे प्रसंगों में सबसे श्रेष्ठ एवं प्रभावशाली प्रसंग नल द्वारा इन्द्र आदि देवताओं के सन्देश का दमयन्ती के सामने उपस्थापन है। नल स्वयं दमयन्ती में नितान्त अनुरक्त हैं, फिर भी वे बड़े धैर्य और संयम के साथ दमयन्ती के समक्ष न केवल प्रेमिक देवताओं के सन्देश ही रखते हैं, बल्कि दमयन्ती को यह समझाने की कोशिश भी करते हैं कि उसे इन्द्र आदि शक्तिशाली देवताओं में से किसी एक का वरण कर लेना चाहिए। इस प्रसंग में नल दमयन्ती को यह भी बतलाते हैं कि देवताओं के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करने के क्या-क्या बुरे परिणाम हो सकते हैं। नल के इस व्यवहार द्वारा कवि ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि वे एक धर्मभीरु एवं कर्तव्यनिष्ठ पुरुष थे।

किन्तु इसी प्रसंग में श्रीहर्ष ने दिखलाया है कि किस प्रकार नल-जैसा

१. रघुवंश. सर्ग ७, श्लोक ६ तथा आगे।

२. बुद्धचरित, सर्ग ३, १५ और आगे।

कर्तव्यपरायण पुरुष भी, एक सीमा तक ही आत्मनियंत्रण एवं धैर्यशीलता का निर्वाह कर सकता है। देवताओं के पक्ष को दमयन्ती के सामने पूरी शक्ति व ईमानदारी से प्रस्तुत करने की धुन में नल ने उससे यहाँ तक कह डाला कि यदि किसी कारण उसने एक या दूसरे देवता का वरण नहीं किया तो वे लोग उसे विपत्ति में डालने से न चूकेंगे और इस प्रकार वह किसी भी प्रकार राजा नल का वरण करने में सफल नहीं हो सकेगी। निष्कर्ष यह कि देवताओं की इच्छाओं का विरोध करते हुए दमयन्ती के लिए यह किसी भी तरह संभव नहीं है कि वह अपने प्रेमास्पद नल से परिणय कर सके——

> इदं महत्तेऽभिहितं हितं मया विहाय मोहं दमयन्ति चिन्तय।
> सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः॥
> नैषधीय चरित, ९, ८३

'हे दमयन्ती! मैंने यह जो तुमसे कहा, वह बहुत हितकारक है; मोह को छोड़कर उस पर विचार करो। जब देवता विघ्न करनेवाले हों तो कोई मनुष्य हाथ में मौजूद चीज को भी कैसे प्राप्त कर सकता है?' ऐसी बातें सुनने पर दमयन्ती उन पर विश्वास करके रोने लगी। आँखें मानो सावन-भादों बन गयीं। उसकी आँखों से बहकर काजल से काले हुए आँसू कुचों की दिशा में वैसे ही गिरने लगे जैसे कलियों की ओर भौंरे प्रभावित होते हैं। काम के बाणों से पीड़ित व काँपती हुई वह उस समय शोक अथवा वियोग-शृंगार के रस की सरसी जैसी दीख पड़ी——उसके नीलोत्पल जैसे लोचनों से आँसुओं की धाराएँ बह रही थीं। दुःख से मतिभ्रष्ट होकर, धैर्य-शून्य होती हुई वह तरह-तरह के प्रलाप करने लगी——'हे कामाग्नि! तुम जल्दी करो, मेरे शरीर की भस्मरूपी कीर्ति का शीघ्र विस्तार करो। हे हृदय! यदि तुम लोहे के बने हुए हो तो भी वियोग की आग से तपकर द्रवित क्यों नहीं हो जाते? तुम वज्र तो हो नहीं——क्योंकि कामदेव के बाण तुम्हें भेद डालते हैं। फिर तुम विदीर्ण क्यों नहीं हो जाते? हे प्राण! तुम्हारा

हृदय-रूपी घर जल रहा है, फिर तुम क्यों नहीं शीघ्र ही उसे छोड़कर चले जाते, क्यों आलस्य कर रहे हो?[३]

दमयन्ती के मुख से इस प्रकार के प्रलाप-उद्गार सुनकर नल आत्म-विस्मृत हो गये। वे यह भूल गये कि वे देवताओं के दूत बनकर आये हैं, और उन्होंने दमयन्ती को अपना सही परिचय दे डाला। वे कुछ ऐसा महसूस करने लगे जैसे दमयन्ती उनकी प्रेयसी है जो रुष्ट होकर मान का अभिनय कर रही है यह मानकर नल उसे तरह-तरह के वचनों से प्रसन्न करने की कोशिश करने लगे। उन्होंने कहा—हे प्रिये, तुम किसके लिए विलाप कर रही हो और तुम्हारा मुख क्यों आँसुओं से आच्छादित हो रहा है? क्या तुमने अपने तिर्यक् देखनेवाले नेत्रों से सामने खड़े इस नल को (चरणों में) गिरते हुए नहीं देखा? तुमने हाथ के क्रीड़ा-कमल को नीचे क्यों फेंक दिया, और अब उसकी जगह अपने मुख को वहाँ क्यों रख लिया है? वक्षःस्थल पर से आभूषणों को हटाकर तुम आँसुओं का हार क्यों बना रही हो? आँखों से गिरता हुआ यह जल अमंगलकारी है, इसे मैं अपने हाथों से पोंछ दूँ? यदि मुझसे अपराध हुआ है तो उसे तुम्हारे चरण-कमलों की धूल के साथ अपने सिर से हटा दूँ?[४]

काफी देर बाद नल को यह आभास हुआ कि वे अपनी स्थिति को भूल गये हैं, और उन्होंने इस बात पर पश्चात्ताप प्रकट किया। किन्तु आत्म-विस्मृत होने से पहले वे दूत के कर्त्तव्य का भली-भाँति निर्वाह कर चुके थे। इस प्रकार श्रीहर्ष ने एक असामान्य स्थिति में नल की कर्तव्य-भ्रष्टता दिखालते हुए भी उसे वस्तुतः कर्तव्य से च्युत होते नहीं दिखलाया है। नैषधीयचरित का यह प्रसंग श्रीहर्ष की काव्य-प्रतिभा का सबसे बढ़िया निदर्शन है।

इस प्रसंग के अतिरिक्त स्थलों में श्रीहर्ष ने प्रकृत काव्य-निर्माण-शक्ति

३. **नैषधीय चरित, ९।८८–९०।**

४. वही, ९।१०३, १०५, १०६।

का कम ही परिचय दिया है। नैषधीयचरित के कथानक की एक विचित्रता यह है कि नायक और नायिका दोनों ही एक दूसरे को बिना देखे तीव्र अनुराग का अनुभव करने लगते हैं। दोनों ही वियोग के कष्ट का अनुभव करते हैं। श्रीहर्ष की यह कल्पना भी नयी कही जा सकती है। फिर भी उसके वियोग-वर्णन उतने यथार्थ एवं प्रभावशाली नहीं जान पड़ते। 'कुमारसंभव' में रति शिवजी द्वारा भस्मसात् किये हुए पति को याद करके विलाप करती है। वैसे ही 'रघुवंश' में राजा अज अपनी मृतक प्रिया इन्दुमती की याद करके रोते हैं। रति और अज दोनों उन सुख की स्थितियों का स्मरण करते हैं जिनका मृत साथी के साहचर्य से सम्बन्ध था। स्पष्ट ही नल और दमयन्ती दोनों, जिन्होंने एक-दूसरे को अभी तक नहीं जाना है, वैसी स्थितियों का स्मरण नहीं कर सकते। (कवि ने नल के वियोग का वर्णन पहले सर्ग में किया है और दमयन्ती के विरह-कष्ट का वर्णन चौथे सर्ग में हुआ है; तब तक दोनों ने एक-दूसरे को बिलकुल ही नहीं देखा था।) फलतः दोनों के विरह-वर्णन को प्रभावशाली बनाने के लिए कवि को अतिशयोक्ति का अधिक आश्रय लेना पड़ा है। इसके विपरीत कालिदास के वर्णनों में अतीत सुख की स्थितियों के चित्रों की प्रधानता है।

ऊपर हमने कहा था कि श्रीहर्ष ने सौन्दर्य वर्णन तथा दूसरे प्रसंगों में पौराणिक संकेतों का अनावश्यक समावेश किया है। नैषधीयचरित में इन्द्र, अग्नि, यम आदि देवता, जो दमयन्ती के पाणि-प्रार्थी हैं, बहुत-सा स्थान ले लेते हैं। स्वयंवर की घटना के बाद यह आवश्यक नहीं था कि उन देवताओं को पुनः वर्णन का विषय बनाया जाय। किन्तु श्रीहर्ष ने एक पूरे सर्ग में—अर्थात् सत्रहवें सर्ग में—देवताओं का प्रस्थान दिखलाया है। स्वर्ग की ओर प्रस्थान करते हुए इन देवताओं से कलियुग की सेना का साक्षात्कार होता है। इस प्रसंग में कवि ने क्रोध, लोभ, मोह आदि के स्वरूप व शक्तियों का वर्णन किया है और चार्वाक आदि के वेदविरोधी सिद्धान्तों का भी परिचय दिया है। काव्य की दृष्टि से ये सब अप्रासंगिक जान पड़ते हैं। अवश्य ही वे श्रीहर्ष के युग की नैतिक-धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। बीसव

सर्ग में नल तथा दमयन्ती की बातचीत, उनकी नोक-झोंक व एक-दूसरे के प्रति प्रदर्शित क्रोध, मान आदि का वर्णन है। यह सर्ग भी काव्य-दृष्टि से बहुत कमजोर है। इसी प्रकार इक्कीसवें सर्ग में नल द्वारा की गयी देवपूजा तथा स्तुतियों का विवरण भी अप्रासंगिक एवं ऊब उत्पन्न करनेवाला है।

नैषधीयचरित में संस्कृत काव्य निश्चित रूप से पतनोन्मुख दिखाई देता है। उसके कलेवर में पौराणिक आख्यानों, उपमाओं आदि का प्रचुर समावेश इस बात का द्योतक है कि अब आर्य-जाति के नेता तथा प्रवक्ता क्रमशः जीवन के यथार्थ की पकड़ से वंचित होने लगे थे। पुराणों की दुनिया में रुचि बढ़ रही थी, जिसके फलस्वरूप लोगों की धार्मिक मनोवृत्ति स्थूल एवं घटिया बनने लगी थी। भारवि तथा माघ में हम जैसी प्रबुद्ध नैतिक एवं राजनीतिक चेतना पाते हैं वह श्रीहर्ष में दिखाई नहीं देती। कालिदास की कृतियों में शिव, विष्णु आदि की जैसी उदात्त स्तुतियाँ हैं वैसी नैषधीयचरित में नहीं मिलतीं। यहाँ ऊँचे दार्शनिक पुट के बदले स्थूल पौराणिकता ही अधिक मुखर है। यद्यपि श्रीहर्ष एक बड़ा दार्शनिक भी था, फिर भी उसके द्वारा रचित अवतारों की स्तुतियाँ रघुवंश तथा कुमारसंभव की स्तुतियों से कहीं घटिया जान पड़ती हैं। पाठक कालिदास तथा श्रीहर्ष के कुछ पद्यों की तुलना करें—

प्रबुद्धपुंडरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम्।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम्॥
बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरण—भूषितैः।
आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम्॥
सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक्॥

रघुवंश, १०। ९, ११, २०

‘खिले हुए कमलों-जैसे उनके नेत्र थे, वे प्रभात के पीताभ प्रकाश-जैसा पीताम्बर पहने हुए थे; वे शरद् के प्रारम्भिक दिवस के समान देखने में

सुखकर प्रतीत हो रहे थे। शाखाओं-जैसी लम्बी बाँहें आभूषणों से भूषित थीं; जान पड़ता था मानो जल के भीतर एक नया पारिजात का वृक्ष आविर्भूत हो गया है।......आप सर्वज्ञ हैं, पर आपको कोई नहीं जानता; सबके कारण हैं, पर स्वयं कारणहीन हैं; सबके ईश्वर हैं, किन्तु आपका कोई ईश्वर नहीं है; एक हैं, किन्तु सब प्रकार के रूपों को धारण करनेवाले हैं।' पीछे हम कालिदास-कृत स्तुतियों के दूसरे उदाहरण भी दे चुके हैं। ऊपर के प्रथम दो पद्यों में भगवान् के सुन्दर एवं उदात्त रूप का संकेत है, तीसरे में उनकी विश्व-विधायिनी अद्भुत शक्तियों का संकेत है, जिसमें सहज ही दार्शनिक रहस्यमयता का पुट आ गया है। इनकी तुलना में श्रीहर्ष-कृत स्तुतियाँ अप्रासंगिक होने के साथ-साथ, स्थूल रुचि की परिचायक जान पड़ती हैं। कुछ पद्य देखिए——

> दिक्षु यत्खुरचतुष्टयमुद्रामभ्यवैमि चतुरोऽपि समुद्रान्।
> तस्य पोत्रिवपुषस्तव दंष्ट्रा तुष्टयेऽस्तु मम वास्तु जगत्याः॥
> उद्भवाजतनुजादज! कामं विश्वभषण! न दूषणमत्र।
> दूषणप्रशमनाय समर्थं येन देव! तव वैभवमेव॥
>
> नैषधीय चरित, २१।५७, ६९

'प्राची आदि चारों दिशाओं में जो समुद्र हैं, उन्हें . वराह रूपधारी भगवान् के, महावराह के, खुरों की मुद्राएँ (चरण-चिह्न, चरण रखने से उत्पन्न गड्ढे) मानता हूँ। विशाल वराह की देहवाले आपकी वह दंष्ट्रा (दाढ़ या दाँत), जिस पर पृथ्वी को धारण किया गया था, मेरी कामनाओं की पूर्त्ति करे।...हे जन्मरहित राम! आप अज (जन्मरहित) के पुत्र दशरथ से उत्पन्न हुए, इसमें कोई दोष की बात नहीं है; क्योंकि आपका ऐश्वर्य ही दूषण (दोष या दूषण नाम राक्षस) के शमन में समर्थ है।'

यहाँ पहले पद्य की प्रथम पंक्ति में उपयुक्त गौरव है, किन्तु दूसरी पंक्ति, हलकी याचना के समावेश से, घटिया बन गयी है। दूसरे पद्य में भी सस्ती कोटि की शब्दक्रीड़ा के अतिरिक्त कोई चमत्कार नहीं है। संस्कृत के मूल

श्लोकों पर दृष्टि डालकर पाठक यह सहज ही देख सकेंगे कि सौष्ठव तथा भावना के औदात्य, दोनों दृष्टियों से श्रीहर्ष के पद्य कालिदास के श्लोकों से कहीं घटकर हैं। निम्नलिखित पद्य में निहित प्रार्थना में भी वैसा ही घटियापन है—

नो ददासि यदि तत्त्वधियं मे यच्छ मोहमपि तं रघुवीर।
येन रावणचमूर्युधि मूढा त्वन्मयं जगदपश्यदशेषम्।।

नैषधीय चरित, २१।७०

'हे रघुवीर ! यदि आप मुझे तत्त्वज्ञान नहीं देते, तो वह मोह-भावना ही दीजिए जिसके वश में होकर रावण की सेना ने समूचे जगत् को राममय देखा था।' कालिदास-जैसे कवियों के स्तुति-प्रसंगों को पढ़ने के बाद इन पद्यों का अवलोकन करते हुए जान पड़ता है जैसे हम किसी ऊँचाई से गिरकर एकाएक बहुत नीचे पहुँचा दिये गये हैं। माना कि कालिदास में भी सगुण ईवर की भावना वर्तमान है, किन्तु वहाँ हम यह क्षण भर को भी नहीं भूलते कि भगवान् की सगुणरूपता एक आरोपमात्र है, और उनका यथार्थ रूप विश्व-स्रष्टा व विश्व के अधिष्ठाता का है—कि वे वस्तुतः विश्व के अशेष रूपों के हेतुभूत व प्रकाशक हैं। श्रीहर्ष के पद्यों में भगवान् के उदात्त रूप को निरन्तर सामने नहीं रखा जाता, यही नहीं; हलकी याचना द्वारा भी उनके गौरव को क्षत कर दिया जाता है।

वस्तुतः मध्ययुग के अधिकांश भक्ति-काव्य में यह कमी दिखलाई देती है; श्रेष्ठतम कवियों के कतिपय स्थल ही इसके अपवाद हैं। मध्ययुगीन भक्त कवि न तो भगवान् के उच्चतम रूप को ही कल्पना-चक्षुओं के सामने स्थापित रख पाते हैं, और न अपने को ही उस ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित कर पाते हैं जहाँ विश्वात्मा, विश्वविधात्री विराट् शक्ति का साक्षात्कार एवं भावना होनी चाहिए। नैषधीयचरित में ही नहीं, 'रामचरितमानस' में भी पायी जानेवाली स्तुतियाँ, जिनकी संख्या लम्बी है, साहित्यिक व दार्शनिक दृष्टियों से बड़ी घटिया हैं।

मध्ययुग के कवि भगवान् को एक आलंकारिक अर्थ में ही सगुण व साकार नहीं मानते, वे उन्हें अक्षरशः देहधारी समझते हैं। इस प्रकार की भावना व प्रतीति का मुख्य हेतु यही जान पड़ता है कि मध्ययुग में हिन्दू जाति की बौद्धिक क्षमता में सर्वतोमुखी अवनति या ह्रास हुआ। इस वक्तव्य के निदर्शन या प्रमाण दुर्लभ नहीं हैं।

यदि हम मध्ययुग के हिन्दू राजाओं या शासकों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमें वैसी बौद्धिक तीक्ष्णता व बोध नहीं था; जैसा कि कालिदास, भारवि आदि के नायकों में दिखाया गया है। शास्त्रों में अकुंठित बुद्धि रखनेवाले दिलीप और राजनीति तथा धर्म के सूक्ष्म तत्त्वों पर बहस करनेवाले भीमसेन, युधिष्ठिर और उद्धव की तुलना में पृथ्वीराज चौहान तथा राणा प्रताप-जैसे हिन्दू जाति के नेता नितान्त स्थूल-बुद्धि व अबोध जान पड़ते हैं, भले ही उनमें शारीरिक बल तथा त्याग की वृत्तियों का सद्भाव रहा हो।

रामचरितमानस में हिन्दू-संस्कृति

अब हम मध्ययुग के एक दूसरे महाकाव्य की पर्यालोचना करेंगे, अर्थात् तुलसीदास के 'रामचरितमानस' की। श्रीहर्ष के प्रसंग में हमने कहा था कि उसमें कवित्व-शक्ति की कमी नहीं है और उसका भाषा पर भी अच्छा अधिकार है। किन्तु श्रीहर्ष का भाषाधिकार परम्परा से प्राप्त है। फिर भी यदि वह कहीं-कहीं संस्कृत व्यंजनाओं में पर्याप्त नवीनता ला सका है तो इसका श्रेय उस अद्भुत भाषा को ही अधिक है। सौन्दर्यबोध, नीतिबोध तथा भावना की दृष्टि से श्रीहर्ष की वाणी में संस्कृत भाषा स्पष्टतया ह्रासोन्मुख दिखाई देती है। श्रीहर्ष की चेतना में सर्जनात्मक नये तत्त्वों की कमी है; वह परम्परा से प्राप्त चेतना को भी ठीक से सँजोकर प्रकट नहीं कर सका है। सच यह है कि कोई भी लेखक एक परिपूर्ण परम्परा को ठीक से अनूदित नहीं कर सकता। श्रेष्ठ लेखक व विचारक ऊँची परम्परा को आगे बढ़ाते हैं, केवल प्राचीन का नया अनुवाद नहीं करते। इस आगे बढ़ाने के कार्य

के लिए सर्जनशील प्रतिभा अपेक्षित होती है, सिर्फ अतीत की पांडित्यपूर्ण जानकारी नहीं।

भारतीय संस्कृति के लिए यह एक शुभ घटना हुई कि अब उसके कवियों ने, विशेषतः महत्त्वपूर्ण कवियों ने, संस्कृत का मोह छोड़कर जनभाषाओं के माध्यम में रचना करना शुरू कर दिया। हिन्दी अथवा अवधी भाषा में इस दृष्टि से जो सबसे महत्त्वपूर्ण महाकाव्य लिखा गया वह गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' था। इस महाकाव्य को हम केवल हिन्दी की ही नहीं, बल्कि समस्त उत्तर भारत की प्रतिनिधि सांस्कृतिक कृति कह सकते हैं। 'रामचरितमानस' में तत्कालीन हिन्दू समाज की समस्त अच्छाइयाँ तथा दुर्बलताएँ प्रभावशाली रूपों में व्यक्त हो सकी हैं।

हमने 'नैषधीयचरित' की संवेदना में दो सम्बद्ध कमजोरियाँ लक्षित की थीं; मानवीय अभिरुचि का ह्रास और पौराणिकता की वृद्धि। पौराणिक संकेतों तथा कथाओं के समावेश की दृष्टि से तुलसी का मानस 'नैषधीय-चरित' से दो कदम आगे ही है। मतलब यह कि श्रीहर्ष से लेकर तुलसीदास के युग तक भारतीय जनता अधिकाधिक पौराणिक जगत् में रहने की अभ्यस्त बनती जा रही थी। यह नहीं कि उत्कर्ष-काल के कवियों में पौराणिक जगत् के पात्र और उस जगत् से सम्बन्धित विश्वास नहीं पाये जाते; किन्तु वहाँ वे विश्वास और उनसे अनुप्राणित वर्णन एक मर्यादा के भीतर बँधे दिखाई देते हैं। उत्कर्ष-काल के काव्यों में प्रायः कहीं भी पौराणिक अतिरंजना मानवीय अभिरुचि पर हावी नहीं होती। रघुवंश, किरातार्जुनीय आदि में वर्णित गाथाएँ मुख्यतः मानवीय ही हैं। श्रीहर्ष के प्रमुख पात्र भी मनुष्य हैं, किन्तु नैषध में अनेक ऐसे अमानवीय प्रसंगों का समावेश कर दिया गया है जो मूल कथा के प्रवाह के लिए आवश्यक नहीं है। इस दृष्टि से तुलसीदास और भी अधिक दोषी हैं। निश्चय ही राम-कथा का मानवीय पहलू बड़ा महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इसका ज्यादा श्रेय स्वयं उस कथा को है। वाल्मीकि की रामायण में जहाँ अयोध्याकाण्ड तक राम-कथा के मानवीय पक्ष का रोचक निर्वाह हुआ है, वहाँ बाद के काण्डों में, और बालकाण्ड में भी, पौराणिक

आख्यानों का मिश्रण व समावेश हुआ है। अयोध्या के बाद के काण्डों में विभिन्न राक्षसों से सम्बन्धित अद्‌भुत घटनाओं की भरमार है।

हम संकेत कर रहे हैं कि वाल्मीकि की ये कमियाँ तुलसी के मानस में प्रायः ज्यों की त्यों अनूदित हो गयी हैं। कालिदास आदि ने रामायण-महाभारत के ऐसे अलौकिक प्रसंगों को, जो केवल विस्मय उत्पन्न करते हैं, यथासंभव बचाया है। उत्कर्ष-काल के कवि अपनी रचना में दो चीजों का विशेष ध्यान रखते हैं, मानवीय अभिरुचि का और सौन्दर्य-संवेदना का। तुलसीदास सिर्फ इन्हीं चीजों का ध्यान करते हुए नहीं चलते। राम की मानवीयता पर गौरव देते हुए भी वे जगह-जगह यह स्मरण दिलाना नहीं भूलते कि हारते अथवा दुखी होते हुए राम वस्तुतः पराजय अथवा शोक का अनुभव नहीं कर रहे हैं—वे केवल लीला कर रहे हैं।[५] स्पष्ट ही इस तरह के संकेत रामचरित की मानवीय अभिरुचि को क्षत करनेवाले हैं।

चूँकि तुलसी के राम अलौकिक अवतार-पुरुष हैं, और अक्सर अपना कार्य अलौकिक शक्ति द्वारा पूरा कर लेते हैं—जैसे मेघनाद, रावण आदि से युद्ध करते समय—इसलिए उनकी जीवन-गाथा में उन गुणों का विशेष उल्लेख नहीं मिलता, जिनका सम्बन्ध सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ के आकलन, पर्यालोचन एवं नियंत्रण से है। राम का प्रतिद्वन्द्वी रावण विश्व-

५. जन्म के समय ही माता कौशल्या ने राम का अद्‌भुत रूप देखा और उनकी स्तुति की; राम ने उन्हें समझाया, क्योंकि वे "विविध चरित" करना चाहते थे। सीता के लिए विलाप करते हुए, मेघनाद से हारते हुए व लक्ष्मण के लिए रोते हुए, कुंभकर्ण से परेशान होते हुए राम को लक्ष्य करके तुलसीदास बार-बार ऐसा स्मरण दिलाते हैं। यथा लंकाकाण्ड में :—

उमा अखण्ड एक रघुराई, नरगति भक्ति कृपालु दिखाई।
उमा करत रघुपति नरलीला, खेल गरुड़ जिमि अहिगण मीला।
भ्रुकुटि भंग कालहि जो खाई, ताहि कि ऐसी सोह लराई।

विजेता वीर था, किन्तु मानस में कहीं यह उल्लेख नहीं मिलता कि राम को उस पर विजय पाने की कठिनाई का तीखा आभास था। इस प्रकार का आभास जैसा पाण्डवों में दिखाई पड़ता है वैसा दूसरे काव्यों के नायकों में नहीं। पाण्डवों के सामने नैतिक समस्याएँ भी उपस्थित थीं। फलतः हम पाते हैं कि राजनय तथा नीतिबोध का जैसा उज्ज्वल प्रकाशन 'किरातार्जुनीय' में हो सका है वैसा दूसरे काव्यों में नहीं। कहना पड़ता है कि जीवन-सम्बन्धी यथार्थ की पकड़ की दृष्टि से, और मानवीय अभिरुचि की दृष्टि से भी, 'रामचरितमानस' एक मिश्रित कोटि की कृति है। उसमें लौकिक व अलौकिक मानवीय व अमानवीय तत्त्वों का स्वच्छन्द संमिश्रण है। तुलसीदास में वह प्रबुद्ध चयन-शक्ति नहीं है जो उत्कर्ष-काल के कवियों की विशेषता है।

हमने देखा था कि राजनय तथा नीतिबोध की दृष्टि से 'नैषधीयचरित' भी उल्लेखनीय काव्य नहीं है। अध्यात्म अथवा धार्मिक चेतना की दृष्टि से भी 'नैषधीयचरित' और 'मानस' में साम्य है। मध्ययुग में अवतारवाद पूरी तरह प्रतिष्ठित हो गया था। कालिदास के समय की सूक्ष्म आध्यात्मिक संवेदना का स्थान पूजा-उपासना की अपेक्षाकृत स्थूल भावना ने ले लिया। इस दृष्टि से श्रीहर्ष के समय से तुलसीदास तक आते-आते एक प्रकार की प्रगति अवश्य दिखाई देती है—तुलसी की भक्ति-भावना में उपास्य देवता या ईश्वर का पूर्ण मानवीकरण हो गया है। सूर, तुलसी आदि कवियों में हम भगवान् के कच्छप, वराह आदि रूपों की स्तुति-उपासना नहीं पाते। तुलसी के राम में एक पूर्ण मानव की कल्पना अथवा परिपूर्ण मानवता का आरोप किया गया है। मध्ययुगीन हिन्दी कवियों में सगुण भक्ति की भावना अपने पूर्ण विशुद्ध रूप में विकसित हुई दिखाई पड़ती है। वहाँ भक्ति की साधना किन्हीं साधारण चीजों की प्राप्ति के लिए नहीं है; उसका लक्ष्य चरम पूर्णता अथवा मुक्ति की प्राप्ति है; उससे भी आगे बढ़कर वह लक्ष्य स्वयं भगवान् का प्रीति-युक्त सान्निध्य है। तुलसीदास तो भगवान् से केवल उनके चरणों में "अनपायिनी" भक्ति ही माँगते हैं।

काव्य-संवेदना का जनतन्त्रीकरण

तुलसीदास तक आते-आते भारतीय सांस्कृतिक संवेदना में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए दिखाई देते हैं, ये दोनों परिवर्तन कुछ हद तक सम्बन्धित हैं, और प्रगतिशील कहलाने के अधिकारी हैं। हमने उत्कर्ष-काल को सांस्कृतिक उच्चता का मानदण्ड माना है, फिर भी हमें यह कहने में संकोच नहीं कि निम्नलिखित परिवर्तन भारत के सांस्कृतिक विकास में प्रगति के सूचक थे—

(१) उत्कर्ष-काल का काव्य मुख्यतः अभिजात वर्ग का काव्य है। संस्कृत शिष्टों की भाषा थी, और उसका काव्य-साहित्य मुख्यतः शिष्टों द्वारा निर्मित तथा शिष्टों के लिए ही था। कवि लोग विद्वान् राजाओं तथा उनके सभासदों को प्रसन्न करने के लिए साहित्य-रचना करते थे। साधारण संस्कृतज्ञ उनके काव्य को टीकाओं की मदद से ही समझ सकते थे। तुलसीदास पहले महत्त्वपूर्ण हिन्दू महाकाव्यकार थे जिन्होंने जन-भाषा में काव्य-रचना की। सूर, तुलसी आदि कवियों की सद्यः स्फुरित वाणी में कविता संस्कृत भाषा के दुरूह व्याकरण-सम्बन्धी बन्धनों से मुक्त हुई, और उसमें एक नया प्रवाह व ओज आया। श्रीहर्ष के समय से ही संस्कृत भाषा की सर्जन-शीलता कम हो चली थी। उससे पूर्व के कवियों में भी श्लेषालंकार की बहुलता, एकाक्षरी चरण अथवा श्लोक-रचना का आग्रह आदि इस बात के द्योतक थे कि कवियों को वक्तव्य की अपेक्षा शैली का मोह अधिक होने लगा था। इस प्रकार का मोह सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संवेदना के ह्रास का द्योतक होता है। संस्कृत के माध्यम से मुक्त होकर कविता ने इन मोहों से मुक्ति पायी।

देशी भाषाओं के माध्यम में जो काव्य लिखा गया उसमें निबद्ध अनुभूति पुराने अनुभवों की आवृत्ति मात्र नहीं थी। कवियों द्वारा जनभाषाओं के अपनाये जाने का अर्थ था उनकी अनुभूति का जनता के निकट आ जाना। तुलसी आदि कवियों की अनुभूति व संवेदना केवल राजाओं अथवा शिष्टों की संवेदना नहीं है। सूर और तुलसी दोनों में ही हमें भारतीय जन-हृदय का आवेग व संगीत मिलता है। सूर के ग्वाल-बाल व गोपियाँ भारतीय गाँवों की जनता के प्रतिनिधि हैं। सूर की यशोदा की भाँति ही तुलसी की कौशल्या

भी एक साधारण माँ की भाँति आशा-निराशा तथा सुख-दुःख प्रकट करती हैं; वे एक राजमहिषी की गरिमा के साथ बातचीत नहीं करतीं। कुछ हद तक यह बात वाल्मीकि की कौशल्या पर भी लागू होती है, किन्तु इसका कारण शायद यह है कि वे दशरथ की उपेक्षित पत्नी थीं। इसके विपरीत 'मानस' की कौशल्या उपेक्षित रानी नहीं हैं। मानस से भी अधिक तुलसीदास की दूसरी कृतियों—जैसे 'जानकी मंगल', 'पार्वती मंगल', 'रामलला नहछू', 'कवितावली' आदि—में काव्य-संवेदना का जनतंत्रीकरण हुआ है।

यही बात 'मानस' आदि में प्रकाशित धार्मिक संवेदना के बारे में भी कही जा सकती है। भक्ति का मार्ग सम्पूर्ण जनता के लिए है, जब कि ज्ञान-मार्ग केवल थोड़े बुद्धिसम्पन्न लोगों के लिए ही है। चूँकि तुलसीदास भक्ति-मार्गी हैं, इसलिए उनके मुक्ति आदि से सम्बंधित उपदेश सम्पूर्ण जनता के लिए अर्थपूर्ण थे। वे ऐसी भाषा में प्रकट किये गये जिसे साधारण लोग समझ सकें। तुलसीदास के समय में और बाद में भी हिन्दी में महत्त्वपूर्ण नाटक-रचना नहीं हुई। संस्कृत के नाटकों में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि विभिन्न पात्र अपने-अपने पद के अनुसार उचित भाषा का प्रयोग करें। ऊँचे वर्ग के पुरुष-पात्र संस्कृत बोलते थे, जब कि स्त्रियाँ और अनुचर प्राकृत का प्रयोग करते थे। देशी भाषाओं के जनतांत्रिक माध्यम में इस प्रकार के प्रभेदों के प्रकट होने का अवकाश नहीं था।

(२) प्रायः समस्त संस्कृत काव्य में हमें वर्णभेद की तीखी चेतना मिलती है। वर्ण-भेद की मान्यता का अर्थ है मनुष्यों की समानता का अस्वीकार। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार सब मनुष्य समान उत्पन्न नहीं होते, जन्म से ही कुछ लोग ऊँचे होते हैं और कुछ नीचे। यह सिद्धान्त, जो कि वर्तमान जनतंत्र की भावना के सर्वथा प्रतिकूल है, वर्ण-व्यवस्था का मूल आधार है। 'नैषधीयचरित' के सत्रहवें सर्ग में कलियुग के अनुयायियों की बातचीत से यह प्रकट होता है कि उस समय वर्ण-व्यवस्था की आलोचना होने लगी थी। उक्त सर्ग में श्राद्धविधि, देव-द्विज-गो-सेवा आदि का उपहास किया गया है। 'मानस' के कलियुग वर्णन में भी यह शिकायत की गयी है कि

शूद्र लोग अपने को ब्राह्मणों का समकक्ष समझते हैं।'मानस' में ब्राह्मणों के पक्ष का भी पूरा समर्थन नहीं है—क्योंकि ब्राह्मणों ने अपने विहित कर्मों का परित्याग कर दिया है—

वर्ण धर्म नहिं आश्रम चारी, श्रुति विरोध-रत सब नरनारी।
द्विज श्रुतिवंचक भूप प्रजासन, कोउ नहिं मानु निगम अनुशासन।।
उत्तरकाण्ड, दोहा १४३ के बाद।

जात-पाँत का भेद

किन्तु 'मानस' में वर्ण-व्यवस्था के विरोध की भावना भी पायी जाती है। यह भावना भले ही स्पष्ट प्रकट न हुई हो, पर वह तुलसी के भक्तिवाद में अन्तर्निहित है। वस्तुतः जैसा कि हमने संकत किया, भक्ति का आन्दोलन एक जनतन्त्रीय आन्दोलन था। यह भी एक कारण था कि उसने अपने प्रचार के लिए जन-भाषाओं के माध्यम को अपनाया। भारतीय भक्तों में रैदास जैसे सन्तों की भी गणना होती है। 'रामचरितमानस' में निषादराज गुह तथा शबरी की कथाओं द्वारा इस बात को महत्त्व दिया गया है कि भगवान् का भक्त छोटी जाति का होते हुए भी अभिनन्दनीय होता है, और उसके साथ खान-पान का व्यवहार किया जा सकता है। 'मानस' में जिस जीवन-दर्शन का प्रतिपादन हुआ है उसके अनुसार मानव-व्यक्तित्व के उत्कर्ष का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन व उपादान भगवान् की भक्ति है। तुलसीदास से पहले कबीर-जैसे महात्मा जात-पाँत का विरोध कर चुके थे; जिस समय तुलसीदास सामने आये, जाति-विरोधी विचार बहुत-कुछ प्रचारित हो चुके थे। तुलसी को इन विचारों से अपने ढंग की सहानुभूति थी। उनकी दृष्टि में भगवद्भक्ति की भूमि एक ऐसा स्थल था जहाँ सब प्रकार के लौकिक भेद लुप्त हो जाते हैं। जहाँ अपनी बाहरी मान्यताओं में गोस्वामी तुलसीदास वर्ण-व्यवस्था के समर्थक थे, वहाँ भीतर से उनकी मनोवृत्ति अधिक क्रान्तिकारी थी। उनके तथा दूसरे शिक्षकों के प्रभाव से उत्तर भारत में क्रमशः यह धारणा जड़ पकड़ती गयी कि जात-पाँत के भेद महत्त्वपूर्ण

नहीं होते, और यह कि भीतर की शुद्धि तथा भक्ति से ही मनुष्य ऊँचा उठता है।

कहा जाता है कि तुलसीदास वर्ण-व्यवस्था-मूलक भारतीय अथवा हिन्दू संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं। जैसा कि हमने दिखलाया, यह कुछ सीमा तक ही ठीक है। तुलसीदास भारतीय अथवा हिन्दू संस्कृति के प्रवक्ता भर ही नहीं हैं, वे उसके संशोधक और निर्माता भी हैं। संभवत: हमारे देश के वे पहले महाकवि हैं जो मूल रूप में एक सन्त और महात्मा हैं। तुलसी के मानस का देश के हृदय पर जो व्यापक प्रभाव पड़ा उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण था––उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व में सन्त एवं कवि का सम्मिलन। तुलसी में सन्त का व्यक्तित्व इतना प्रधान है कि उनके काव्य में श्रृंगार रस बहुत कुछ परिष्कृत ही नहीं हुआ है, बल्कि वहाँ से बहिष्कृत-सा हो गया है। इस दृष्टि से शायद हमारे देश का कोई भी दूसरा कवि तुलसी की विशुद्धता का निर्वाह नहीं कर सका है। भवभूति के 'उत्तर रामचरित' में भी राम-सीता के प्रेम का वर्णन बड़े सात्त्विक धरातल पर हुआ है, किन्तु वहाँ भी शारीरिक सम्पर्क के संकेतों का एकदम बहिष्कार नहीं किया गया है। वहाँ वनवास का स्मरण करते हुए राम याद करते हैं कि किस प्रकार वे और सीता कपोल से कपोल सटाये, बाँह में बाँह बाँधे, बातें करते हुए सारी रात गुजार देते थे। चूँकि तुलसीदास सीता को अपनी और विश्व की माता मानते हैं, इसलिए वे कहीं भी इस कोटि के संकेत नहीं देते।

राम––एक सन्त नायक

सच यह है कि तुलसी ने अपने राम को बहुत-कुछ एक सन्त के रूप में चित्रित किया है। वाल्मीकि के राम की मुखश्री भी पहले राज्य-प्राप्ति के और फिर वनवास-प्राप्ति के समाचार से विकृत नहीं होती; किन्तु यह मनोवृत्ति तुलसी के राम के लिए जितनी स्वाभाविक है उतनी आदिकवि के राम के लिए नहीं। वाल्मीकि के राम एक आदर्श वीर एवं नीति-परायण शासक हैं; तुलसी के राम केवल उतने ही नहीं हैं। वे सच्चे अर्थ में एक सन्त

हैं जो कभी किसी की बुराई नहीं सोच सकते, और क्रोध जिनके स्वभाव का सहज अंग नहीं है। राम के रूप में तुलसी ने एक ऐसे व्यक्तित्व की कल्पना की है जिसमें सहृदयता, करुणा, मैत्री, उदारता आदि अशेष नैतिक गुण पूरी मात्रा में विद्यमान हैं। विशुद्ध नैतिकता की दृष्टि से मानव जाति का कोई कवि राम से उच्चतर व्यक्तित्व की कल्पना कर सका है, या कर सकेगा, इसमें सन्देह है। इसका कारण सम्भवत: यह है कि राम का व्यक्तित्व मूलत: एक सन्त का व्यक्तित्व है, जिसमें स्वार्थ, घृणा, हिंसा आदि की वृत्तियों के लिए कोई स्थान हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि तुलसी का 'मानस' अथवा उनके राम, महात्मा गांधी जैसे नीति-शिक्षक नेताओं को प्रेरणा एवं बल दे सकें।

मानस में दो प्रकार के आदर्श चरित्र हैं; एक ओर राम हैं जो अवतार होने के साथ-साथ आदर्श महापुरुष भी हैं; दूसरी ओर राम के भक्त हैं जिनमें भरत प्रमुख हैं। कहा जाता है कि मानस में आदर्श पारिवारिक सम्बन्धों की कल्पना या चित्र है। यह कुछ हद तक ही ठीक है। मानस में तुलसीदास का प्रधान लक्ष्य भगवान् राम और उनके भक्तों का महत्त्वख्यापन और इस प्रकार भगवद्भक्ति का प्रचार है। राम के रूप में कुछ दूर तक उन्होंने संत चरित्र का बखान भी किया है। मानस में सन्त-समागम एवं सत्संग का विशेष महत्त्व है। किन्तु राम का आदर्श सर्वसाधारण के लिए अनुकरणीय आदर्श है; यह मानस का संपूर्ण अभिप्राय नहीं है। जहाँ राम के नैतिक गुण श्लाघ्य व अनुकरण योग्य हैं, वहाँ स्पष्ट ही उनके अलौकिक कृत्य साधारण लोगों के लिए उदाहरण नहीं बन सकते। तुलसीदास यह कभी नहीं भूलते कि राम वस्तुतः भगवान् हैं, और उनके सुख-दुःख बहुत कुछ बाहरी दिखावा हैं। ऐसी स्थिति में सर्वसाधारण के लिए पूर्णतः अनुकरणीय आदर्श भरत-जैसे भक्तों का ही हो सकता है। विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित मानस के अनुसार संजीवनी ओषधि लेकर लौटते हुए हनुमान् भरत द्वारा अयोध्या में रोक लिये गये थे। वहाँ उनसे यह जानकर कि लक्ष्मण मरण-शय्या पर हैं, सुमित्रा को हर्ष और शोक दोनों हुए——हर्ष यह सोचकर कि

लक्ष्मण राम के लिए लड़ते हुए मरे। मानस में सर्वत्र जन-साधारण के लिए यही उपदेश है कि उन्हें भगवान् की भक्ति के लिए जीवित रहना चाहिए।

सांस्कृतिक चेतना पर नया प्रभाव

संक्षेप में कहा जा सकता है कि तुलसीदास के मानस ने उत्तर भारत की सांस्कृतिक चेतना को दो नयी दिशाओं में प्रभावित किया—

(१) कालिदास के अनुसार दिलीप-जैसे आदर्श राजा में 'भीम' और 'कान्त' दोनों प्रकार के गुणों की अवस्थिति थी। संभवतः एक ऐसे शासक में, जिसे देश में शान्ति स्थापित रखने के साथ-साथ उसकी आक्रमणकारियों से रक्षा का भी समुचित प्रबंध करना है, उक्त दोनों प्रकार की विशेषताओं का होना जरूरी है। प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में लिखा है कि शासकों को उन रक्षक कुत्तों की भाँति होना चाहिए जो घर के सदस्यों के लिए कोमल एवं विनीत तथा बाहरी लोगों के लिए खूँखार होते हैं। कालिदास और प्लेटो दोनों ही, इस दृष्टि से, यथार्थवादी थे। प्लेटो के विधान में शासक जहाँ एक ओर विद्वान् दार्शनिक है, वहाँ दूसरी ओर युद्ध-संचालन की क्षमता से संपन्न भी। यही बात कालिदास के रघु आदि शासकों पर लागू होती है। इसके विपरीत तुलसी के राम में भीम गणों का नितान्त अभाव है। उनमें महाभारत के कृष्ण की कूट बुद्धि भी नहीं है। राम के चरित्र में तुलसीदास स्पष्ट ही, एक ऐसे राजा का चित्र नहीं खींच रहे थे जो एक स्वतंत्र जाति का नेता व शासक बन सके। राम-रावण का युद्ध राम-कथा का आवश्यक अंग है, पर वह तुलसी के राम का स्वाभाविक कार्य नहीं है।

(२) तुलसी ने जनता के लिए राम से भी अधिक भरत, लक्ष्मण, निषादराज, शबरी, विभीषण आदि रामभक्तों का आदर्श रखा।[६] यह

६. तुलसी की दृष्टि में राम की थोड़ी-सी भक्ति भी मुक्त होने के लिए पर्याप्त है। मरते समय मेघनाद ने राम और लक्ष्मण का नाम लिया, इस

आदर्श ऐसा नहीं था कि एक पराधीन, दबी हुई जाति को स्वतंत्र एवं सक्षम बनने की प्रेरणा दे। कालिदास के रघवंशी वीर आत्म-निर्भर थे; वे अपने बुद्धि-बल तथा शस्त्र-बल के आधार पर निर्भर होकर चलते थे—उनके दो ही प्रधान संबल थे, शास्त्रों में निष्णात पैनी बुद्धि, और धनुष पर चढ़ी हुई डोरी। इसके विपरीत तुलसीदास ने जन-साधारण को समझाया कि वे भगवान् पर निर्भर होना सीखें। भगवान् की शरणागति, भगवान् की निर्भरता, यह तुलसी के भक्तिवाद का प्रधान स्तम्भ है। इस प्रकार का मनोभाव उत्कर्षकाल के कवियों अथवा उनके नायकों में कहीं भी नहीं मिलता। वह महाभारतकार की मानसिक गठन का भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं है—यद्यपि भगवद्गीता के दो-तीन श्लोकों में इस भावना का उल्लेख है।

(३) हमने संकेत किया था कि उत्कर्ष-कालीन काव्य-संवेदना में सांस्कृतिक चेतना अपनी पूर्णता में प्रस्फटित हुई दिखाई पड़ती है, वहाँ लौकिक जीवन व मूल्यों की पूर्ण चेतना के साथ-साथ उच्च कोटि की आध्यात्मिक (रेलीजस) संवेदना का भी समावेश है। सन्त तुलसीदास के काव्य, विशेषतः 'मानस' में, इस दूसरी संवेदना की प्रधानता है। उनका भक्तिवाद इस संवेदना की विशिष्ट अभिव्यक्ति है। किन्तु उत्कर्षकालीन एवं मध्ययुगीन अध्यात्म-संवेदनाओं में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। उत्कर्ष-काल की आध्यात्मिक संवेदना लौकिक जीवन व प्रयत्न की विरोधिनी नहीं है। रघ ने दिग्विजय की, और बाद में, अज के राज्य में नगर के बाहर रहते हुए, मोक्ष-साधना भी की। उत्कर्षकालीन अध्यात्म-चेतना गीता के 'लोकसंग्रही' निष्काम कर्म के आदर्श के निकट जान पड़ती है। सब प्रकार के लौकिक कर्मों व भोगों के बीच गुजरते हुए भी रघुवंशी शासक अपने मन में एक प्रकार की तटस्थता या निर्लिप्तता का भाव बनाये रखते थे। इस भावना के कारण उनमें से किसी ने कभी यह कोशिश नहीं की कि पिता के राज्य को दुष्ट

पर अंगद और हनुमान् ने उसकी माता को 'धन्य' कहा। राम ने कुम्भकर्ण और रावण तक को अपना लोक या मुक्ति दी।

उपायों से आत्मसात् करे; साथ ही किसी ने राज्य-प्राप्ति के बाद उससे संबन्धित कर्तव्यों की उपेक्षा भी नहीं की——वस्तुतः राज्य-शासन की स्वीकृति और सँभाल उनके लिए कर्तव्य-रूप ही थी। अज को लक्ष्य कर कालिदास ने लिखा है——

दुरितैरपि कर्त्तुमात्मसात् प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत्।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया।।

रघुवंश, ८।२

'राजपुत्र जिस राज्य को दुष्ट तरीकों से पा लेने की कोशिश करते हैं, उसे अज ने पिता की आज्ञा समझकर स्वीकार किया, भोगतृष्णा से नहीं।'

संक्षेप में उत्कर्षकालीन अध्यात्म-संवेदना का यही मुख्य तत्त्व है, अर्थात् ससीम भोगैश्वर्यों के प्रति एक मूल तटस्थता की भावना। किन्तु यह भावना लोक-संग्रह के लिए अनुष्ठित होनेवाले कर्मों में बाधक नहीं होती। यही नहीं; दिलीप, रघु, अज, दशरथ आदि धार्मिक चरित-नायक साधारण जनों की भाँति एक या अनेक विवाह करके क्रीड़ा-विलास करते हुए भी पाये जाते हैं।

इसके विपरीत मानस में निहित धर्म या अध्यात्म की भावना दूर तक कर्म व प्रयत्न के जीवन की विरोधिनी है। उसमें जीवन-संभोग के लिए स्थान नहीं दीखता। इस दृष्टि से तुलसी का राम-काव्य कृष्ण-काव्य के गायकों——सूर, विद्यापति आदि——से भी भिन्न है। किन्तु कृष्ण और राम दोनों से संबंधित भक्ति-काव्य में भगवान् पर निर्भरता का उपदेश है, और कर्मठ जीवन की उपेक्षा या तिरस्कार। 'मानस' में लक्ष्मण नवपरिणीता वधू को छोड़कर चले जाते हैं, और भरत, राम के पास से अयोध्या लौटकर तपस्वियों का जीवन व्यतीत करते हैं। हमारा अनुमान है कि भक्ति-मार्गियों का यह लोक-विरोधी मनोभाव कुछ हद तक पूर्वकालीन अद्वैत वेदान्त और संन्यासवाद के प्रचार का परिणाम था। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि मध्ययुगीन भक्ति के आन्दोलन ने हिन्दू जाति को इस प्रकार की प्रेरणा नहीं

दी, जिससे वह फिर स्वाधीन एवं शक्तिशालिनी बनकर उस ऊँचे ऐतिहासिक पद को प्राप्त कर सके जिस पर उत्कर्षकालीन भारतीय प्रतिष्ठित हो चुके थे। मध्ययुग के सम्बन्ध में हमारा 'निष्कर्ष इस प्रकार है—जहाँ मध्ययुगीन संस्कृति ने हमारी जातीय चेतना को दो नये तत्व दिये, अर्थात् जनतांत्रिक मनोवृत्ति एवं उसे गठित व प्रकाशित करनेवाली जनभाषाएँ तथा संत-चरित्र के महत्त्व की संवेदना; वहाँ उसने उन बौद्धिक एवं कर्मठ प्रवृत्तियों को उचित प्रोत्साहन नहीं दिया जो किसी जाति को ऐतिहासिक महत्त्व के पथ पर अग्रसर करती हैं।

उपसंहार

भारतीय संस्कृति की साम्प्रतिक स्थिति

संस्कृति के अन्तर्गत मुख्यतः उस बोध, उन संवेदनाओं एवं नैतिक-मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं का समावेश होता है, जो व्यक्तित्व के गुणात्मक स्तर और उसकी क्रियाओं का निर्धारण करती हैं। मानव जाति के ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के साथ उसके जगद्बोध और आत्म-बोध एवं नीति--बोध भी बदलते चलते हैं। इन्हीं कारणों से जाति-विशेष की संस्कृति में परिवर्तन व संशोधन होते हैं। किन्तु इन परिवर्तनों के बीच वे स्वभाव एवं चरित्रगत विशेषताएँ जो एक या दूसरी जाति को प्रगतिशील बनाती हैं, बहुत-कुछ वही रहती हैं। उत्कर्षकाल के कवियों में हम ऐसी विशेषताओं का, जो प्राचीन आर्य जाति की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण एवं उसके महत्त्व का कारण थीं, विवरण देख चुके हैं। इन विशेषताओं में साहित्य एवं शास्त्रों का बोध, आत्मनिर्भरता, पुरुषार्थ वृत्ति आदि का विशेष स्थान है।

आन्दोलनों के कारण शास्त्रबोध में कमी

मध्ययुग के अनेक आन्दोलनों तथा दूसरी परिस्थितियों के कारण इस देश में शिक्षा, विशेषतः शास्त्र-बोध में, कमी हो गयी। मध्ययुग के पृथ्वीराज, राणा प्रताप आदि वीर शासक व सेनानी विशेष पढ़े-लिखे थे इसका कोई प्रमाण नहीं है। वस्तुतः राजपूत कहलानेवाले राजा व सेनाध्यक्ष प्रायः अर्द्ध-शिक्षित, हठी और अदूरदर्शी थे। राणा प्रताप का नितान्त नाजुक परिस्थितियों में मानसिंह-जैसे कुशल सेनापति से झगड़ जाना इसका सबूत है। इस दृष्टि से अकबर ज्यादा समझदार था, पर वह भी विशेष शिक्षित न था। साथ ही मध्ययुग में प्राचीनों के प्रति श्रद्धा का प्रबल भाव मौजूद था। तुलसीदास ने अपने मानस को नानापुराण-निगमागम पर आधारित

बतलाया है। रीतिकाल के आचार्य कवि अलंकारों तथा नायिका भेद के निरूपण में बहुत-कुछ संस्कृत के विचारकों का अनुसरण करते हैं। यही बात दर्शन आदि क्षेत्रों पर लागू है। मध्ययुग में बौद्ध धर्म भारत से लुप्तप्राय हो चुका था। बौद्ध प्रतिपक्षियों के अभाव में हिन्दू दार्शनिक आपस में ही, श्रुतियों के उद्धरण व नयी व्याख्याएँ देते हुए, झगड़ते रहते थे। उनके चिन्तन में अब वह तर्कानुप्राणित तेज नहीं रह गया था जो वात्स्यायन, उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र के समय के नैयायिकों तथा वेदान्तियों में था।

शास्त्र-बोध एवं बौद्धिक सजगता का अर्थ केवल पुरानी पोथियों का ज्ञान एवं संरक्षण नहीं है; उसका वास्तविक अभिप्राय है गम्भीर अन्वेषण व नव निर्माण की प्रवृत्ति। मध्ययुग ने ऐसा कोई दर्शन उत्पन्न नहीं किया जो व्यापकता एवं गहराई में प्रख्यात षड्दर्शनों से होड़ ले सके। इस दृष्टि से रामानुज का विशिष्टाद्वैत दर्शन ही, जिसका प्रतिपादन यवनों के प्रभाव से मुक्त दक्षिण में ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दियों में हुआ, महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। किन्तु विशिष्टाद्वैत भी दार्शनिक दृष्टि से उतना मौलिक व पुष्ट दर्शन नहीं है, जैसे कि न्याय, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त (अद्वैत) के सम्प्रदाय।

बौद्धिक घटियापन के साथ-साथ मध्ययुगीन भारतीयों में दूसरे श्लाघ्य गुणों का ह्रास भी देखा जा सकता है। मध्ययुगीन शासकों में हम क्षुद्रता, स्वार्थपरता, देशद्रोह आदि की प्रवृत्तियाँ पाते हैं, जिनके कारण राजसत्ता क्रमशः भारतीयों के हाथ से निकलकर मुसलमानों के अधिकार में पहुँच गयी।

यूरोपीयों का आगमन

यूरोपीय व्यापारियों, विशेषतः अंग्रेज़ों के आगमन और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल से आधुनिक युग का आरम्भ मानना चाहिए। अंग्रेज़ों के राज्य की स्थापना के कुछ काल बाद विश्व-संस्कृति के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना हुई। यूरोपीय पण्डितों ने संस्कृत साहित्य का अन्वेषण व उद्घाटन किया। कालान्तर में इस घटना का भारतीय मस्तिष्क पर

भी प्रभाव पड़ा; वे अंग्रेज़ों से आक्रान्त होने के बावजूद फिर अपने अतीत का गौरव समझने लगे।

मध्ययुग का भक्ति-आन्दोलन बुद्धि-विरोधी था। इसमें ज्ञान पर नहीं, भावना पर बल दिया जाता था। अंग्रेजों के राजत्वकाल में जब विद्वानों का झुकाव संस्कृत की ओर बढ़ा, तो पता चला कि अनेक महत्त्वपूर्ण पुराने ग्रन्थ उपलब्ध ही नहीं हैं। अनेक संस्कृत ग्रन्थों के बारे में ज्ञात हुआ कि वे सिर्फ चीनी या तिब्बती अनुवादों के रूप में ही उपलब्ध हैं। विभिन्न देशों के कोड़ियों पण्डितों की मदद से यह सम्भव हुआ कि बहुत-से महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ मुद्रित होकर सुलभ हुए। बहुत-से संस्कृत, पाली आदि के ग्रंन्थों के अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं में अनुवाद भी हुए।

संस्कृत काव्य, दर्शन आदि को यूरोपीय विद्वानों के सामने प्रकाशित करनेवाले प्रारम्भिक यूरोपीय पण्डितों में सर विलियम जोन्स, एच० टी० कोलब्रुक, मैक्समूलर, रॉथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उन्नीसवीं सदी में भारतीय नवयुवक क्रमशः यूरोपीय विचार-राशि से भी परिचित होने लगे। जहाँ प्राचीन साहित्य की विदेशियों द्वारा की हुई प्रशंसा ने समझदार भारतीयों में आत्म-गौरव का भाव उत्पन्न किया, वहाँ अंग्रेज़ी शिक्षा ने क्रमशः राष्ट्रीयता की भावना को जगाया और पुष्ट किया। अंग्रेज़ी माध्यम से उच्च शिक्षा का व्यवस्थित प्रारम्भ सन् १८५७ से समझना चाहिए, जब कलकत्ता, बम्बई व मद्रास में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। किन्तु राजा राममोहन राय-जैसे विद्वानों में यूरोपीय विचारों का प्रभाव इससे पहले ही दीखने लगा था।

१९वीं शती के धार्मिक आन्दोलन

सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय संस्कृति, विशेषतः उसके धर्म व दर्शन के, पुनर्जागरण का काल है। हमारे इतिहास का उत्तर-मध्ययुग भी धार्मिक आन्दोलनों का युग रहा था। कबीर, नानक, दादू, तुलसीदास आदि शिक्षक मुख्यतः धार्मिक आन्दोलनों के प्रवर्त्तक या प्रचारक

थे। आधुनिक काल में हमारे राष्ट्र का जागरण धार्मिक आन्दोलनों से शुरू हुआ। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि इस युग का जन्म मध्ययुग की कोख से हुआ। किन्तु इधर के इतिहास में एक दूसरा तत्त्व भी काम करता रहा है, अर्थात् भारत-यूरोप का विचारगत व सांस्कृतिक सम्पर्क। इस सम्पर्क के प्रभाव का इतिहास अभी भी बन ही रहा है।

सन् १८२८ में राजा राममोहन राय (१७७२–१८३३ ई०) ने कलकत्ते में 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की। राय की शिक्षा इंग्लैण्ड में हुई थी और वे समाज-सुधार के साथ-साथ भारतीय धर्म को अन्धविश्वासों से मुक्त करके शुद्ध करना चाहते थे। सन् १८६६ में केशवचन्द्र सेन ने 'भारतीय ब्रह्म-समाज' नामक संगठन किया, जो ब्रह्म-समाज का ही एक रूप था। सन् १८६७ में महाराष्ट्र में 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना हुई, इसका लक्ष्य समाज-सुधार अधिक था। सन् १८७५ में 'आर्य-समाज' का आन्दोलन शुरू हुआ; इसका उद्देश्य भी धार्मिक व सामाजिक सुधार था। आर्य-समाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द (१८२४–१८८३) कट्टर वेदवादी थे, वे पौराणिक अन्धविश्वासों के घोर विरोधी भी थे। सन् १८८२ ई० में मदाम ब्लैवात्स्की और ऑलकॉट के प्रयत्न से 'थियोसोफिकल सोसायटी' की स्थापना हुई, जिसने हिन्दू धर्म के रहस्यवादी पक्ष का समर्थन किया। इसी समय श्री रामकृष्ण परमहंस (१८३४–१८८६ ई०) का प्रभाव भी बढ़ रहा था। वे वेदान्त के गम्भीर व्यावहारिक पक्ष का उपदेश व प्रचार कर रहे थे। उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८६१–१९००) ने सन् १८९७ में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।

भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक अध्येता के सामने यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि इन आन्दोलनों ने देश पर किस प्रकार का और कितना प्रभाव डाला। एक बात स्पष्ट है; इन आन्दोलनों के फलस्वरूप भारतीय जनता में आत्म-गौरव के भाव की वृद्धि हुई, जिसने उसे देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने की प्रेरणा दी। उक्त आन्दोलनों ने जनता में जो जागृति उत्पन्न की उसका भरपूर उपयोग राजनीतिक धरातल पर हुआ। सन् १८८५ में इण्डियन नेशनल

कांग्रेस की स्थापना हुई जिसका प्रभाव दिनों-दिन बढ़ता गया। उसके बाद भी जो नेता ज्यादा महत्त्वपूर्ण बने उनका भारत की धार्मिक परम्परा से गहरा सम्बन्ध था। लोकमान्य तिलक ने गीता की कर्म-परक व्याख्या की और महात्मा गान्धी ने गीता के ही विषय को लेकर अपना 'अनासक्तियोग' लिखा। तिलक अपेक्षाकृत अधिक विशुद्ध राजनीति के पक्षपाती थे, किन्तु गान्धीजी ने धर्म और राजनीति को पूर्णतया मिश्रित कर दिया; स्वयं उनके जीवन में दोनों का ही सम्मिश्रण था। अरविन्द घोष प्रारम्भ में आतंकवादी राजनीतिक नेता थे, बाद में वे दार्शनिक और योगी बन गये। इन सब चीज़ों को मन में रखते हुए हम कह सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में शुरू होनेवाले भारत के सांस्कृतिक नव जागरण ने, जिसका प्रधान रूप धार्मिक था, देश को स्वतन्त्र बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इसका कारण यह भी था कि भारतीय जानता धर्म की भाषा को सहज में समझने की अभ्यस्त बन गयी थी और उसे धर्म के नाम पर संगठित करना अपेक्षाकृत सहल था। वर्तमान भारत के सबसे बड़े राजनीतिक नेता महात्मा गांधी एक धार्मिक शिक्षक व नेता भी थे।

अब तक हमने विगत शताब्दी के धार्मिक आन्दोलनों की चर्चा की। सौभाग्य या दुर्भाग्य से पिछली अर्धशताब्दी में, और उससे पहले से भी, हमारे देशवासी पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होते रहे हैं। यह प्रभाव राजा राम-मोहन राय, विवेकानन्द, तिलक और गान्धी-जैसे भारतीय संस्कृति के पण्डितों एवं धार्मिक नेताओं में भी देखा जा सकता है। गान्धीजी के कतिपय अनुयायी, जैसे राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद, जहाँ अपनी मनोवृत्ति में अधिक भारतीय रहे हैं, वहाँ आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण एवं जवाहरलाल नेहरू-जैसे नेताओं पर पश्चिमी सामाजिक-राजनीतिक विचारकों का प्रभाव ही प्रधान रहा है। वस्तुतः हमारे देश का जनतांत्रिक संविधान और देश के युवकों में समाजवाद तथा साम्यवाद के विचारों का प्रचार मुख्यतः यूरोपीय संस्कृति की ही देन है। यह लक्ष्य करने की बात है कि पं० नेहरू ने अपनी 'ग्लिम्सेज़ आव वर्ल्ड हिस्टरी' तथा 'डिस्कवरी ऑव इण्डिया' पुस्तकों में गत शताब्दी के धार्मिक आन्दोलनों व शिक्षकों को कोई महत्त्व नहीं दिया है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश का सांस्कृतिक वातावरण एकदम ही बदला हुआ दिखाई पड़ता है। आर्य-समाज, रामकृष्ण मिशन और गांधीवाद का भी प्रभाव बहुत-कुछ खत्म हो चला है। देश में बड़-बड़े उद्योग-धन्धों की नीवें डाली जा रही हैं, और लोगों की मनोवृत्ति क्रमशः ऐहलौकिक होती जा रही है। आचार-विचार के क्षत्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिवाद बढ़ रहे हैं; साहित्य में भी व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। किन्तु चूँकि हिन्दुस्तान एक बड़ा देश है और यहाँ की अधिकांश जनता अशिक्षित या अर्धशिक्षित है, इसलिए बहुत-सी पुरानी सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियाँ व विश्वास भी गाँवों तथा छोटे शहरों की जनता के बीच विभिन्न रूपों तथा मात्राओं में चले ही जाते हैं।

सुशिक्षित एवं समझदार भारतीयों के बीच आज जीवन के ऊँचे स्तर तथा वैज्ञानिक रहन-सहन की माँग बढ़ती जा रही है। किन्तु इन लोगों में भी ऊँची कोटि के बोध की सर्जनात्मक माँग और उसके लिए व्यवस्थित प्रयत्न की प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। यूरोपीय संस्कृति व सभ्यता के प्रभाव से उन्होंने अपने को परम्परा की रूढ़ियों से बहुत-कुछ मुक्त कर लिया है, किन्तु वे यह ज़रूरत महसूस नहीं करते कि देश की प्रगति के लिए नये स्वस्थ विश्वासों एवं परम्पराओं का निर्माण किया जाय। यूरोप तथा अमेरिका में जनतांत्रिक संस्थाओं का संरक्षण एवं पोषण करनेवाली व्यावहारिक परम्पराएँ व संस्थाएँ दृढ़ रूप में प्रतिष्ठित हैं, किन्तु हमारे देश में वैसी परम्पराओं तथा व्यवहार-सरणियों का बहुत-कुछ अभाव है। यहाँ के शिक्षित लोग जहाँ अपने लिए स्वतन्त्रता तथा सुविधाएँ चाहते हैं, वहाँ निम्न वर्गों के कम शिक्षित देशवासियों को वे चीज़ें देते-दिलाते हुए संकोच का अनुभव करते हैं। कहने को देश की सरकारें जनतांत्रिक हैं, पर शासकों और शासितों दोनों में ही प्रायः वास्तविक जनतांत्रिक मनोवृत्ति का अभाव दिखाई देता है। इस समय देश में जात-पाँत पर आधारित भेदभाव भी प्रकारान्तर से बढ़ रहा है, जो कि जनतांत्रिक मनोवृत्ति के एकदम विपरीत है। एक दूसरी चौंकानेवाली स्थिति भी देखने में आ रही है; शिक्षित लोगों में नैतिकता का आग्रह घट रहा है और

वे अधिकाधिक अवसरवादी बनते जा रहे हैं। उनके बीच प्राचीन धार्मिक तथा उनसे सम्बन्धित नैतिक मान्यताओं का प्रभाव क्रमशः लुप्त हो रहा है और उनमें यह मनोवृत्ति बढ़ रही है कि किसी भी तरह अपने भौतिक जीवनस्तर को ऊँचा बनाया जाय।

उक्त स्थिति का उल्लेख यहाँ इसलिए नहीं किया जा रहा है कि हम वर्तमान भारत के किसी वर्ग या वर्गों की बुराई-भलाई का विज्ञापन करें। इसके विपरीत हमारा उद्देश्य उन सांस्कृतिक परिस्थितियों की छानबीन है जो उक्त स्थिति का कारण हैं। इन कारणों पर प्रकाश डालते हुए हम भारतीय संस्कृति के भविष्य के सम्बन्ध में अपने कुछ विचार प्रकट करेंगे।

मनुष्य स्वभावतः मूल्यान्वेषी प्राणी है, वह निरन्तर मूल्यों के उत्पादन में लगा हुआ जीवित रहता है। ऐसी दशा में एक ऊँचे और एक घटिया मनुष्य में यही अन्तर होता है कि वे क्रमशः उच्चतर एवं निम्नतर मूल्यों के लाभ में निरत रहते हैं। यही बात जातियों पर भी लागू है। सभ्य जातियों के जीवन में विभिन्न मूल्योत्पादक क्रियाओं के साथ-साथ एक दूसरी क्रिया भी चलती रहती है; वह चिन्तन-क्रिया जो मूल्यों के स्वरूप का निर्धारण और उनके आपेक्षिक महत्त्व का निर्णय करती है। प्रत्येक सभ्य जाति में कुछ सदस्य—जिन्हें हम विचारक और दार्शनिक कहते हैं—प्रधानतया इसी कार्य में लगे रहते हैं।

एक और बात है। मनुष्य का मूल्यों सम्बन्धी अनुचिन्तन उसके शेष ज्ञान-विज्ञान से निरपेक्ष नहीं होता। जिस जाति में मौलिक मूल्यानुचिन्तन की प्रवृत्ति होती है, उसमें प्रायः वह जिज्ञासा और साधना भी होती है जो ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में नित-नये अनुसन्धान करती है। तात्पर्य यह कि मूल्यों-सम्बन्धी जिज्ञासा विभिन्न ज्ञान-क्षेत्रों से सहचरित जिज्ञासा से अलग व निरपेक्ष नहीं होती। प्राचीन भारत के मनीषियों में इस प्रकार की सर्वतोमुखी जिज्ञासा थी, यही कारण है कि वे ज्ञान, कला आदि के क्षेत्रों में इतना मौलिक व ऊँचा कार्य कर सके। प्राचीन यूनानियों में भी ऐसी जिज्ञासा व चिन्तन-प्रवृत्ति थी। पिछली तीन-चार शताब्दियों के यूरोप में भी वैसी ही अन्वेषण और चिन्तन की प्रवृत्ति रही है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप यूरोप ने विभिन्न

विद्याओं में अभूतपूर्व प्रगति की है और सामाजिक सहयोग एवं न्याय की प्रतिष्ठा करनेवाली बहुत-सी संस्थाओं एवं व्यवहार-सरिणियों को भी संगठित किया है। इधर के यूरोप में व्यक्तिगत स्वाधीनता एवं चिन्तन-स्वातन्त्र्य के आदर्शों का परिपूर्ण विकास हुआ है।

हम यह नहीं कहना चाहते कि यूरोप में जो-कुछ सोचा—किया गया और किया जा रहा है वह सर्वथा निर्दोष और पूर्णतया ग्राह्य है; मनुष्य के सभी प्रयत्न न्यूनाधिक अपूर्ण होते हैं, और यूरोप में वैचारिक-व्यावहारिक निष्कर्ष व आदर्श भी पूर्ण नहीं हैं। हम ज़ोर इस बात पर देना चाहते हैं कि वर्त्तमान यूरोप में ज्ञान-विज्ञान के विकास के साथ-साथ मूल्यानुचिन्तन की क्रिया निरन्तर जारी रही है, और उस क्रिया ने उसके वैयक्तिक-सामाजिक ज़ीवन-ढाँचे को निश्चित रूप में प्रभावित व गठित किया है। पूछा जा सकता है कि हम, यांत्रिक आविष्कारों की भाँति, उपयोगी संस्थाओं व व्यवहार-पद्धतियों को यूरोप और अमेरिका अथवा रूस से क्यों न ले लें? उत्तर है; इस प्रकार का आदान या ग्रहण कुछ दूर तक ही सम्भव है। हमने इंग्लैण्ड और अमेरिका से जनतन्त्र के विधान का ढाँचा ले लिया है, पर हम वहाँ के लोगों की जनतांत्रिक मनोवृत्ति—सबको समान मानने तथा व्यक्ति को आदर देने की प्रवृत्ति—कहाँ पा सके हैं? हमसे पहले जापान ने यूरोप की यांत्रिक उपलब्धियों को अपनाया, पर इससे जापान जहाँ कुछ दिनों के लिए शक्तिशाली राष्ट्र बन गया, वहाँ वह इस लायक नहीं बन सका कि विज्ञान, दर्शन आदि के क्षेत्रों में विश्व को बड़ी चीज़ें दे सके। जापान की जो प्रगति हुई उसका एक कारण वहाँ के लोगों की परिश्रमशीलता भी थी, जो आज भी उनके चरित्र का अंग है। उचित बौद्धिक-नैतिक मनोवृत्ति के अभाव में जापान ज्यादा स्थायी उन्नति न कर सका।

हम कहना चाह रहे हैं कि एक देश दूसरे देश से कुछ चीज़ें लेकर काम चला सकता है, पर ज्यादा महत्त्व की वस्तु देश-विशेष के लोगों की मनोवृत्ति, उनकी मूल्य-भावना और चरित्र (अर्थात् मूल्यों को उचित महत्त्व देने का व्यावहारिक स्वभाव) होता है; ये चीज़ें कहीं विदेश से अनुकरण द्वारा

प्राप्य नहीं होतीं। मानव-व्यक्तित्व में सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ उपयुक्त मूल्य-भावना और उससे अनुप्राणित चरित्र होता है। ये वस्तुएँ किसी भी व्यक्ति या जाति को लम्बी साधना के बिना नहीं मिलतीं। व्यक्ति के जीवन में महत्त्वपूर्ण बोध वही होता है जिसे वह अपने परिश्रम से प्राप्त करता है, और जो अन्तर्दृष्टि एवं जीवन-विवेक का रूप धारण करके उसकी जीवनचर्या को प्रभावित करता है। महत्त्वपूर्ण जीवन-विवेक, किसी व्यक्ति अथवा जाति को, गहरी साधना द्वारा ही उपलब्ध होता है। जातीय जीवन-विवेक किसी जाति की ऐतिहासिक साधना का फल होता है और व्यक्तिगत जीवन-विवेक व्यक्ति की साधना का। एक बुद्ध अथवा गांधी अपने जीवनव्यापी चिन्तन-मनन द्वारा कुछ सत्यों की उपलब्धि करता है; वे सत्य उसके जीवन को महान् बना देते हैं। उसके विभिन्न अनुयायी अपने-अपने सामर्थ्य के अनुरूप ही उन सत्यों का साक्षात्कार कर पाते हैं। जब एक समूची जाति महापुरुषों द्वारा उद्घाटित सत्यों को न्यूनाधिक आत्मसात् करती है, तो वे सत्य जातीय चेतना के अंग बन जाते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि महापुरुष जातीय चेतना को वहीं तक समृद्ध कर सकते हैं जहाँ तक जाति-विशेष ने अपने को उनके द्वारा आविष्कृत सत्य ग्रहण करने के योग्य बना लिया है।

मनुष्य का इतिहास बदलता रहता है, उसका जीवन और जगत् से सम्बन्धित बोध भी बदलता रहता है। विभिन्न शास्त्रों के अन्वेषणों द्वारा ब्रह्माण्ड का––अर्थात् मनुष्य की बुद्धि के सामने उपस्थित भौतिक, जैविक, मनोवैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक जगत् का––मानचित्र लगातार बदल रहा है। एक जीवन्त जाति के जागरूक नेता अपने में निरन्तर इस बदलते हुए विश्व की चेतना जगाये चलते हैं; और उस चेतना की पृष्ठभूमि में निरन्तर जीवन के संभाव्य मूल्यों के बारे में चिन्तन करते रहते हैं। इस क्रिया के दो सम्बद्ध परिणाम होते हैं; एक ओर जातीय चेतना लगातार नये विश्व या परिवेश को समझती चलती है, और दूसरी ओर वह उन मूल्यों तथा जीवन-सरणियों का निरूपण करती चलती है जो विश्व की नयी पृष्ठभूमि में प्रभावशील एवं सुन्दर ढंग से जीने के लिए ज़रूरी है।

हमारी जातीय आत्मा आज उक्त कोटि के चिन्तन-मनन के अभ्यास से वंचित हो गयी है, उसकी सर्जनशील जिज्ञासा एवं विचार की वृत्तियों को घुन लग गया है। फलतः वह बौद्धिक एवं व्यावहारिक प्रेरणाओं के लिए असहाय भाव से कभी अपने अतीत की ओर देखती है और कभी यूरोप व अमेरिका की ओर। विगत शताब्दी के धार्मिक आन्दोलन, जिनकी प्रेरणा अतीत से आयी थी, आज हमें आगे बढ़ाने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं। इससे सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि सिर्फ अतीत की ओर देखना हमारी जातीय अग्रगति के लिए पर्याप्त नहीं है। अतीत के गौरव का स्मरण हमें आगे बढ़ने का साहस दे सकता है, नैतिकता तथा अध्यात्म से सम्बन्धित अतीत की कुछ अन्तर्दृष्टियाँ आज भी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं, किन्तु अतीत का बोध और विवेक आज के लिए पर्याप्त नहीं है। आज हम अतीत के बोध को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक में संशोधित करके ही अपने उपयुक्त बना सकते हैं। तात्पर्य यह कि हम अपने पूर्वजों की समझ तथा विवेक से वहीं तक लाभ उठा सकते हैं जहाँ तक हम स्वयं समझदार और विवेकशील हैं।

आज हम अपने अतीत की ज्ञान-राशि का उचित उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। हम प्रायः अतीत की उन शिक्षाओं तथा रूढ़ियों पर ज्यादा ज़ोर देते हैं जो अब प्रामाणिक तथा उपयोगी नहीं रह गयी हैं—जो समयातीत हो चुकी हैं। इसके विपरीत हमारा ध्यान उन तत्त्वों की ओर नहीं जाता जो चिर-नवीन और इसलिए आज भी महत्त्वपूर्ण हैं। उत्कर्षकालीन सांस्कृतिक चेतना को मानदण्ड मानते हुए इस पुस्तक में यह कोशिश की गयी है कि अतीत विचारकों की दूसरी कोटि की शिक्षाओं या अन्तर्दृष्टियों को आवश्यक गौरव के साथ प्रकाश में लाया जाय।

इस प्रकार की एक अन्तर्दृष्टि इस मन्तव्य में निहित है कि जातीय समृद्धि व ऐश्वर्य की प्राप्ति एवं रक्षा के लिए नैतिक तथा चारित्रिक आधार का होना अनिवार्य रूप में आवश्यक है। यह नहीं हो सकता कि एक ओर हम भौतिक जीवन-स्तर को ऊँचा बनाने की कामना करें, और दूसरी ओर उसके आधार-भूत नैतिक-सामाजिक मल्यों के प्रति उदासीन रहें। इसके लिए यह ज़रूरी

है कि हमारे देश के विचारक मूल्यों के सम्बन्ध में ज़िम्मेदारी के साथ चिन्तन करें और जीवन के युगोचित आदर्शों का नया निरूपण व मण्डन प्रस्तुत करें। विज्ञान-निर्मित नये परिवेश ने हमारे सामने जीवन की नयी सम्भावनाओं को उद्घाटित किया है। प्राचीन युगों की अपेक्षा आज मनुष्य के सुख और दुःख दोनों की सम्भावनाएँ बहुत-कुछ बदल गयी हैं। विभिन्न जातियों की देशगत दूरी खत्म हो गयी है, जिसके फलस्वरूप यह देखना सरल हो गया है कि विभिन्न समाजों में कितनी तरह की प्रथाएँ हैं और भलाई-बुराई के कितने प्रभेद विशुद्ध रूढ़ि मात्र हैं। पुराने हिन्दू नीतिशास्त्र अथवा स्मृति-ग्रन्थ असंख्य विधि-निषेधों से भरे हैं जिनमें से अधिकांश आज अर्थहीन हो चुके हैं। आज के विचारकों को नीति तथा दूसरे क्षेत्रों में ऐसे उदार एवं व्यापक आदर्शों का निरूपण करना है जो नये परिवेश की जीवनसम्भावनाओं को निषेधित न करते हुए लोगों पर यह स्पष्ट कर सकें कि उच्चतर एवं निम्नतर, बढ़िया और घटिया, जीवन-सरणियों में बुद्धिग्राह्य अन्तर क्या होता है। नये युग में जीवन-दर्शन न्यूनाधिक नया रूप धारण करता है, किन्तु कोई भी जीवनदर्शन उस मौलिक अन्तर को नहीं मिटा सकता जो ऊँचे और नीचे जीवन के बीच रहता है। ऊँच-नीच, भले-बुरे का भेद मानव-चेतना की एक अनिवार्य प्रतीति है। इस प्रतीति को बुद्धिगम्य भाषा में निरूपित कर देना ही जीवन-दर्शन है, और उस दर्शन को व्यावहारिक रूप देना ही जीवन-विवेक है।

विभिन्न युगों और विभिन्न देशों या भौगोलिक प्रदेशों में विभिन्न मानव-समूहों का सांस्कृतिक अनुभव अलग-अलग होता रहा है; विभिन्न जातियों द्वारा निरूपित मूल्यों तथा आदर्शों का उनके अपने-अपने विशिष्ट स्वभाव तथा संवेदना से भी सम्बन्ध होता है। इसके अलावा एक और बात भी है—मानव-प्रकृति इतनी विविध है और उसकी प्रेरणाओं में भी इतनी अनेकरूपता है कि विभिन्न देश-कालों में उसका विकास अलग-अलग रूप धारण कर लेता है। हम यह कह रहे हैं कि धरती की विभिन्न सभ्य जातियों के अलग-अलग सांस्कृतिक स्वभाव रहे हैं। प्राचीन यूनानियों में, और वर्तमान यूरोपीयों

में भी, बौद्धिकता का तत्त्व प्रधान रहा है। आधुनिक यूरोप की सभ्यता विज्ञान पर आधारित है, विज्ञान में तर्क-मूलक गणितशास्त्र और निरीक्षण-मूलक प्रयोग दोनों का ही योग रहता है। आधुनिक यूरोप का मस्तिष्क जहाँ एक ओर बहुत सूक्ष्म व तर्कशील है, वहाँ दूसरी ओर, भौतिक और सामाजिक दोनों धरातलों पर, नितान्त व्यावहारिक भी है। आधुनिक यूरोप और अमेरिका में वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ उच्च कोटि की यांत्रिक तथा नैतिक-सामाजिक प्रगति भी हुई है। आज के पश्चिम में सामाजिक न्याय तथा सामाजिक नैतिकता का स्तर बहुत ऊँचा है, और आज वहाँ जैसे भव्य नगर निर्मित हो सके हैं वैसे सम्भवतः विश्व के इतिहास में कभी कहीं निर्मित नहीं हुए। यह साधारण उपलब्धि नहीं है।

इसके विपरीत साम्प्रतिक भारत में सामाजिक न्याय व नैतिकता का धरातल बहुत ही नीचा है। यहाँ के लोगों में सामाजिक ईमानदारी की भावना बड़ी ही निर्बल हो गयी है। यूरोप में व्यक्तियों के निजी सम्बन्धों पर वैसे नियन्त्रण व प्रतिबन्ध नहीं पाये जाते जैसे कि इस देश में; वहाँ नैतिकता का आधार सामाजिक सुविधा व व्यक्तियों का सुख है, न कि रूढ़ियाँ व अन्ध-विश्वास। यही कारण है कि वहाँ व्यक्ति ज्यादा स्वाधीन व सुखी है और वह आज की जटिल सभ्यता के निर्माण व संरक्षण में भरपूर योग दे पाता है।

प्राचीन चीन की सभ्यता में सामाजिक-नैतिक अनुशासन का बड़ा महत्त्व था। चीन में दो बड़े विचारक व शिक्षक हुए, कन्फ्यूशियस और लाउत्से। इनमें लाउत्से उपनिषदों के शिक्षकों की भाँति रहस्यवादी था, उसका चीनी मस्तिष्क पर ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा। चीनी मनोवृत्ति प्रधानतया व्याव-हारिक रही है। कन्फ्यूशियस की शिक्षाओं के प्रभाव में चीन में पारिवारिक तथा राजा-प्रजा आदि के सम्बन्धों पर बहुत विचार किया गया और उन सम्बन्धों को व्यवहार में प्रतिष्ठित किया गया। चीनी मस्तिष्क को सूक्ष्म तर्क से ज्यादा प्रेम नहीं रहा, इसीलिए उसने दर्शन और गणित के क्षेत्रों में ऊँचा कार्य नहीं किया।

आधुनिक यूरोप का विज्ञान ही नहीं, उसका सामाजिक-राजनीतिक ढाँचा भी सूक्ष्म सैद्धान्तिक चिन्तन पर आधारित है। जिन्हें हम जनतंत्र, समाजवाद और साम्यवाद की पद्धतियाँ कहते हैं उनके पीछे यूरोप के दर्जनों विचारकों के लम्बे चिन्तन का आधार निर्मित होता रहा है।

प्राचीन भारतीयों में यूनानियों की भाँति ही सूक्ष्म तर्क करने की शक्ति व आग्रह था, हमारे हिन्दू व बौद्ध दार्शनिक बड़े तर्कनाशील थे। नागार्जुन, धर्मकीर्ति, उद्योतकर, शंकराचार्य-जैसे दार्शनिक अपनी तर्कगत सूक्ष्मता में विश्व के श्रेष्ठतम विचारकों की श्रेणी में आते हैं। किन्तु भारतीय मस्तिष्क में एक दूसरा आग्रह भी था—इस जगत् से परे एक वाङमनस-अगोचर अनंत तत्त्व या पद की प्राप्ति का आग्रह। इस तथ्य को यह कहकर भी प्रकट किया जाता है कि भारत की सांस्कृतिक आत्मा आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए आकुल रही है। भारतीय संस्कृति मूलतः एक आध्यात्मिक संस्कृति है जिसका चरम आदर्श अमृतत्व या मोक्ष की प्राप्ति है। भारतीय दर्शनों का अन्तिम उद्देश्य जिज्ञासु को साधक में परिणत करके उसे मोक्ष के लिए उन्मुख बनाना है। प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने जीवन और जगत् के बारे में बड़ा सूक्ष्म व गम्भीर चिन्तन किया, किन्तु वह चिन्तन लगातार इस उदात्त आध्यात्मिक प्रयोजन से अनुप्राणित रहा। सम्भवतः किसी भी दूसरे देश के दार्शनिकों के सम्बन्ध में यह बात इस हद तक सही नहीं होगी। यों यूरोप में भी प्लेटो और स्पिनोज़ा-जैसे महान् दार्शनिक हुए हैं जिनके जीवन में अध्यात्म का ऊँचा स्थान था। फिर भी यह कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर यूरोपीय दार्शनिकों ने आध्यात्मिक जीवन (रिलीजस लाइफ) और उसकी समस्याओं में उतनी रुचि नहीं ली जितनी कि आचार-नीति तथा गणित और (बाद में) विज्ञान की समस्याओं में। प्लेटो गणित का बड़ा प्रेमी था और गणितशास्त्र को बड़ा महत्त्व देता था। प्लेटो से पहले पाइथेगोरस ने यह कहा था कि गणित के अध्ययन से आत्मा शुद्ध होती है। अपनी 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने सामाजिक न्याय (जस्टिस) आदि नैतिक मूल्यों के मण्डन का गम्भीर प्रयत्न किया है। प्लेटो और अरस्तू दोनों ने,

जो यूनान के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं, सामाजिक, नैतिक तथा राजनीतिक आदर्शों के बारे में गम्भीर चिन्तन किया है। यही बात वर्तमान यूरोप के जॉन लॉक, रूसो, काण्ड, हेगेल, कार्लमार्क्स, ग्रीन बोसांके आदि विचारकों पर लागू होती है। इसके अतिरिक्त डेकार्ट, स्पिनोज़ा, लाइबनीज़, काण्ट, रसेल, व्हाइटहेड आदि दार्शनिक विज्ञान और गणित से सम्बन्धित समस्याओं में बराबर गहरी अभिरुचि लेते रहे हैं। इसके विपरीत भारतवर्ष के किसी भी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ने न तो कभी सामाजिक-नैतिक मूल्यों के निरूपण में विशेष अभिरुचि ली, और न गणित व विज्ञान में ही। सम्भवतः यह एक मुख्य कारण है कि हमारे देश में महत्त्वपूर्ण राजनीतिक क्रान्तियाँ नहीं हुईं और सदियों तक देश में एकमात्र राजतन्त्र का विधान चलता रहा। सम्भवतः इसी कारण हमारे देश में आधुनिक प्रयोगात्मक विज्ञान का उदय भी नहीं हुआ। मानना पड़ता है कि भौतिक व सामाजिक विज्ञानों तथा सामाजिक-नैतिक मूल्यों से सम्बन्धित चिन्तन की दृष्टि से आधुनिक यूरोप इतिहास की सभी सभ्य जातियों से आगे पहुँच गया है।

हमारे देश में, विगत शताब्दी के धार्मिक आन्दोलनों के बावजूद, जो आज सामाजिक-नैतिकता का स्तर नीचा है, इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण शायद यह भी है कि हमारे देश के उच्चतम दार्शनिक मस्तिष्क जीवन के नैतिक धरातल के प्रति उदासीन रहे हैं। हमारे देश के अतीत में नैतिक आदर्शों के निरूपण का काम स्मृतिकारों ने किया है, दार्शनिकों ने नहीं। और उन स्मृतिकारों ने विधि-निषेधों का ऐसा जटिल जाल रचा कि लोगों में आचारनीति सम्बन्धी जिज्ञासा कायम न रह सकी। इस प्रकार की जिज्ञासा महाभारत के समय में बहुत ज्यादा वर्तमान थी। स्मृति-ग्रन्थों के अतिरिक्त हम काव्य-नाटकों में ही भलाई-बुराई की सूक्ष्म संवेदना पाते हैं।

भारतीय संस्कृति की साम्प्रतिक आवश्यकताएँ

हमें इस मन्तव्य से झगड़ने की ज़रूरत नहीं है कि अध्यात्म की दृष्टि

से प्राचीन भारतीय दर्शन बहुत ऊँचा है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि इस लोक या जीवन के नैतिक तथा दूसरे मूल्य उपेक्षणीय हैं। सच यह है कि जहाँ हमें यहाँ के जीवन-मूल्यों का साक्षात् अनुभव है, वहाँ मोक्ष नाम की स्थिति बहुत-कुछ कल्पना की ही चीज़ है। अवश्य ही हमारे विचारकों ने जीवन्मुक्ति की स्थिति भी मानी है; जिसके महत्त्व का यहीं अनुभव किया जा सकता है। किन्तु जीवन्मुक्ति का मतलब यह नहीं है कि हम मानव-जाति के सुख-दुःख तथा समाज की नैतिक व्यवस्था के प्रति उदासीन बन जायँ। जीवन्मुक्ति की स्थिति का वास्तविक आशय यह है कि साधक व्यक्तिगत हानि-लाभ में विशेष आसक्ति न रखे। जीवन में प्राप्त होनेवाले समस्त मूल्य सीमित हैं; किन्तु वे सीमित मूल्य एकदम उपेक्षा की चीज़ नहीं हो सकते। जिन्हें हम असीम मूल्य समझते हैं वे सम्भवतः हमारे अनुभव के दायरे के बाहर हैं। सम्भव है कि कालिदास तथा शेक्स-पियर के काव्य से ऊँची रचनाएँ किसी दूसरे लोक में होती हों, किन्तु वह मनुष्य सचमुच ही मूर्ख और अभागा है जो किसी कल्पित अलौकिक काव्या-नन्द के फेर में इन धरती के महाकवियों की उपेक्षा करे। हम आध्यात्मिकता का यही अर्थ समझते हैं कि विवेकी व्यक्ति इस लोक के मूल्यों का उपभोग करते हुए भी उनमें ऐसी आसक्ति महसूस न करे कि उनके अभाव में व्याकुल बन जाय। इस दृष्टि से आध्यात्मिकता का अर्थ जीवन-मूल्यों के सर्जन व उपभोग के प्रति उपेक्षा की भावना नहीं है; इसके विपरीत उसका अर्थ ऐसी अनासक्ति है जो हमें चरम सन्तुलन एवं निराकुल प्रयत्नशीलता की क्षमता देती है। कवि माघ ने कहा है; महारंभाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः, अर्थात् कृतबुद्धि (कुशल व विवेकी) लोग बड़े-बड़े काम शुरू करते हैं, फिर भी निरा-कुल बने रहते हैं। महापुरुष वे नहीं हैं जो संन्यास लेकर दुनिया के बड़े प्रयत्नों से छुट्टी ले लेते हैं, बल्कि वे जो दुनिया में रहते हुए ही अनासक्ति के साथ बड़े-बड़े लोक-संग्रह के कार्य करते हैं। बुद्ध और ईसा, शंकर और गांधी इसी प्रकार के कर्मयोगी थे; कर्मयोग का यही आदर्श कालिदास के रघु-जैसे विश्वविजयी वीरचरित्र में प्रतिष्ठित है।

एकान्त संन्यस्त जीवन का आदर्श इस देश में स्वर्ण-युग के बाद ही प्रतिष्ठित हुआ; उससे काफ़ी पहले कुछ बौद्ध तथा जैन शिक्षकों ने वैसे आदर्श का प्रचार किया था। किन्तु स्वयं बुद्ध अतियों के रास्ते को बचाकर मध्य मार्ग पर चलने के पक्षपाती थे। मीमांसकों के मत में भी एकान्त रूप में संन्यस्त जीवन अवांछनीय है। लौकिक होना और एकान्त रूप में परलोक-परायण होना दोनों ही रास्ते ख़तरनाक हैं। पुरुषार्थी मनुष्य के जीवन में आसक्ति व अनासक्ति का उचित सामञ्जस्य होना चाहिए; श्रेष्ठ जीवन में गहरी लोक-संग्रही आसक्ति के साथ-साथ ऊँची अनासक्ति का पुट रहता है।

चूँकि मूल्यों का प्रकृत क्षेत्र लौकिक जीवन है, इसलिए विचारकों को गम्भीरता से उन पैमानों का निरूपण करना चाहिए जो हमें ऊँच-नीच तथा घटिया-बढ़िया का विवेक सिखाते हैं। किसी सूक्तिकार ने कहा है——

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।

'बुद्धिमानों का समय काव्य-शास्त्रों के सेवन में ख़र्च होता है, इसके विपरीत मूर्खों का समय तरह-तरहके व्यसनों, नींद और कलह में बीतता है।' प्राचीन भारत में काव्य-शास्त्र-चर्चा की व्यापक प्रवृत्ति थी। यह चर्चा ऊँच-नीच के पैमानों की अवगति के बिना नहीं हो सकती। सम्भव है, योग और वेदान्त के कुछ पण्डित कहें कि जीवन का लक्ष्य सब प्रकार की चित्तवृत्तियों का निरोध है, किन्तु हमें काव्य-शास्त्र-विनोद का आदर्श ज्यादा प्रिय जान पड़ता है। इससे ऊँचा आदर्श, हमारी दृष्टि में, एक ही है——अर्थात् बुद्ध और गांधी का लोक-कल्याण का आदर्श।

हम अपनी परम्परा के परित्याग के पक्षपाती नहीं हैं; वस्तुतः कोई भी सभ्य व्यक्ति व जाति परम्परा को छोड़कर जीवित नहीं रह सकती। किन्तु हमें यह पसन्द नहीं है कि हम आज अन्धे, विवेक-शून्य ढंग से पुरानी परम्पराओं को पकड़कर चलते रहें; हमें यह भी रुचिकर नहीं है कि हमारे देशवासी

अपने को हीन समझते हुए पश्चिम का असमीक्षित अनुकरण करें। ये दोनों ही रास्ते समझदारी के मार्ग नहीं हैं; दोनों ही तरीके एक जीवन्त, विवेक-सम्पन्न जाति के अयोग्य हैं। हमारे लिए उचित रास्ता यह है कि हम अपने देश के अतीत तथा यूरोप के वर्तमान, दोनों के प्रति उचित आत्मविश्वास एवं विवेक के साथ सन्तुलित प्रतिक्रिया करें, और दोनों की जीवनदायिनी परम्पराओं से प्रेरणा लेते हुए सजग साहस से आगे बढ़ें।

परिशिष्ट

महाकाव्यों का परिचय

रामायण और महाभारत दोनों का ही समय निश्चित नहीं है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि रामायण की रचना महाभारत से पहले हुई होगी। महाभारत में रामकथा का उल्लेख है, जब कि रामायण में महाभारत-वर्णित किसी पात्र की चर्चा नहीं मिलती। यदि राम ऐतिहासिक पुरुष थे तो वे निश्चत ही पाँच पांडवों से पहले हुए थे। रामायण के अनुसार महर्षि वाल्मीकि राम के समय में मौजूद थे। इन सब कारणों से यह मानना उपयुक्त लगता है कि रामायण महाभारत से पहले की रचना है।

वाल्मीकि-कृत रामायण

उपलब्ध रामायण बड़ा ग्रन्थ है। उत्तरकांड को मिलाकर उसमें सात कांड हैं। प्रत्येक कांड सर्गों में विभाजित है। एक-एक कांड में बहुत-से सर्ग हैं; जैसे बालकांड में ७७ सर्ग है, अयोध्याकांड में ११९, अरण्यकांड में ७५, किष्किधा में ६७ इत्यादि। राम की मुख्य कथा के अतिरिक्त रामायण में, विशेषतः बालकांड में, अनेक कथाओं-उपकथाओं का समावेश है। प्रारम्भ में कवि वाल्मीकि नारद से प्रश्न करते हैं कि इस लोक में कौन ऐसा व्यक्ति है जो पराक्रमी होने के साथ-साथ गुणवान् भी है। नारदजी दशरथ-पुत्र राम का नाम लते हैं। इसके बाद तमसा के तीर पर वे व्याध द्वारा क्रौंच-मिथुन में से एक का वध देखकर श्लोक का उच्चारण करते हैं। इस पर ब्रह्माजी आकर कवि का अभिनन्दन करके उन्हें रामचरित के वर्णन का उपदेश देते हैं (सर्ग १-२)। तीसरे सर्ग में रामायण में वर्णित विषयों का संक्षेप में निर्देश है; यह निर्देश वर्तमान रामायण के अनुकूल ही है। अगले सर्ग में राम के द्वारा अपने पुत्रों के मुख से अपना चरित्र सुनने का उल्लेख है। इसके बाद

तीन सर्गों में अयोध्या, दशरथ तथा उनके शासन व नीति का वर्णन है। पुत्र-हीन दशरथ ने अश्वमेध यज्ञ करने का उपक्रम किया। ऋष्यश्रृंग की सहायता से यज्ञ सम्पन्न हुआ और कुछ समय बाद राजा को चार पुत्र प्राप्त हुए।

बड़े होने पर राम-लक्ष्मण को विश्वामित्र माँगकर ले गय। विश्वामित्र ने उन्हें बला तथा अतिबला नाम की विद्याएँ दीं। ताड़का का वध करने के बाद राम ने विश्वामित्र से अस्त्र प्राप्त किये। इसके बाद राम ने विष्णु का सिद्धाश्रम देखा, उसके पश्चात् मारीच और सुबाहु का निवारण किया।

बालकांड--इसमें बहुत-सी कथाओं का उल्लेख है, इनमें से अधिकांश कथाएँ विश्वामित्र द्वारा राम को सुनायी गयी हैं। यहाँ कुछ मुख्य कथाओं का उल्लेख मात्र किया जाता है--विश्वामित्र के वंश से संबंधित कथाएँ, गंगा तथा पार्वती की उत्पत्ति की कथाएँ, कार्तिकेय की उत्पत्ति, राजा सगर और उनके साठ हजार पुत्रों के कपिल द्वारा भस्म किये जाने का वृत्तान्त, सगर वंशी राजा भगीरथ की कथा, दिति और अदिति की कथा, समुद्र के मंथन का वर्णन तथा विष की उत्पत्ति, गौतम तथा अहल्या की कथा, गौतम का इन्द्र तथा अहल्या को शाप देना और अहल्या के उद्धार का उपाय बतलाना, राम के चरण स्पर्श से अहल्या की मुक्ति, शतानन्द द्वारा विश्वामित्र के वंश का कथन, वसिष्ठ तथा विश्वामित्र के संघर्ष का वृत्तान्त, ब्रह्म-तेज की श्रेष्ठता का प्रतिपादन, त्रिशंकु की कथा, अम्बरीष के यज्ञ का वर्णन, विश्वामित्र की तपस्या और मेनका द्वारा उसका भंग, विश्वामित्र द्वारा फिर तपस्या और ब्रह्मर्षिपद की प्राप्ति, सीता तथा उर्मिला की उत्पत्ति की कथाएँ, राम द्वारा धनुर्भङ्ग और चारों भाइयों का विवाह।

अयोध्याकांड---काव्य की दृष्टि से रामायण का सर्वश्रेष्ठ अंश अयोध्याकांड है। बालकांड में अलौकिक कथाओं की भरमार है, अयोध्याकांड में विशुद्ध मानवीय कथा कही गयी है। इस कांड की अधिकांश कथा का अनुगमन तुलसीदाल के 'रामचरितमानस' में हुआ है। दशरथ द्वारा राम के अभिषेक की चर्चा होने पर कैकेयी के मातृकुल की दासी मन्थरा ने आकर रानी को बहकाया। कैकेयी ने राजा से दो वरदान माँगे। तदनुसार राम को लक्ष्मण

तथा सीता समेत वनगमन करना पड़ा। दशरथ की मृत्यु के बाद भरत का आगमन और चित्रकूट-गमन। राम-लक्ष्मण दोनों का सन्देह और संवाद। राम के पास पहुँचकर भरत का विलाप। ब्राह्मणों में श्रेष्ठ जाबालि का राम को उपदेश--'कौन किसका भाई है, कौन किसका बन्धु; मनुष्य अकेला आता है और अकेला ही जाता है। पिता के राज्य को छोड़कर कष्ट के पथ में मत जाओ। राज-भोगों को भोगो। जो लोग प्रत्यक्षसिद्ध धन आदि को छोड़कर धर्म की चिन्ता करते हैं वे शोचनीय हैं। कर्मफल का भोगनेवाला कोई नित्य आत्मा नहीं है। दान आदि का विधान चतुर लोगों ने सहज धन-प्राप्ति के लिए किया है। प्रत्यक्ष की चिन्ता करो, परोक्ष की नहीं।' जाबालि के इस नास्तिक उपदेश पर राम ने क्रोध किया और चारित्र, सत्यवादिता आदि की प्रशंसा की। पिता को सत्यवादी बनाने के लिए राम द्वारा भरत को लौटने का उपदेश। अयोध्या पहुँचकर भरत का राम की पादुकाओं के साथ नन्दिग्राम में वास। राम का दण्डकारण्य में प्रवेश।

अरण्यकांड--ऋषियों द्वारा राम का स्वागत, विराध द्वारा सीता-ग्रहण, विराध की मृत्यु। राम का पंचवटी-गमन। जटायु से भेंट। शूर्पणखा का आगमन और विरूपीकरण। खर, दूषण तथा त्रिशिरा का वध। मारीच के साथ रावण का आना। स्वर्णमृग का वध और रावण द्वारा सीता-हरण।

किष्किन्धाकांड--पम्पा के तीर पर राम-लक्ष्मण का शोकपूर्ण संवाद, पम्पा का वर्णन राम और सुग्रीव की मित्रता और एक-दूसरे की मदद करने की शपथ। बाली का वध तथा सुग्रीव के आदेश से सीता की खोज के लिए वानरों का प्रयाण। सीता को खोजते हुए वानरों का मयासुर-रक्षित ऋक्ष-बिल में पहुँचना, वहाँ से स्वयंप्रभा तपस्विनी की मदद से सागर-तट पर पहुँचना। जटायु के भाई सम्पाती का आगमन और पंख जलने की कथा का उल्लेख, उसके द्वारा सीता-समाचार का कथन और नये पंखों की प्राप्ति। हनुमान की उत्पत्ति आदि की कथा का जाम्बवान द्वारा उल्लेख।

सुन्दरकांड--समुद्र का उत्प्लवन करते हनुमान का वर्णन, हनुमान द्वारा

लंका का दर्शन, लंका के घरों का वर्णन, रावण के घर में पुष्पक विमान देखना। रावण के शयनासन और पानभूमि का वर्णन। अशोकवन में सीता को देखकर हनुमान का विषाद। हनुमान द्वारा वाटिका-विध्वंस तथा लंका-दहन। लौटकर हनुमान द्वारा जाम्बवान, अंगद आदि को और बाद में राम-लक्ष्मण को सीता का समाचार सुनाना।

युद्धकांड––राम द्वारा हनुमान की प्रशंसा, लंका की स्थिति सम्बन्धी प्रश्न। विभीषण का शरण में आना और राम की उससे मन्त्रणा। अङ्गद का दूत रूप में जाना और लौटना। युद्ध-प्रारम्भ, निशा-युद्ध, मेघनाद द्वारा राम-लक्ष्मण का घायल होना। सीता को पुष्पक विमान में बैठाकर घायल राम-लक्ष्मण को दर्शित कराना। सुषेण वैद्य का और फिर गरुड़ का आगमन, राम-लक्ष्मण का स्वस्थ होना। मेघनाद द्वारा युद्ध, ब्रह्मास्त्र द्वारा राम, लक्ष्मण आदि सबको अचेत करना। हनुमान द्वारा द्रोण पर्वत का लाना तथा वानर-सेना और राम-लक्ष्मण का चेतना लाभ करना। मेघनाद-वध। राम-रावण का युद्ध, रावण की शक्ति से लक्ष्मण की मूर्च्छा। रावण का सिर कटने पर दूसरे सिर का प्रकट होना। मातलि के सुझाव से राम द्वारा ब्रह्मास्त्र से रावण का वध। सीता का सम्मुख-आगमन। राम ने कहा––'तुम पराये घर में रही हो, तुम्हारा ग्रहण उचित नहीं है।' सीता का लक्ष्मण-रचित अग्नि में प्रवेश। सीता को निर्दोष बतलाते हुए अग्नि द्वारा उनका राम को समर्पण। विमान पर दशरथ का आगमन। राम की उनसे यह प्रार्थना कि कैकेयी और भरत पर प्रसन्न होओ। इन्द्र की कृपा से वानरों का पुनर्जीवन। चौदह वर्ष पूर्ण होते राम का अयोध्या प्रत्यागमन। भरत द्वारा राज्य-रूप धरोहर का वापस देना। पुष्पक विमान का लौट जाना। राम का अभिषेक। सीता द्वारा हनुमान को हार का दान राम के राज्य का वर्णन और रामायण की कथा सुनने के फल का कथन।

उत्तरकांड––रामयण-श्रवण के फल-कथन से जान पड़ता है कि मूल रामायण युद्धकाण्ड के साथ समाप्त हुई थी। उत्तरकाण्ड में काफी बाद को सुग्रीव, विभीषण आदि का प्रयाण दिखाया गया है।

राम के पास कौशिक आदि महर्षि आये और उन्होंने राम की स्तुति की, उन्होंने मेघनाद की प्रशंसा भी की, जिसे सुनकर राम को उसके बारे में जानने का कौतूहल हुआ। इस पर अगस्त्य ने रावण के दादा पुलस्त्य और रावण के पिता विश्रवा की कथा सुनायी और बतलाया कि किस प्रकार कैकयी के गर्भ से रावण, कुम्भकर्ण, शूर्पणखा आदि उत्पन्न हुए, इसके बाद रावण की विभिन्न विजयों का वर्णन है; उसने कुवेर से पुष्पक विमान छीना, शंकर को प्रसन्न कर चन्द्रहास खड्ग पाया। वेदवती नामक तपस्विनी को भ्रष्ट किया जो बाद में बदला लेने को सीता बनी। अगस्त्य द्वारा राम के पूछने पर हनुमान की जन्मादि-कथा का वर्णन। जनक, केकय, सुग्रीव, विभीषण आदि का प्रस्थान। सीता के निर्वासन की कथा, उनका वाल्मीकि के आश्रम में आवास। मधु अथवा लवण नामक असुर का जिक्र, उसे मारने जाते हुए शत्रुघ्न का वाल्मीकि के आश्रम में प्रवेश और सीता के दो पुत्रों की उत्पत्ति। ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु, शंबूक नाम के तपस्वी शूद्र की कथा। राम की राजसूय यज्ञ करने की इच्छा। वाल्मीकि का आगमन और कुश-लव द्वारा रामकथा का गान, इस कथा में वाल्मीकि-रचित चौदह हजार श्लोक थे। राम ने कहा कि 'सीता अपनी शुद्धता सिद्ध करने के लिए शपथ करें।' सीता ने शपथ ली, भूतल से सिंहासन निकला और सीताजी रसातल में प्रवेश कर गयीं। राम के पास तापसरूपधारी काल आया, उसने राम को ब्रह्मा का सन्देश सुनाया, राम प्रसन्न हुए। क्रोधी दुर्वासा का आगमन। राम-लक्ष्मण का वियोग। सरयूतीर पर पहुँचकर राम का स्वर्ग-गमन। रामायण-काव्य के पाठ का फल-कथन।

महाभारत

(महाभारत के रचियता श्री कृष्ण द्वैपायन व्यास हैं। आकार में महाभारत रामायण से कहीं अधिक बड़ा ग्रन्थ है। उसमें प्रक्षिप्त अथवा बाद में मिलाये हुए अंश भी अधिक हैं, इतने अधिक कि उनके बीच से मूल महाभारत को अलग करना नितान्त कठिन, लगभग असंभव-सा जान पड़ता है। पांडवों

की मूलकथा के अतिरिक्त महाभारत में सैकड़ों कथाएँ। उपकथाएँ हैं। महाभारत के ही 'अनुक्रमणिका पर्व' में लिखा है कि व्यासजी ने चौबीस हजार श्लोकों की भारत-संहिता बनायी, जिसमें उपाख्यान नहीं थे। इसी पर्व में धृतराष्ट्र ने भारती-कथा के मुख्य प्रसंगों का नाटकीय संकेत किया है। दूसरे अध्याय अर्थात् 'पर्वसंग्रहपर्व' में ज्यादा लम्बी विषय-सूची है। यह सूची वर्तमान अर्थात् प्रचलित महाभारत के विषयों का निर्देश करती है।)

आदिपर्व—सूतकुल में उत्पन्न लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा नैमिषारण्य में पहुँचे, जहां कुलपति महर्षि शौनक के बारह वर्षों तक चालू रहने वाले सत्र में बहुत-से ब्रह्मर्षि इकट्ठे थे। उनके पूछने पर उग्रश्रवा सौति ने बतलाया कि वे परीक्षित्-पुत्र जनमजय के सर्प-सत्र (नाग-यज्ञ) से आये हैं, जहाँ 'महाभारत' नाम की विविध कथाएँ सुनायी गयी थीं। ऋषियों ने व्यासरचित 'महाभारत संहिता' के सुनने की इच्छा प्रकट की। इस पर सौति ने कथा सुनायी। ब्रह्माजी की कृपा से व्यासजी को, महाभारत-रचना के समय, लिखने के लिए गणेशजी मिल गये। महाभारत में उपाख्यानों का समावेश कर देने पर एक लाख श्लोक होते हैं।

जनमेजय ने नागयज्ञ उत्तंक ऋषि के प्रोत्साहन से शुरू किया क्योंकि जनमेजय के पिता परीक्षित् (जो अभिमन्यु और उत्तरा के पुत्र थे) की मृत्यु तक्षक सर्प के काटने से हुई थी। इतना बतलाने के बाद सौति ने अन्य कथाएँ सुनानी शुरू कीं। पौलोमपर्व—भृगवंश की कथा, जिसके अंतर्गत पुलोमा दानव, महर्षि च्यवन, प्रमद्वरा तथा रुरु का जीवनवृत्तान्त है। रुरु का सर्पों को मारने का निश्चय और उन्हें डुण्डुभ सर्प द्वारा अहिंसा का उपदेश। उसका समाधान। आस्तीक पर्व–जरत्कारु ऋषि का वासुकि की बहिन से विवाह तथा आस्तीक पुत्र का जन्म, जिसने जनमेजय के सर्पसत्र से नागवंश की रक्षा की। राजा परीक्षित् ने शमीक मुनि का तिरस्कार किया, शमीक के पुत्र शृंगी ऋषि ने परीक्षित् को शाप दिया कि उनकी मृत्यु तक्षक द्वारा डसे जाने से होगी। पुन: जनमेजय के सर्पयज्ञ का उल्लेख। अंशावतरण पर्व—जनमजय के यज्ञ में व्यासजी का आगमन, राजा की प्रार्थना पर व्यास द्वारा प्ररित वैशम्पायन ने

महाभारत की कथा सुनायी (जिसे सौति ने नैमिषारण्य में जाकर दुहराया)। वैशम्पायन ने सुनाया कि एक उपरिचर वसु नाम के राजा हुए। उनके तप से घबराकर इन्द्र ने उन्हें चेदि देश का राजा बनाया। उनका वीर्य किसी तरह मछली के पेट में पहुँचा जिससे दो मनुष्य बालक उत्पन्न हुए; एक पुरुष (मत्स्य नामक) और दूसरी कन्या (सत्यवती)। सत्यवती को पराशर ऋषि का संयोग प्राप्त हुआ जिससे व्यास उत्पन्न हुए। चूँकि उन्होंने वेदों का व्यास (विस्तार) किया, इसलिए उनका नाम व्यास पड़ा। व्यास ने महाभारत लिखा और अनेक शिष्यों को, जिनमें वैशम्पायन भी थे, पढ़ाया। गंगा और शान्तनु से भीष्म जन्मे, अणी-मांडव्य ऋषि के शाप से धर्म की विदुर रूप से शूद्र-योनि में उत्पत्ति। सञ्जय, कर्ण तथा कृष्ण, सात्यकि, कृतवर्मा, द्रोण, अश्वत्थामा, धृष्टद्युम्न आदि के जन्म। कुन्ती एवं माद्री के गर्भ से धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों ने क्रमशः युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा नकुल-सहदेव उत्पन्न किये। द्रुपद की कन्या शिखंडी का जन्म। दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा, दक्ष, वैवस्वत मनु तथा उनके पुत्रों की उत्पत्ति-कथा, पुरूरवा, नहुष और ययाति के वृत्तान्त का वर्णन। ययाति पाण्डवों आदि के पूर्वज थे। कच और देवयानी की कथा। शान्तनु और गंगा के विवाह की कथा और शान्तनु-पुत्र भीष्म की अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा। सत्यवती के गर्भ से चित्रांगद और विचित्रवीर्य की उत्पत्ति, शान्तनु और चित्रांगद की मृत्यु तथा विचित्रवीर्य का राज्याभिषेक। विचित्रवीर्य की मृत्यु पर माता सत्यवती के अनुरोध से कुरुवंश की वृद्धि के लिए व्यास द्वारा विचित्रवीर्य की पत्नियों से धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर का जन्म। धृतराष्ट्र और पांडु के विवाह, धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों तथा पांडवों का जन्म-कथन। कृपाचार्य, द्रोण और अश्वत्थामा की उत्पत्ति-कथाएँ। द्रोण की परशुराम से अस्त्र-प्राप्ति, द्रुपद से तिरस्कार, भीष्म द्वारा राजकुमारों की शिक्षा के लिए उनकी नियुक्ति। जतुगृहपर्व—दुर्योधन द्वारा वारणावत-यात्रा पर गये पाण्डवों को लाक्षागृह में मारने की योजना और उसकी विफलता। भीम द्वारा हिडिम्ब राक्षस का वध तथा हिडिम्बा से विवाह और घटोत्कच की उत्पत्ति। पांडवों का

द्रौपदी-स्वयंवर में जाना, अर्जुन द्वारा लक्ष्यवेध और द्रौपदी की प्राप्ति, पांचों से उसके विवाह का निश्चय। द्रोण और विदुर की सम्मति से पांडवों का हस्तिनापुर बुलाया जाना और आधा राज्य पाकर उनके द्वारा इन्द्रप्रस्थ नगर का निर्माण। नारद का आगमन और युधिष्ठिर आदि को नियम बनाकर द्रौपदी के साथ रहने का उपदेश। ब्राह्मण के गोधन की रक्षा के लिए अर्जुन द्वारा नियम-भंग और १२ वर्ष की वन-यात्रा। मणिपुर में चित्रांगदा से विवाह। द्वाराका में सुभद्रा का हरण व उससे विवाह। खांडव वन का दाह।

सभापर्व––मय दानव द्वारा अद्भुत सभा का निर्माण। नारद का उस (युर्धिष्ठर) की सभा में आगमन और उनके द्वारा इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर तथा ब्रह्माजी की सभाओं का वर्णन। युधिष्ठिर द्वारा राजसूय यज्ञ का संकल्प, यज्ञ-वर्णन। भीष्म की अनुमति से श्री कृष्ण की पूजा। शिशुपाल के आक्षेपपूर्ण वचन, भीष्म द्वारा उत्तर। कृष्ण द्व रा शिशुपाल-वध। द्यूत-पर्व––दुर्योधन की ईर्ष्या, द्यूत के लिए युधिष्ठिर का आह्वान, युधिष्ठिर का राज्य, भाइयों तथा द्रौपदी को हारना, दुःशासन द्वारा द्रौपदी का वस्त्र-कर्षण। भीम का क्रोध। धृतराष्ट्र का युधिष्ठिर को राज्य आदि लौटाकर इन्द्रप्रस्थ जाने का आदश। दुबारा जुआ, हारकर युधिष्ठिर आदि का वन-गमन।

वनपर्व––प्रजाजनों को लौटाकर पांडवों का काम्यक वन में प्रवेश, वहां विदुर और श्री कृष्ण का आगमन, द्रौपदी का शोक तथा युधिष्ठिर को उत्ते-जित करना, व्यासजी के उपदेश से सब भाइयों का इन्द्रकील पर्वत पर जाकर इन्द्र से साक्षात्कार करना, अर्जुन की तपस्या और शंकरजी द्वारा अस्त्र प्रदान। अर्जुन द्वारा कामासक्त उर्वशी का तिरस्कार, उर्वशी का शाप। नल-दमयन्ती की कथा। पांड़वों की तीर्थयात्रा, ऋषियों से अगस्त्य, परशुराम, वृत्रवध, सगर, भगीरथ, गंगावतरण, ऋष्यशृंग, च्यवन, मांधाता आदि के उपाख्यान सुनना। गन्धमादन-यात्रा, हनुमान-भीमसेन मिलन, यक्षों से युद्ध, कुबेर दर्शन, अर्जुन का स्वर्ग से लौटना। पांड़वों का द्वैतवन में आना, सर्परूपी

नहुष से संवाद और उसकी मुक्ति। द्वैतवन में पांडवों के समीप श्री कृष्ण का आगमन, विविध धर्मकथाएँ, द्रौपदी द्वारा सत्यभामा को सत्परामर्श। दुर्योधन की गंधर्वों से पराजय और पांडवों द्वारा रक्षा तथा उसकी आत्म-ग्लानि। सावित्री-उपाख्यान। इन्द्र का कर्ण से कवच-कुंडल दान लेना और दिव्य शक्ति प्रदान। यक्ष-युधिष्ठिर संवाद।

विराटपर्व––अज्ञातवास के लिए पाण्डवों का विराट नगरमें प्रवेश, वहाँ अस्त्र आदि छिपाना। भीमसेन द्वारा जीमूत नामक मल्ल का वध। कीचक द्वारा द्रौपदी का अपमान, भीमसेन द्वारा उसका वध। पांडवों द्वारा सुशर्मा से राजा विराट की रक्षा। कौरवों द्वारा विराट की गौओं का अपहरण। राज-कुमार उत्तर के सारथि बने हुए बृहन्नला (अर्जुन) द्वारा कर्ण आदि कौरवों की पराजय और गौओं का उद्धार। अभिमन्यु का विराट-पुत्री उत्तरा से विवाह।

उद्योगपर्व––विराट नगर में श्री कृष्ण आदि के परामर्श से द्रुपद-पुरोहित का हस्तिनापुर जाना। श्री कृष्ण का अर्जुन और दुर्योधन को सहायता का आश्वासन, पांडवों की सैनिक तैयारी। संजय का दूत बनकर आना और पांडवों का कौरवों को संदेश, धृतराष्ट्र की चिन्ता, विदुर और सनत्सुजात का नीति-उपदेश। श्री कृष्ण का दूत बनकर कौरव सभा में जाना और उनकी शान्तिवार्ता की विफलता। कुरुक्षेत्र में दोनों पक्षों की सैन्य-योजना, सेनापति निर्वाचन और व्यूहरचना।

भीष्मपर्व––वेदव्यास द्वारा सञ्जय को दिव्य-दृष्टि-दान। सञ्जय द्वारा भूमि के महत्त्व तथा अनेक द्वीपों, पर्वतों, नदियों आदि का वर्णन। धृतराष्ट्र के पूछने पर सञ्जय द्वारा युद्ध का विवरण। अर्जुन द्वारा भीष्म तथा द्रोण का अभिवादन। दोनों द्वारा अर्जुन को विजय का आशीर्वाद। युयुत्सु का युधिष्ठिर के पक्ष में आना। इस पर्व में दूसरा कोई सांस्कृतिक महत्त्व का प्रसंग नहीं है। युद्ध का प्रारम्भ, दसवें दिन शिखण्डी की मदद से भीष्म का पतन हुआ। अर्जुन ने भीष्म को बाण-शय्या दी और वे प्राण त्याग के लिए उत्तरायण की प्रतीक्षा करने लगे। **द्रोणपर्व**––विविध वीरों के युद्धों के वर्णन, अभिमन्यु की वीरता। द्रोण ने सुझाया कि अर्जुन को अन्यत्र

फँसा दिया जाय तो वे युधिष्ठिर को पकड़ सकते हैं। अर्जुन का संशप्तकों से युद्ध करने जाना, द्रोण का व्यूह-निर्माण, अभिमन्यु-वध और बाद में अर्जुन द्वारा जयद्रथ का वध। कर्ण द्वारा शक्ति से (जो अर्जुन के लिए रखी गयी थी) घटोत्कच का वध। द्रोणाचार्य द्वारा घोर युद्ध और युधिष्ठिर के यह कहने पर कि 'अश्वत्थामा मर गया', उनका शस्त्र-त्याग और धृष्टद्युम्न द्वारा वध। अश्वत्थामा का क्रोध, अर्जुन द्वारा और बाद में सात्यकि द्वारा धृष्ट-द्युम्न की निन्दा। धृष्टद्युम्न का आत्म-समर्थन, लड़ने को उद्यत। धृष्टद्युम्न तथा सात्यकि का श्री कृष्ण आदि के प्रयत्न से शान्त होना। अश्वत्थामा द्वारा नारायण अस्त्र का प्रयोग और उससे कृष्ण द्वारा पांडव-सेना तथा भीमसेन की रक्षा। **कर्णपर्व**––कर्ण का सेनापतित्व। अर्जुन द्वारा संशप्तकों का संहार। कर्ण द्वारा युधिष्ठिर की पराजय और युधिष्ठिर का पलायन। अश्वत्थामा को हराकर युधिष्ठिर का हाल जानने के लिए अर्जुन का आगमन। युधिष्ठिर के पूछने पर अर्जुन का यह कथन कि कर्ण अभी नहीं मरा। युधिष्ठिर द्वारा अर्जुन का अपमान और यह कथन कि गांडीव फेंक दो। अर्जुन का युधिष्ठिर को मार डालने को उद्यत होना, कृष्ण द्वारा धर्म-शिक्षा। अर्जुन और युधिष्ठिर का शान्त होना, दोनों का प्रसन्नतापूर्वक मिलन, अर्जुन द्वारा कर्णवध की प्रतिज्ञा। लम्बे युद्ध के बाद कर्ण का वध। युधिष्ठिर द्वारा शल्य का वध। दुर्योधन का सरोवर में प्रवेश। **गदापर्व**––दुर्योधन का सरोवर से निकलना और भीमसेन से युद्ध, भीमसेन का दुर्योधन की जाँघें तोड़ देना। बलराम का आगमन और क्रोध, दुर्योधन की दशा देखकर अश्वत्थामा का विषाद और उसका सेनापति के पद पर अभिषेक। **सौप्तिकपर्व**––अश्वत्थामा द्वारा द्रौपदी के पुत्रों तथा अन्य पांचाल वीरों का वध। अर्जुन द्वारा अश्वत्थामा को दंड, मणि देकर अश्वत्थामा का पलायन। **स्त्रीपर्व**––इसके अंतर्गत जलप्रदानिकपर्व, धृतराष्ट्र का विलाप, सञ्जय और विदुर का उन्हें सान्त्वना देना, गान्धारी का क्रोध, व्यासजी का उन्हें समझाना। **स्त्रीविलाप पर्व**––रोती पुत्रवधुओं को देखकर गान्धारी का विलाप। दूसरी स्त्रियों का विलाप। स्त्री-पुरुषों द्वारा अपने संबंधियों को जलाञ्जलि-दान। कर्ण के

लिए शोक प्रकट करते हुए युधिष्ठिर ने स्त्रियों को शाप दिया कि वे भविष्य में रहस्य का गोपन न कर सकें।

शान्तिपर्व——धर्म सम्बन्धी विमर्शों की दृष्टि से शान्तिपर्व विशेष महत्त्व-पूर्ण है। युधिष्ठिर का महर्षि नारद से कर्ण का जीवनवृत्त जानकर शोक। क्रमशः भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी का युधिष्ठिर को गृहस्थ-धर्म, राज्य, धन आदि की प्रशंसा करते हुए समझाना। श्री कृष्ण द्वारा युधि-ष्ठिर के शोक-निवारण का प्रयत्न, सोलह राजाओं के उपाख्यान, अन्य उपाख्यान। कृष्ण के आग्रह से युधिष्ठिर का भीष्म के पास जाना, भीष्म का युधिष्ठिर को राजधर्म आदि का उपदेश, आपत्तिग्रस्त राजा के कर्तव्य, धर्म की सूक्ष्मता। विविधि आख्यान। **मोक्षधर्मपर्व**——अनेक गीताएँ तथा आख्यान। तुलाधार-जाजलि संवाद। यज्ञ में हिंसा की निन्दा और अहिंसा की प्रशंसा। मोक्ष के साधनों का वर्णन। सांख्य और योग का वर्णन। जनक एवं शुकदेव आदि ऋषि-मुनियों के आख्यान।

अनुशासनपर्व——युधिष्ठिर की सान्त्वना के लिए भीष्म द्वारा अनेक कथाएँ सुनाना। लक्ष्मी के निवास करने और न करने योग्य पुरुष, स्त्री और स्थानों का वर्णन। शरीर, वाणी और मन के पापों के परित्याग का उपदेश। विविध दानों की विशेषता व महिमा, व्रत-उपवास आदि के फल। हिंसा और मांस-भक्षण की निन्दा, पार्वतीजी के द्वारा स्त्री-धर्म का वर्णन, श्री कृष्ण, ब्राह्मणों आदि का माहात्म्य। भीष्म-स्वर्गारोहणपर्व——भीष्म का प्राण-त्याग, उनकी माता गङ्गाजी का शोक।

आश्वमेधिकपर्व——युधिष्ठिर का शोक, उन्हें समझाने की चेष्टाएँ। श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन से मोक्षधर्म का वर्णन। उत्तंक की कथा। अभिमन्यु का श्राद्ध। परीक्षित् (मृत बालक) का कृष्ण द्वारा पुनरुज्जीवन। यज्ञ-प्रारंभ, अर्जुन द्वारा अश्व-रक्षा आदि। विभिन्न दानों तथा व्रतों का वर्णन।

आश्रमवासिकपर्व——धृतराष्ट्र का गान्धारी तथा कुन्ती के साथ वन-गमन। गान्धारी और कुन्ती का व्यासजी से मृत पुत्रों के दर्शन का अनुरोध।

परलोक से मृत वीरों का आगमन और दर्शन देना। धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा कुन्ती की मृत्यु।

मौसलपर्व––मौसल युद्ध में यदुवंशियों का नाश।

महाप्रस्थानिकपर्व––पाण्डवों द्वारा वृष्णि-वंशियों का श्राद्ध करके हिमालय की ओर प्रस्थान। युधिष्ठिर के अतिरिक्त सब भाइयों का पतन, युधिष्ठिर का सदेह स्वर्ग में जाना।

स्वर्गारोहणपर्व––स्वर्ग में नारद और युधिष्ठिर की बातचीत। युधिष्ठिर द्वारा नरक-दर्शन और भाइयों का क्रन्दन सुनकर नरक में रहने का निश्चय। इन्द्र और धर्म का युधिष्ठिर को सान्त्वना देना। युधिष्ठिर का दिव्य लोक में गमन और वहाँ श्री कृष्ण, अर्जुन आदि से भेंट। महाभारत का उपसंहार और माहात्म्य।

बुद्ध-चरित

[बुद्ध-चरित अश्वघोष का तथा बौद्धों का प्रसिद्ध महाकाव्य है। मूल काव्य के, जो संस्कृत में लिखा गया था, सिर्फ चौदह सर्ग उपलब्ध हो सके हैं। काव्य का उत्तरार्ध चीनी और तिब्बती अनुवादों में ही मिलता है। कुल सर्ग २८ हैं। अश्वघोष का समय ईसा की पहली शताब्दी समझना चाहिए। काव्य के सौन्दर्य-पक्ष और कला पक्ष की दृष्टि से बुद्धचरित की स्थिति वाल्मीकि की रामायण और कालिदास के रघुवंश के बीच में है।]

प्रथम सर्ग––इक्ष्वाकु-वंश में शुद्धोदन नाम के प्रातापी राजा हुए। उनकी रानी महामाया ने स्वप्न में एक श्वेत गजराज को अपने शरीर में प्रवेश करते देखा। लुम्बिनी वन में पुत्र की उत्पत्ति। उत्पन्न बालक ने भविष्य वाणी की––'जगत् के हित के लिए, ज्ञान अर्जन करने के लिए मैं जनमा हूँ।' सारा विश्व प्रसन्न हुआ। महर्षि असित का आगमन और बालक के सम्बन्ध में यह कथन कि दुःख-रूप सागर में बहते जगत् को यह ज्ञान की नौका से उबारेगा। **दूसरा सर्ग**––शुद्धोदन का राज्य अनरण्य तथा मनु के राज्यों के समान सुखकर बन गया। कुमार वन को न चले जायँ इस भय से उन्हें

सुसज्जित महल में रखा गया। **तीसरा सर्ग**—कुमार की बगीचे आदि देखने के लिए यात्रा। उन्हें देखने के लिए स्त्रियाँ संभ्रम में उठकर दौड़ीं—अध-पहने वस्त्रों व गहनों को सँभालती या छोड़ती हुई। कुमार ने एक वृद्ध को देखा, फिर एक रोगी को, फिर एक मुर्दे को। कुमार की वैराग्य-भावना। **चौथा सर्ग**—नगर-उद्यान में अपने हाव-भावों के प्रदर्शन से स्त्रियों द्वारा कुमार को मोहने का प्रयत्न। कुमार का प्रभावित न होना और वैराग्यपूर्ण चिन्तन। **पाँचवाँ सर्ग**—कुमार का वनभूमि देखने के लिए प्रस्थान, वहाँ एक श्रमण से भेंट। श्रमण का आकाश में गमन। कुमार की चिन्ता, नगर प्रवेश, भाग जाने का संकल्प। पत्नी यशोधरा तथा पुत्र को छोड़कर छंदक नामक अनुचर की मदद से घोडे पर अभिनिष्क्रमण। **छठा सर्ग**—छंदक को को समझा-बुझाकर कुमार द्वारा उसका विसर्जन। **सातवाँ सर्ग**—तपोवन-प्रवेश, कठोर तपों का विवरण, राजकुमार का चिन्तन और यह निश्चय कि शरीर-पीड़ा धर्म नहीं है; तीर्थजल से पाप नहीं कटता। **आठवाँ सर्ग**—कंथक घोड़े के साथ छंदक का लौटना, कपिलवस्तु के लोगों का विलाप। यशोधरा का विलाप। राजा का विलाप। **नवाँ सर्ग**—कुमार का अन्वेषण, कुमार का लौटने से इन्कार—'राज्य से न सुख होता है न धर्म, जलते घर से किसी प्रकार निकलकर अब मैं उसमें नहीं लौटूँगा। **दसवाँ सर्ग**—बिम्ब-सार का आगमन, कुमार से राज्य में चलने का आग्रह। **ग्यारहवाँ सर्ग**—राजकुमार का उत्तर—मैं राज्य में नहीं जा सकता, राज्य आदि सुखों की निन्दा। **बारहवाँ सर्ग**—अराड मुनि के आश्रम में गमन। अराड द्वारा अपने दर्शन का प्रदिपादन। राजकुमार का असन्तोष। उद्रक के आश्रम में गमन, उसकी शिक्षाओं से असन्तोष। कठोर तपस्या, शरीर की दुर्बलता, नन्दबला से पायस का ग्रहण। बुद्धत्व प्राप्ति के लिए पीपल के वृक्ष के नीचे साधना। **तेरहवाँ सर्ग**—मार (कामदेव) से युद्ध और उस पर विजय। **चौदहवाँ सर्ग**—बुद्धत्व-प्राप्ति। आगे के सर्गों में धर्मचक्र-प्रवर्तन और बुद्ध द्वारा अनेक शिष्यों के दीक्षित करने आदि का वर्णन है। छब्बीसवें सर्ग में बुद्ध के निर्वाण का वर्णन है और उससे आगे निर्वाण की प्रशंसा।

रघुवंश

कालिदास के रघुवंश में इक्ष्वाकु वंश के दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम आदि राजाओं के जीवनवृत्त का वर्णन है। ये सभी राजा बड़े आदर्शवादी थे, जो आदर्श शासक व मनुष्य की भारतीय धारणा को प्रकट करते हैं। **प्रथम सर्ग**—विनय प्रदर्शन के बाद कवि द्वारा रघुवंशी राजाओं के गुणों का सामान्य वर्णन। मनुवंशी दिलीप का वर्णन। दिलीप की पुत्र के लिए चिन्ता और पत्नी के साथ वसिष्ठ गुरु के आश्रम में गमन। यात्रा-वर्णन। वसिष्ठाश्रम वर्णन। वसिष्ठ द्वारा पुत्र-प्राप्ति का उपाय कथन। **दूसरा सर्ग**—दिलीप व उनकी पत्नी द्वारा नन्दिनी गाय की सेवा। नन्दिनी की रक्षा के लिए राजा अपने को सिंह के भोजनार्थ देने को तैयार हो गया। नन्दिनी की प्रसन्नता, पुत्र देने का आश्वासन। **तीसरा सर्ग**—सुदक्षिणा को गर्भ, गर्भवती रानी का वर्णन। रघु का जन्म, शिक्षा, विवाह आदि। दिलीप का यज्ञ, इन्द्र द्वारा अश्व का हरण, रघु का इन्द्र से युद्ध, रघु के पराक्रम से इन्द्र की प्रसन्नता। दिलीप द्वारा रघु को राज्यार्पण। **चौथा सर्ग**—रघु के शासन से प्रजा का सन्तोष। रघु की दिग्विजय। विश्वजित् यज्ञ का अनुष्ठान और दक्षिणा में सर्वस्वदान। **पाँचवाँ सर्ग**—गुरु-दक्षिणा के लिए वरतन्तु शिष्य कौत्स का आगमन, रघु को धनहीन देखकर उसकी निराशा। रघु द्वारा कुबेर से प्राप्त धन का कौत्स को दान। प्रसन्न कौत्स द्वारा पुत्र-प्राप्ति का वरदान। अज का जन्म। अज का इन्दुमती स्वयंवर के लिए प्रस्थान। **छठा सर्ग**—इन्दुमती का स्वयंवर में आगमन और राजाओं की विविध चेष्टाएँ। सुनन्दा द्वारा इन्दुमती के सामने विभिन्न राजाओं का परिचय व प्रशंसा। इन्दुमती द्वारा अज का वरण। **सातवाँ सर्ग**—पुर में प्रवेश करते हुए अज के दर्शन के लिए स्त्रियों का संभ्रम व त्वरा। विवाह। ईर्ष्यालु राजाओं के अवरोध में अज की विजय। **आठवाँ सर्ग**—अज की प्रजा-प्रियता। रघु की मृत्यु दशरथ का जन्म। नारद की पुष्पमाला से इन्दुमती की मृत्यु, अज का विलाप। वसिष्ठ का शान्ति-सन्देश, अज की मृत्यु। **नवाँ सर्ग**—दशरथ के शासन की प्रशंसा। दशरथ का विवाह और विहार, वसन्त-वर्णन्,

दशरथ द्वारा धोखे से मुनि-पुत्र का वध, मुनि का शाप कि आपकी मृत्यु भी पुत्र के दुःख में होगी। **दसवाँ सर्ग**—दसरथ के यहाँ पुत्रेष्टि यज्ञ का आरम्भ। रावण से त्रस्त देवताओं का विष्णु के पास जाना। विष्णु का वर्णन तथा स्तुति। विष्णु द्वारा आश्वासन कि मैं दशरथ-पुत्र के रूप में जन्म लूँगा। राम आदि का जन्म। **ग्यारहवाँ सर्ग**—विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण का प्रस्थान, ताड़का- वध। मिथिला में सीता-स्वयंवर में गमन। विवाह। दशरथ आदि का अपने नगर की ओर लौटना, मार्ग में परशुराम का आगमन और क्रोध। **बारहवाँ सर्ग**—राम का वनवास, दशरथ की मृत्यु, भरत का राम को लौटाने का प्रयत्न। राम का चित्रकूट से प्रस्थान। पंचवटीमें शूर्पणखा का आगमन,उसका विरूप होना, खरआदि का वध, सीताहरण, रावण द्वारा जटायु का वध। सुग्रीव से मित्रता, बालि-वध, हनुमान द्वारा सीता का अन्वेषण व लंकादहन, सेतु-बन्धन, युद्ध, कुम्भकर्ण, मेघनाद, रावण आदि का वध। **तेरहवाँ सर्ग**—विमान से पार आते हुए राम का समुद्र-वर्णन। अन्य स्थलों का वर्णन, जहाँ राम ने सीता की याद की थी। जनस्थान (जहाँ रावण ने सीता को हरा था), अगस्त्याश्रम, गंगा-यमुना संगम और सरयूतट का वर्णन। अयोध्या पहुँच कर भरत की प्रशंसा। **चौदहवाँ सर्ग**—राम की माताओं से भेंट, राज्याभिषेक, पुष्पक विमान का विसर्जन। सीता-परित्याग, वाल्मीकि के आश्रम में वास, राम द्वारा सीता की याद व शोक, सुवर्ण-सीता के साथ यज्ञ। **पन्द्रहवाँ सर्ग**—लवणासुर की कथा, उसे मारने के लिए शत्रुघ्न का प्रस्थान और वाल्मीकि के आश्रम में रात भर रुकना। लव-कुश का जन्म। लवण का वध। शत्रुघ्न का मथुरा नगरी में निवास। लव-कुश की शिक्षा और उनके द्वारा रामायण का गान। राम द्वारा शूद्र शम्बूक का वध। राम द्वारा यज्ञ का आरम्भ, वहाँ कुश-लव का आगमन और रामयण-गान। वाल्मीकि की राम से सीता को ग्रहण करने लिए प्रार्थना, सीता का पृथ्वी प्रवेश। लक्ष्मण, राम आदि का स्वर्गारोहण। **सोलहवाँ सर्ग**—राम-पुत्र कुश का राज्य। कुश द्वारा स्वप्न एक स्त्री (अयोध्या) का दर्शन, उसके कथन से कुशावती को छोड़कर अयोध्या में गमन। कुश का

सरयू में विहार, राम द्वारा अभिषेक काल में दिये आभरण का सरयू में लोप। नदी के अधिवासी कुमुद का प्रकट होना और उसकी कन्या से कुश का विवाह। **सत्रहवाँ सर्ग**—कुमुद्वती के अतिथि नामक पुत्र हुआ। कुश की मृत्यु के बाद अतिथि राजा हुआ। **अठारहवाँ सर्ग**—अतिथि के निषध नामक पुत्र हुआ, निषध के नल, नल के नभ, नभ के पुंडरीक, इत्यादि। अन्त में सुदर्शन हुआ। **उन्नीसवाँ सर्ग**—सुदर्शन के अग्निवर्ण पुत्र हुआ। वह बड़ा राजा हुआ। भोगी था, उसके एक भी पुत्र न हो सका और वह राजयक्ष्मा से मर गया। उसके बाद उसकी गर्भवती पत्नी राज्य को सँभालने लगी।

कुमारसंभव

कालिदास के इस दूसरे महाकाव्य में तारक असुर के मारने के लिए कुमार कार्तिकेय के जन्म की कथा है। उपलब्ध काव्य अपूर्ण है; संभवतः शुरू के आठ सर्ग ही कालिदासकृत हैं जिनमें शिव-पार्वती के विवाह और विहार की कथा है। **प्रथम सर्ग**—हिमालय का वर्णन, हिमालय का मेना से विवाह और पार्वती का जन्म। यौवन को प्राप्त होती पार्वती का वर्णन। नारद द्वारा शिव के साथ पार्वती के विवाह की चर्चा। पार्वती द्वारा शिव की सेवा। **दूसरा सर्ग**—तारक से पीड़ित देवताओं का ब्रह्मा के पास गमन और उनकी स्तुति करना, ब्रह्मा द्वारा तारक के वध का उपाय कथन—शिव के वीर्य से सेनापति का जन्म आवश्यक। **तीसरा सर्ग**—इन्द्र की आज्ञा से कामदेव का शिव के आश्रम में आगमन, वसन्त ऋतु का आविर्भाव और प्रभाव (२४–३९), शिव का समाधि-भंग पर क्रोध, कामदेव का दहन। **चौथा सर्ग**—रति का विलाप, वसन्त के आगमन पर पुनः विलाप, अदृश्य वाणी द्वारा रति को सान्त्वना। **पाँचवाँ सर्ग**—पार्वती की घोर तपस्या, बटुरूपधारी शिव का आगमन और पार्वती को बहकाने का प्रयत्न, पार्वती का क्रोधपूर्ण उत्तर और शिव की प्रसन्नता। **छठा सर्ग**—शिव के सन्देश का सप्तर्षियों द्वारा हिमवान् के पास पहुँचाया जाना, मुनियों द्वारा शिव की स्तुति, शिव का सन्देश और मुनियों का प्रस्थान, मुनियों की कार्य-सिद्धि। **सातवाँ सर्ग**—विवाह की

तैयारी, पार्वती का प्रसाधन। शिवजी का वेष-परिवर्तन, बरात का वर्णन। शिव को देखने की लालसा रखनेवाली पुर-सुन्दरियों की चेष्टाएँ, शिव-पार्वती का विवाह, विवाह के अवसर पर दोनों का लज्जा-कष्ट, दोनों में सात्त्विक भाव का उदय आदि। **आठवाँ सर्ग**——शिव-पार्वती का रति-विलास। आगे के सर्गों में, जो कालिदास के लिखे हुए नहीं माने जाते, कुमार कार्तिकेय के जन्म और उनके द्वारा तारक वध की कथा है।

किरातार्जुनीय

भारवि का एक मात्र महाकाव्य किरातार्जुनीय महाभारत के पांडवों से संबंधित एक कथानक पर आधारित है। द्यूत में हारे हुए पांडव द्वैतवन में जाकर रहने लगे। वहाँ से उन्होंने गुप्तचर को दुर्योधन का हाल-चाल लेने भेजा। **प्रथम सर्ग**——गुप्तचर या वनेचर ने युधिष्ठिर के पास आकर उन्हें बतलाया कि दुर्योधन अपने राज्य की व्यवस्था बड़े ढंग से कर रहा है। द्रौपदी ने युधिष्ठिर को समझाने की कोशिश की कि वे किसी बहाने दुर्योधन के साथ किये हुए समझौते को तोड़कर वीर भाइयों की मदद से अपना राज्य वापस ले लें——यही वीरता तथा मनुष्यता का तकाजा है। **दूसरा सर्ग**——भीमसेन ने द्रौपदी का समर्थन किया। युधिष्ठिर ने समझाया कि असंयमी व दुर्विनीत दुर्योधन बहुत दिनों तक सबको प्रसन्न नहीं रख सकेगा। व्यास का आगमन। **तीसरा सर्ग**——युधिष्ठिर और व्यास की बातचीत——'शक्ति से ही विजय मिलती है। और आपके शत्रु ज्यादा शक्तिमान् हैं, अतः अर्जुन को पाशुपत अस्त्र प्राप्त करना चाहिए।' द्रौपदी ने अर्जुन को उत्साहित किया——'तुम हमारे वियोग की चिन्ता न करना, तुम्हें दुर्योधन से मेरे अपमान का बदला और अपना राज्य लेना है।' व्यास के भेजे कुबेर के अनुचर का आगमन और उसके साथ अर्जुन का प्रस्थान। **चौथा सर्ग**——शरद ऋतु का वर्णन, अर्जुन द्वारा हिमालय का अवलोकन। **पाँचवाँ सर्ग**——हिमालय का वर्णन। अर्जुन का हिमालय की उपत्यका में पहुँचना। **छठा सर्ग**——अर्जुन की कठोर तपस्या। तप में विघ्न डालने के लिए इन्द्र की अनुमति से अप्सराओं

का प्रस्थान। **सातवाँ सर्ग**––इन्द्रकील पर्वत पर गन्धर्वों तथा अप्सराओं का आगमन और शिविर-सन्निवेश। **आठवाँ सर्ग**––गन्धर्वों और अप्सराओं का विहार, पुष्पचयन, जलक्रीड़ा आदि। **नवाँ सर्ग**––सन्ध्या तथा चन्द्रोदय का वर्णन। गन्धर्वों तथा अप्सराओं की रमण-क्रीड़ा, मद्यपान आदि का वर्णन और प्रभात वर्णन। **दसवाँ सर्ग**––अर्जुन को आकृष्ट करने के लिए अप्सराओं द्वारा विविध हावभावों तथा विलासों का प्रदर्शन, ऋतु वर्णन, अर्जुन की तपस्या भंग करने में अप्सराओं की असफलता। **ग्यारहवाँ सर्ग**––मुनि के वेष में इन्द्र का अर्जुन के पास आगमन, इन्द्र ने अर्जुन को शिव के आराधन का उपाय बतलाया। **बारहवाँ सर्ग**––अर्जुन द्वारा शिव की आराधना; मूक नामक दानव शूकर का रूप धारण करके अर्जुन के पास आया, किरात-वेषी शिव का अर्जुन के आश्रम में आगमन। **तेरहवाँ सर्ग**––शूकर को देखकर अर्जुन के मन में सन्देह हुआ और उसने उस पर बाण चलाये। मूक दानव का वध। अर्जुन से शिव के अनुचर ने कहा कि शूकर का वध तुम्हार बाणों से नहीं हुआ, उसको मारनेवाले मेरे स्वामी हैं। **चौदहवाँ सर्ग**––किरात वेषधारी शिव का आगमन, शिव और अर्जुन का युद्ध। **पन्द्रहवाँ सर्ग** शिव और अर्जुन का रणकौशल, सबका विस्मय। **सोलहवाँ सर्ग**––शिव के युद्धकौशल को देखकर अर्जुन का सन्देह और मन में तरह-तरह के वितर्क। अर्जुन का शिव की सेना से और फिर शिव से संग्राम। **अठारहवाँ सर्ग**––अर्जुन के युद्ध-कौशल से प्रसन्न होकर शिव ने उन्हें पाशुपत अस्त्र दिया, शिव के आदेश से दूसरे देवताओं ने भी उन्हें वरदान तथा अपने-अपने अस्त्र दिये। सफल-काम होकर अर्जुन युधिष्ठिर के पास लौटे और उन्हें प्रणाम किया।

शिशुपालवध

महाकवि माघ का एक मात्र महाकाव्य शिशुपालवध भी महाभारत के एक प्रसंग पर आधारित है। प्रसंग है––युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर भगवान् कृष्ण द्वारा शिशुपाल का वध। **प्रथम सर्ग**––तेजस्वी नारद आकाश से क्रमशः उतरकर कृष्ण के ऐश्वर्य सम्पन्न भवन में उनके

सम्मुख उपस्थित हुए, उन्होंने बतलाया कि किस प्रकार शिशुपाल के अत्याचारों से विश्व संत्रस्त है। उन्होंने कृष्ण से प्रार्थना की कि वे शिशुपाल का वध करें। **दूसरा सर्ग**--इसी समय राजसूय यज्ञ करने की इच्छावाले युधिष्ठिर ने कृष्ण आदि को बुलाया था। प्रश्न उठा, पहले शिशुपाल का वध किया जाय अथवा यज्ञ में सहयोग दिया जाय? बलराम ने जोश के साथ शिशुपाल के विरुद्ध कूच करने का परामर्श दिया। किन्तु उद्धव ने सलाह दी कि पहले युधिष्ठिर के यहाँ जाना चाहिए; एकाएक शिशुपाल पर धावा बोलना घटिया नीति होगी। कृष्ण ने उद्धव की बात मान ली। **तीसरा सर्ग**--कृष्ण ने सेना के साथ इन्द्रप्रस्थ को प्रस्थान किया। द्वारका से उनके प्रस्थान का वर्णन, द्वारका और समुद्र का वर्णन। **चौथा सर्ग**--कृष्ण रैवतक पर्वत पर पहुँचे, रैवतक पर्वत का वर्णन। **पाँचवाँ सर्ग**--कृष्ण का रैवतक पर्वत पर रमण करने के लिए ठहरने का निश्चय। शिविर-सन्निवेश के सिलसिले में घोड़ों, यानों से उतरती हुई स्त्रियों आदि का वर्णन। **छठा सर्ग**--कृष्ण की सेवा के लिए छहों ऋतुएँ आ उपस्थित हुईं; वसन्त, वर्षा आदि का वर्णन। **सातवाँ सर्ग**--वन-विहार-लीला, स्त्रियों द्वारा पुष्प-चयन आदि। **आठवाँ सर्ग**--जलक्रीड़ा का वर्णन। **नवाँ सर्ग**--सायं काल, चन्द्रोदय और स्त्रियों के प्रसाधन (शृंगार) का वर्णन, सुर्यास्त-वर्णन, चन्द्रोदय-वर्णन, प्रसाधन, दूतीप्रेषण, आदि। **दसवाँ सर्ग**--पानगोष्ठी-वर्णन, रात्रि-क्रीड़ा-वर्णन। **ग्यारहवाँ सर्ग**--रात्रि का अन्त, प्रभात का वर्णन। **बारहवाँ सर्ग**-पुनः कृष्ण के प्रयाण का वर्णन, यमुना-वर्णन। **तेरहवाँ सर्ग**--श्री कृष्ण तथा पांडवों के समागम का वर्णन। कृष्ण का इन्द्रप्रस्थ नगर में प्रवेश। युधिष्ठिर के सभागृह का वर्णन। **चौदहवाँ सर्ग**--राजसूय यज्ञ का प्रारम्भ। कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को आश्वासन कि वे विघ्नकारियों का विनाश करेंगे। यज्ञ का वर्णन। युधिष्ठिर के पूछने पर कि अर्घदान किसे किया जाय, भीष्म का यह प्रस्ताव कि कृष्ण ही इसके योग्य हैं। भीष्मकृत कृष्ण की प्रशंसा व स्तुति, पिछले अवतारों का संकेत। कृष्ण को अर्घदान। **पन्द्रहवाँ सर्ग**--शिशुपाल का क्षोभ व क्रोधपूर्ण वाक्य। भीष्म की चुनौती,

शिशुपाल-पक्ष के राजाओं का क्षोभ, उनकी क्रुद्ध मुखच्छवियों का वर्णन। शिशुपाल द्वारा सेना का सन्नाह--युद्ध के लिए तैयार करना। शिशुपालपक्ष के योद्धाओं तथा उनकी पत्नियों की चेष्टाओं का वर्णन। **सोलहवाँ सर्ग--** शिशुपाल के दूत का कृष्ण की सभा में श्लेषगर्भ (दो अर्थवाला) वक्तव्य, जिसमें कृष्ण की निन्दा और स्तुति दोनों ही थीं, कृष्ण की ओर से सात्यकि का उत्तर, पुनः शिशुपाल के दूत का वक्तव्य, उसके द्वारा शिशुपाल के पराक्रम का वर्णन। **सत्रहवाँ सर्ग--**श्रीकृष्ण-पक्ष के वीरों का क्षोभ, उनकी मुखमुद्राओं का विस्तृत वर्णन, कृष्ण का और उनकी सेना का युद्ध के लिए तैयार होना, सेना का प्रस्थान। **अठारहवाँ सर्ग--**दोनों सेनाओं का समागम और भयंकर युद्ध। **उन्नीसवाँ सर्ग--**द्वन्द्व युद्ध का वर्णन; चित्रबन्धवाले श्लोक--जैसे एकाक्षरपाद, सर्वतोभद्र, मुरजबंध आदि। **बीसवाँ सर्ग--**श्री कृष्ण और शिशुपाल का अस्त्र-युद्ध तथा शिशुपाल का वध। कविवंश-वर्णन।

नैषधीयचरित

प्रथम सर्ग--राजा नल अत्यन्त सुन्दर, विद्यावान् और प्रतापी था। संसार में कोई ऐसी स्त्री न थी जो उसे देखकर मोहित न हो जाय। राजा भीम की पुत्री दमयन्ती बचपन से ही नल के बारे में सुनते-सुनते उसमें अनुरक्त हो गयी थी। नल भी उसमें अनुरक्त था और उसके पीछे व्याकुल था। उपवन में नल द्वारा हंस-ग्रहण। हंस की शिकायत पर नल ने उसे छोड़ दिया। **दूसरा सर्ग--**हंस पुनः नल के हाथ में आ गया, उसने नल से दमयन्ती के सौन्दर्य का वर्णन किया और कहा--'आप और वह एक दूसरे के योग्य हैं।' नल द्वारा हंस से सहाय-याचना। दमयन्ती को नल में अनुरक्त बना देने का वचन देकर हंस कुंडिनपुरी गया। कुंडिनपुरी का वर्णन। भैमी द्वारा हंस-दर्शन। **तीसरा सर्ग--**भैमी का हंस को पकड़ने का प्रयत्न, हंस द्वारा नल की उदारता, शोभा, समृद्धि आदि का वर्णन। हंस द्वारा भैमी को नलप्राप्ति का आश्वासन। हंस का नल की राजधानी को गमन। हंस और नल की बातचीत। **चौथा सर्ग--**हंस के जाने के बाद भैमी का

सन्ताप, चिन्ता, शंका और विरह कष्ट, सखी से बातचीत, मूर्च्छा और सखियों की परिचर्या से चेतना लाभ। सखियों द्वारा राजा भीम से स्वयंवर की बातचीत। **पाँचवाँ सर्ग**––नारद ने इन्द्र को दमयन्ती के स्वयंवर की सूचना दी और उसके सौन्दर्य का वर्णन किया। इन्द्र ने भैमी से विवाह करने की उत्सुकता प्रकट की, जिससे अप्सराओं को चिन्ता हुई। वरुण, अग्नि और यम के साथ इन्द्र ने नल से प्रार्थना की कि वह उन सबका दूत बनकर दमयन्ती के पास जाय। अनिच्छा होते हुए भी नल ने स्वीकार कर लिया। **छठा सर्ग**––देवताओं के प्रभाव से अदृष्ट नल का कुंडिनपुरी में प्रवेश। नल के सामने दूती ने दमयन्ती को इन्द्र का सन्देश सुनाया। भैमी ने कहा––मैं पहले ही मन में नल का वरण कर चुकी हूँ। **सातवाँ सर्ग**––भैमी के उत्तर से नल की प्रसन्नता व अनुराग-वृद्धि। नल ने भैमी का लोकोत्तर सौन्दर्य देखा––भैमी के विभिन्न अवयवों का वर्णन। **आठवाँ सर्ग**––नल द्वारा आत्म-प्रकाशन, दोनों का संभाषण, भैमी द्वारा नल के सौन्दर्य का वर्णन, नल का आनन्द। नल द्वारा इन्द्र आदि का सन्देश कथन; इन्द्र, अग्नि, यम आदि की विरह-व्यथा का वर्णन। **नवाँ सर्ग**––नल ने कहा, 'दिव्य पतियों में से किसी एक का वरण कर मेरा श्रम सफल करो।' सखी-मुख से भैमी का निषेध। नल ने समझाया––देवताओं के विरुद्ध होने पर मनुष्य का वरण न उचित है न सम्भव, तुम आत्मघात भी नहीं कर सकतीं––अपने को जलाने का अर्थ होगा अग्नि को समर्पण। देवता क्रुद्ध हुए तो स्वयंवर भी विफल हो जायगा। सुनकर भैमी रोने लगी। नल का उन्माद और प्रलाप। नल का पश्चात्ताप। सखी-मुख से भैमी द्वारा नल की प्रशंसा। **दसवाँ सर्ग**––स्वयंवर का उपक्रम। राजाओं तथा देवताओं की नल के प्रति ईर्ष्या। स्वयंवर-सभा की शोभा का वर्णन। बाला के रूप में सरस्वती का आगमन, भैमी के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन। इन्द्र आदि के द्वारा नल की आकृति का ग्रहण। **ग्यारहवाँ सर्ग**––भारती (सरस्वती) द्वारा वासुकि नाग, सप्त-द्वीपों के राजा, शाकद्वीप के अधिपति आदि राजाओं का वर्णन। **बारहवाँ सर्ग**––दूसरे राजाओं का वर्णन। अन्त में पाँच नलों के पास पहुँचना। **तेरहवाँ सर्ग**––भारती द्वारा श्लेषगर्भित

भाषा में क्रमशः नल, इन्द्र आदि का वर्णन, भैमी का भ्रम तथा परेशानी। हंस का स्मरण, देवताओं का उपालंभ। **चौदहवाँ सर्ग**——वास्तविक नल की प्राप्ति के लिए भैमी द्वारा देवताओं की स्तुति व प्रार्थना। देवताओं द्वारा वास्तविक नल का ज्ञापन। भैमी द्वारा नल का वरण। दूसरे राजाओं का क्रोध। देवताओं द्वारा दंपती को वर-प्रदान। वर के आगमन के लिए नगर के मार्गों का सजाना, भैमी का शृंगार। सुसज्जित वर की यात्रा देखने के लिए पुर-सुन्दरियों का संभ्रम। **सोलहवाँ सर्ग**——नल-दमयन्ती का विवाह और नल का अपने देश की ओर प्रस्थान। **सत्रहवाँ सर्ग**——देवताओं का विमानों में प्रस्थान, सम्मुख कलियुग-सेना का आगमन; शरीरधारी क्रोध, लोभ, मोह आदि का वर्णन। देवताओं द्वारा कलियुग की सेना में बौद्ध, चार्वाक आदि के अभिमत सिद्धान्तों का श्रवण, आत्मवाद, देवपूजा आदि का उपहास। स्मृति-पुराणों, देव, द्विज, गोसेवा आदि की निन्दा। ईश्वरवादी नैयायिक का खण्डन। वैदिक विधि-निषेधों का उपहास। यह सब सुनकर इन्द्र का क्रोध। वेद, स्वर्ग-नरक, परलोक आदि का समर्थन। कलियुग का भ्रमवश भैमी-स्वयंवर के लिए प्रयाण। कलि द्वारा देवताओं का उपालम्भ और यह प्रतिज्ञा कि नल को राज्य-भ्रष्ट तथा दमयन्ती से वियुक्त करूँगा। कलि का निषध राज्य में प्रवेश और लोगों को धर्मनिष्ठ पाकर वहाँ से पलायन तथा उद्यान में प्रवेश। **अठारहवाँ सर्ग**——नल-दमयन्ती का विहार, परस्पर अनुराग व सम्भोग। **उन्नीसवाँ सर्ग**——प्रभात में वैतालिकों द्वारा नल का प्रबोधन। सूर्योदय व चन्द्रास्त-वर्णन, । **बीसवाँ सर्ग**——भैमी तथा नल की बातचीत। नल और भैमी की सखी की बातचीत। नल द्वारा क्षमायाचना। **इक्कीसवाँ सर्ग**——नल का स्नान आदि तथा शिव, विष्णु आदि की पूजा। वराह, वामन, राम, कृष्ण आदि अवतारों की स्तुति। नल-भैमी का भोजन तथा गन्धर्वराज की कन्या द्वारा मनोविनोद। **बाईसवाँ सर्ग**——सन्ध्याकाल, रात्रि का आगमन, वैशेषिक आदि के अनुसार अन्धकार के स्वरूप का वर्णन। चन्द्रोदय तथा भैमी के सौन्दर्य का वर्णन। आशीर्वचन।

अनुक्रमणिका